To aid your studies during lockdown.

Contributed by :-

Amrit, Anjali, Ankit, Prerna, Rishabh, Swati, Tripti, Yamshi

A & U Tibbia College,
New Delhi

विषय-सूची

प्रथम अध्याय : आयुर्वेद परिचय (विषय प्रवेश) 1-9

1. आयुर्वेद का प्रयोजन 2
2. आयुर्वेद का इतिहास 2
3. आयु : लक्षण 2
4. आयु के भेद 3
5. आयु के पर्याय 3
6. अष्टांग आयुर्वेद 4
7. अष्टांग आयुर्वेद में काय-चिकित्सा सर्वोपरि 8

द्वितीय अध्याय : दोष धातु मल-प्राकृत वैकृत अवस्था 10-58

1. दोष विवेचन-निरुक्ति, व्युत्पत्ति, गुण, कर्म, भेद 11
2. दूष्य विवेचन-निरुक्ति, व्युत्पत्ति, गुण, कर्म, भेद 34
3. मल विवेचन 35
4. दोष धातु मल-क्षय-वृद्धि : कारण, लक्षण, व चिकित्सा 37
5. धातु प्रदोषज विकार : चिकित्सा सूत्र 50
6. दोष दूष्य सम्मूर्च्छना : प्रकार एवं चिकित्सा सूत्र 52
7. दोषों का स्थानान्तर गमन व चिकित्सा सूत्र 53
8. दोषों की विविध गतियाँ 54

तृतीय अध्याय : ओज विवेचन 59-64

1. ओज : परिभाषा, प्रकार, स्थान व गुण 59
2. ओज क्षय वृद्धि के लक्षण एवं कारण 60
3. ओज विकृति भेद 62
4. ओज क्षय की चिकित्सा 63
5. ओज क्षय जन्य व्याधियाँ 64
6. ओज : व्याधिक्षमत्व 64

चतुर्थ अध्याय : स्रोतस् विवेचन 65-75

1. स्रोतस : परिचय एवं प्रकार 65
2. स्रोतो दुष्टि : निदान, लक्षण व चिकित्सा 67
3. स्रोतस का व्याधि चिकित्सा में महत्व 75

पंचम अध्याय : काय चिकित्सा विवेचन 76-153

1. 'काय'-निरुक्ति, व्युत्पत्ति, पर्याय, अर्थ 76
2. काय के भेद - मत, वाद, प्रकृति के अनुसार 78
3. चिकित्सा : निरुक्ति, व्युत्पत्ति, परिभाषा, पर्याय एवं भेद 85
4. चिकित्सा में प्रयुक्त चिकित्सक के कर्तव्य 100
5. चिकित्सा में ध्यान देने योग्य सूत्र 101
6. श्रेष्ठ चिकित्सा 102
7. चिकित्सा से लाभ 102
8. चिकित्सा क्रम विवेचन 103
9. उपक्रम : द्विविध एवं षड्विध 103
10. चिकित्सा में दोष, दूष्य, देश, काल, बल, अग्नि एवं प्रकृति का सूक्ष्म विचार 129
11. चिकित्सक पुरुष : परिभाषा, भेद 133
12. आधुनिक मत से चिकित्सक पुरुष 135
13. अचिकित्सक पुरुष 135
14. काय चिकित्सा : अर्थ, परिभाषा, कार्य क्षेत्र एवं घटक 135
15. आयुर्वेदीय काय चिकित्सा का चिकित्सा जगत में योगदान 148

षष्ठम अध्याय : व्याधि विवेचन 158-198

1. व्याधि : निरुक्ति, व्युत्पत्ति, परिभाषा, पर्याय एवं भेद 154
2. अन्य व्याधि भेद-इंद्रियाश्रित रोग, विसर्पकर रोग, महागदाख्य रोग 191
3. व्याधि संकर्य 193
4. व्याधि हेतु, प्रत्यात्म लक्षण 193
5. व्याधि नामकरण सिद्धांत 194
6. सशारीर एवं मानसिक विकार एवं चिकित्सा सूत्र 196
7. व्याधुत्पत्ति में दोषों की कारणता एवं संबंध 197

सप्तम अध्याय : निदान पंचक विवेचन 199-200

1. मैथिक एवं लौकिक व्याधि हेतु 199

Scanned with CamScanner

2. सांक्रमिक व्याधि हेतु : चयन, लक्षण, प्रकार 200
3. जीवाणुओं का निदान में समावेश 209
4. निदान के कार्य 210
5. दोष प्रकोपक हेतु 211
6. पूर्वरूप, रूप एवं उपशय 217

अष्टम अध्याय : सम्प्राप्ति विवेचन 221-225

1. सम्प्राप्ति : परिचय 221
2. सम्प्राप्ति भेद 222

नवम अध्याय : क्रियाकाल विवेचन 226-238

1. क्रिया काल परिचय 226
2. सूक्ष्मजैव काल 227
3. क्रियाकाल का महत्व 234
4. क्रियाकाल व चिकित्सा 236
5. दोष-व्याधि-उपशय आधारित चिकित्सा 236

दशम अध्याय : रोग-रोगी परीक्षा 239-250

1. रोग परीक्षा - निदान पंचक 239
2. रोगी परीक्षा - विविध परीक्षायें 241

एकादश अध्याय : आम दोष विवेचन 251-267

1. अजीर्ण 251
2. आम : परिचय 253
3. आम-निदान विवेचन - लक्षण 258
4. आमदोष चिकित्सा सूत्र, चिकित्सा व योग 264

द्वादश अध्याय : आवरण विवेचन 268-281

1. आवरण : परिभाषा, भेद व महत्व 268
2. आवरण प्रकार 271
3. विभिन्न आवरण, कारण व लक्षण 272
4. आवरण चिकित्सा सूत्र व चिकित्सा 278

त्रयोदश अध्याय : उपद्रव व अरिष्ट विवेचन 282-293

1. उपद्रव : परिचय 282
2. विभिन्न रोगों के उपद्रव 283
3. अरिष्ट : परिचय 284
4. अरिष्ट लक्षण व प्रकार 284
5. विभिन्न रोगों के अरिष्ट 286

चतुर्दश अध्याय : चिकित्सा में सहायक अंग 294-332

1. व्याधि क्षमत्व : परिचय प्रकार व ह्रास के कारण व वर्धक उपाय 294
2. रसायनिक बल : प्रकार 296
3. विकार अनुबंधिकर या अवगाढ़ कारक प्रतिषेध (संसृष्ट, समसृष्ट, रसशेष) 300
4. विकार उपशय चिकित्सा 305
5. औषध सेवन संबंधी विधि 306
6. अनुपान विवेचन 311
7. पथ्य-परिभाषा व महत्व, प्रकार 313
8. विभिन्न रोगों में पथ्य 317
9. अपथ्य-वैरोधिक आहार 318
10. आयुर्वेदिक आयुर्वेदिक औषधि 321
11. आदर्श आतुर सूत्र वाक्य 322

पंचदश अध्याय : विभिन्न चिकित्सा पद्धतियाँ 333-393

1. योग चिकित्सा (Yoga Therapy) 334
2. प्राकृतिक चिकित्सा (Naturopathy) 358
3. यूनानी चिकित्सा (Unani Cikitsa) 368
4. सिद्ध चिकित्सा (Siddha Chikitsa) 378
5. होम्योपैथी (Homeopathy) 382
6. ऐलोपैथी (Allopathy) 383
7. रेकी चिकित्सा (Reiki Therapy) 385
8. चुम्बकीय चिकित्सा (Magnetic Therapy) 386
9. रंग चिकित्सा (Colour Therapy) 386

Scanned with CamScanner

10. संगीत चिकित्सा (Music Therapy) 387
11. सुगंध चिकित्सा (Aroma Therapy) 388
12. एक्यूप्रेशर एवं एक्यूपंक्चर (Accupressure & Accupuncture) 388
13. हास्य चिकित्सा (Laughing Therapy) 391
14. प्राणिक चिकित्सा (Pranic Therapy) 391
15. ताली चिकित्सा (Clapping Therapy) 392
16. सम्मोहन चिकित्सा (Hypnotism Therapy) 392
17. बायोकेमिक चिकित्सा (Biochemic Therapy) 393

संदर्भ ग्रन्थ सूची 394-395

संकेताक्षर(Abbreviations)

अ.स.सू.	-	अष्टाङ्ग संग्रह सूत्र स्थान
अ.स.शा.	-	अष्टाङ्ग संग्रह शारीर स्थान
अ.स.नि.	-	अष्टाङ्ग संग्रह निदान स्थान
अ.स.चि.	-	अष्टाङ्ग संग्रह चिकित्सा स्थान
अ.स.क.	-	अष्टाङ्ग संग्रह कल्प स्थान
अ.स.उ.	-	अष्टाङ्ग संग्रह उत्तर स्थान
अ.ह.सू.	-	अष्टाङ्ग हृदय सूत्र स्थान
अ.ह.शा.	-	अष्टाङ्ग हृदय शारीर स्थान
अ.ह.नि.	-	अष्टाङ्ग हृदय निदान स्थान
अ.ह.चि.	-	अष्टाङ्ग हृदय चिकित्सा स्थान
अ.ह.क.	-	अष्टाङ्ग हृदय कल्प स्थान
अ.ह.उ.	-	अष्टाङ्ग हृदय उत्तर स्थान
का.स.सू.	-	काश्यप संहिता सूत्र स्थान
का.स.चि.	-	काश्यप संहिता चिकित्सा स्थान
का.स.सि.	-	काश्यप संहिता सिद्धि स्थान
गीता	-	श्रीमद्भगवद्गीता
च.सू.	-	चरक संहिता सूत्र स्थान
च.नि.	-	चरक संहिता निदान स्थान
च.चि.	-	चरक संहिता चिकित्सा स्थान
च.वि.	-	चरक संहिता विमान स्थान
च.सि.	-	चरक संहिता सिद्धि स्थान
च.शा.	-	चरक संहिता शारीर स्थान
च.इ.	-	चरक संहिता इन्द्रिय स्थान

Scanned with CamScanner

च.स.क.	-	चरक संहिता कल्प स्थान
च.द.	-	चक्रदत्त
पा.यो.	-	पातञ्जल योग सूत्र
भे.स.	-	भेल संहिता
भै.र.	-	भैषज्य रत्नावली
भा.प्र.	-	भाव प्रकाश
मा.नि.	-	माधव निदान
यो.र.	-	योग रत्नाकर
वै.जी.	-	वैद्य जीवनम्
शा.स.पू.ख.	-	शार्ङ्गधर संहिता पूर्व खण्ड
शा.स.म.ख.	-	शार्ङ्गधर संहिता मध्यम खण्ड
शा.स.उ.ख.	-	शार्ङ्गधर संहिता उत्तर खण्ड
सु.सू.	-	सुश्रुत संहिता सूत्र स्थान
सु.नि.	-	सुश्रुत संहिता निदान स्थान
सु.शा.	-	सुश्रुत संहिता शारीर स्थान
सु.चि.	-	सुश्रुत संहिता चिकित्सा तन्त्र
सु.उ.त.	-	सुश्रुत संहिता उत्तर तन्त्र
ह.स.	-	हारीत संहिता
ह.प्र.	-	हठ योग प्रदीपिका

प्रथम अध्याय

आयुर्वेद परिचय

"न जन्तु कश्चिदमरः पृथिव्यामेव जायते।
अतो मृत्युरवार्यः स्यात्किन्तु रोगो निवार्यते॥"

(शा.स.पू.ख.5/53)

अर्थात् संसार में कोई भी जीव अमर नहीं है, एवं मृत्यु का निवारण संभव नहीं है परंतु आयुष्मान् जीव में चिकित्सा के द्वारा रोगों का निवारण किया जा सकता है।

वस्तुतः प्राणियों में विभिन्न प्रकार के रोगों की उत्पत्ति आदि काल से होती आ रही है एवं रोग निवारण के लिए चिकित्सक भी निरंतर प्रयत्नशील हैं। उत्तम स्वास्थ्य की बहुआयामी अवधारणा आयुर्वेदीय चिकित्सा विज्ञान में प्रस्तुत की गई है जो अत्यन्त ही व्यापक है। आयुर्वेदीय चिकित्सा के द्वारा भिषक् (चिकित्सक) का उद्देश्य न केवल चिकित्सा द्वारा रोगी को रोग मुक्त करना होता है, अपितु मनुष्य को पूर्ण स्वास्थ्य लाभ का अवसर प्रदान करना भी चिकित्सक का कर्तव्य है।

वेद एवं आयुर्वेद

इस लोक में उपलब्ध ग्रंथों में सबसे श्रेष्ठ व प्राचीन ग्रंथ 'वेद' हैं जो संख्या में चार हैं-

1. ऋग्वेद
2. यजुर्वेद
3. सामवेद
4. अथर्ववेद

इनमें से ऋग्वेद व अथर्ववेद में आयुर्वेद विषयक ज्ञान प्रचुरता से प्राप्त होता है। वेद मंत्रों में भी आरोग्य की कामना की गई है। आयुर्वेद अनादि व शाश्वत है। इसे अथर्ववेद का 'उपांग' या 'पंचम वेद' भी कहा गया है[1] क्योंकि आयुर्वेद आयु का विज्ञान[2] व आयु का पुण्यतम वेद है[3]।

1. इह खल्वायुर्वेदं नामोपाङ्गमथर्ववेदस्य। (सु.सू. 1/6)
2. तदायुर्वेदयतीत्यायुर्वेदः। (च.सू. 30/23)
3. तस्यायुषः पुण्यतमो वेदो वेद विदांमतः। (च.सू. 1/43)

Scanned with CamScanner

आयुर्वेद का इतिहास

प्राचीन काल में धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष (पुरुषार्थ चतुष्टय) की प्राप्ति व आरोग्य जीवन की कामना से महर्षि भारद्वाज ने भगवान इन्द्र से आयुर्वेद का ज्ञान प्रदान करने हेतु प्रार्थना की[1]। प्राणिमात्र के दुःखों को दूर करने व उन्हें आरोग्य लाभ प्रदान करने के उद्देश्य से महर्षि भारद्वाज ने भगवान इंद्र से इस शाश्वत आयुर्वेद के ज्ञान को ग्रहण किया।

आदि गुरु ब्रह्मा ने एक लाख श्लोक में अष्टाङ्ग आयुर्वेद की रचना कर उसका उपदेश दक्ष प्रजापति को दिया। दक्ष प्रजापति से अश्विनी कुमारों ने तथा अश्विनी कुमारों से भगवान इंद्र ने आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया। महर्षि भारद्वाज ने इंद्र से आयुर्वेद का ज्ञान ग्रहण कर मृत्यु लोक में अपने शिष्यों चरक, सुश्रुत एवं काश्यपादि को प्रदान किया। इस प्रकार आयुर्वेद के ज्ञान उपदेश की परम्परा का निर्बाध रूप से आज तक आचार्यों द्वारा निर्बाध रूप से चल रहा है।

आयुर्वेद का प्रयोजन

आचार्य चरक ने आयुर्वेद के मुख्य दो प्रयोजन बताए हैं[2]-

1. स्वस्थ मनुष्य के स्वास्थ्य को बनाये रखना।
2. रोगी पुरुष के रोग का निवारण करना।

आचार्य सुश्रुत ने भी आयुर्वेद के यही दो प्रयोजन बताये हैं, परंतु उन्होंने प्रथम रोग से ग्रस्त रोगी के रोग मुक्ति तथा द्वितीय, स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा करने का प्रयोजन बताया है[3]। इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति हेतु आचार्य सुश्रुत ने प्रथम रोगों की चिकित्सा का वर्णन पश्चात् उत्तर तंत्र में स्वास्थ्य संरक्षण के लिए रसायन-वाजीकरण का वर्णन किया है।

आचार्य चरक एवं वाग्भट्ट ने प्रथम स्वस्थ पुरुष के स्वास्थ्य संरक्षण के उद्देश्य से रसायन एवं वाजीकरण का उल्लेख चिकित्सा से पहले किया है। चरक संहिता का प्रथम अध्याय 'दीर्घञ्जीवितीय अध्याय'[4] व अष्टाङ्ग हृदय का प्रथम अध्याय 'आयुष्कामीयाध्याय'[5] के रूप में वर्णित किया गया है जो दीर्घ जीवन की कामना के उद्देश्य से किया है।

आयु : लक्षण

शरीर, इंद्रिय, मन, एवं आत्मा के संयोग को आयु कहते हैं[6]। यहाँ इंद्रिय शब्द से बाह्येन्द्रिय व आध्यात्मेन्द्रिय दोनों का ही ग्रहण किया जाता है।

1. धर्मार्थकाममोक्षाणामायुर्मूलमनुत्तमम्।
2. प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनं च। (च.सू. 1/15)
3. इह खल्वायुर्वेदं प्रयोजनं-स्वस्थस्योर्जस्करं व्याधिपरिमोक्षश्च स्वास्थ्यरक्षणार्थं च। (च.सू. 30/26)
4. अथातो दीर्घञ्जीवितीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। (सु.सू. 1/22)
5. अथातः आयुष्कामीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। (च.सू. 1/1)
6. शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगो धारि जीवितम्। (अ.हृ.सू. 1/1)
(च.सू. 1/42)

धारण शक्ति, पालक प्रक्रिया, मन के कार्यों को गति देना, प्रेरणा, धारणा, इंद्रिय संचार, स्पर्श में मन का अन्यत्र गमन, एक आँख से दृश्यमान विषय को दूसरे द्वारा ग्रहण करना, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, प्रयत्न, चेतना, धृति, बुद्धि, स्मृति एवं अहंकार, ये आत्मा के लक्षण हैं जो जीवित होने पर सभी प्राणियों में पाये जाते हैं एवं यही आयु के लक्षण बताए गए हैं[1]।

आयु के पर्याय

धारि, जीवित, नित्यग, अनुबंध एवं चेतना शक्ति युक्त, ये आयु के पर्याय हैं[2]।

धारि-जो शरीर को सड़ने नहीं देता अर्थात् शरीर को धारण करता है।

जीवित-जो प्राणों को धारण करता है।

नित्यग-जो सर्वदा प्रति क्षण चलता रहता है। शरीर में नित्य नये नये परिवर्तन होते हैं एवं आयु नित्य चलती रहती है। ये परिवर्तन इतने सूक्ष्म होते हैं कि दृष्टिगोचर नहीं होते हैं। यह जीवन या आयु का नित्यग होने का संकेत है।

अनुबंध-आयु का संबंध पर एवं अपर शरीर से या प्राण से सदा बना रहता है। एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को धारण करना ही अनुबंध है।

आयु के भेद

आचार्य चरक ने सूत्र स्थान के प्रथम अध्याय में आयु के चार भेद बतलाये हैं-

1. हित आयु 2. अहित आयु 3. सुखायु 4. दुःखायु

इन चार प्रकार की आयु के लिए हित (पथ्य), अहित (अपथ्य), इसका मान (प्रमाण) एवं आयुर्वेद का स्वरूप जिस शास्त्र में बताया गया है उसे ही 'आयुर्वेद' कहा जाता है[3]।

1. हित आयु के लक्षण-प्राणियों को भरपूर चाहने वाले, पर धन की इच्छा न रखने वाले, सत्यवादी, शांतिप्रेमी, विचारशील, सदाचार रहनेवाले, धर्म, अर्थ, काम इन तीनों को समय पर करने वाले, वृद्धों की पूजा करनेवाले, क्षमाशील, शांतिशील, वृद्धों की सेवा करने वाले, राग, ईर्ष्या, मद, मानादि वेगों को धारण करने वाले, आध्यात्म एवं विद्या को जाननेवाले स्मरण शक्ति युक्त पुरुषों को आयु 'हितायु' कहलाती है[4]।

1. प्राणाभिसंधिसंबद्धा यौवनं ..... स्मृतिः स्वलक्षणविशेषाश्च शरीरायुर्गुणेष्विह। (च.सू. 1/42)
2. धारीत्यनुबन्धस्यायुषोऽभिसंधिसंबद्धो जीवितस्य।
नित्यगस्यानुबन्धस्य पर्यायैरायुरुच्यते॥ (च.सू. 1/41)
3. हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्।
मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते॥ (च.सू. 30/24)
4. हितैषिणः पुरुषस्य .... अहितपथे विपर्ययेण॥

2. अहितायु के लक्षण-हित आयु के विपरीत पुरुषों की आयु 'अहितायु' कहलाती है।

3. सुखायु के लक्षण[1]-जो मनुष्य शारीरिक या मानसिक रोगों से आक्रांत नहीं हैं, विशेष बल युक्त हैं, कार्य करने में समर्थ हैं, बल, वीर्य, धैर्य, यश, पुरुषार्थ एवं पराक्रमशील हैं, ज्ञान, विज्ञान एवं इन्द्रिय बल से युक्त व अति सम्पत्तिवान् हैं, जिसके सभी इच्छित कर्म पूरे हो जाते हैं, जो अपनी इच्छानुसार भ्रमण करने वाला है, ऐसे पुरुष की आयु 'सुखायु' कही जाती है।

4. दुःखायु के लक्षण-सुखायु से भिन्न मनुष्यों की आयु को दुःखायु कहते हैं।

अष्टाङ्ग आयुर्वेद[2]

आयुर्वेद के मुख्य प्रयोजनों की पूर्ति के उद्देश्य से ब्रह्मा जी ने अष्टाङ्ग आयुर्वेद का उपदेश किया था जो निम्न प्रकार है-

1. आचार्य चरक मतानुसार[3]
1. काय चिकित्सा
2. शालाक्य
3. शल्यापहर्तृक
4. विषगर वैरोधिक प्रशमन
5. भूतविद्या
6. कौमारभृत्य
7. रसायन
8. वाजीकरण

2. आचार्य सुश्रुत मतानुसार[4]
1. शल्य तंत्र
2. शालाक्य तंत्र
3. काय चिकित्सा
4. कौमारभृत्य
5. अगद तंत्र

1. इस प्रकार लक्षणों से युक्त आयु को सुखायु कहते हैं।
2. आयुर्वेदस्य कृत्स्नस्य, तदङ्ग कायचिकित्सा, शालाक्यं, शल्यापहर्तृकं, विषगरवैरोधिकप्रशमनं, भूतविद्या, कौमारभृत्यकं, रसायनं, वाजीकरणमिति। (च.सू. 30/24)
3. शल्य-शालाक्यं शल्यापहर्तृकं, कायचिकित्सा, भूतविद्या, कौमारभृत्या, अगदतन्त्रं, रसायनतन्त्रं, वाजीकरणतन्त्रमिति॥ (च.सू. 30/28)

(सु.सू. 1/7)

6. भूतविद्या
7. रसायन
8. वाजीकरण

आचार्य वाग्भट मतानुसार

1. काय चिकित्सा
2. ऊर्ध्वाङ्ग चिकित्सा
3. शल्य तंत्र
4. दंष्ट्रा चिकित्सा
5. ग्रह चिकित्सा
6. कौमार भृत्य
7. जरा चिकित्सा
8. वृष चिकित्सा

अष्टाङ्ग आयुर्वेद में आचार्य चरक ने चिकित्सा को प्रधानता देते हुए काय चिकित्सा को प्रथम वर्णित किया है तथा आचार्य सुश्रुत ने शल्य तंत्र को प्रधानता देते हुए शल्य तंत्र को प्रथम वर्णित किया है। शेष अङ्गों का वर्णन दोनों आचार्यों ने एक ही क्रम से किया है। इस वर्णन से यह स्पष्ट है कि चरक संहिता काय चिकित्सा (Medicine) प्रधान एवं सुश्रुत संहिता शल्य (Surgery) प्रधान संहिता है।

आचार्य वाग्भट ने अष्टाङ्ग हृदय में इन आठ अंगों में 'भूतविद्या' के लिए 'ग्रह चिकित्सा', 'शालाक्य तंत्र' के लिए 'ऊर्ध्वाङ्ग चिकित्सा', विष चिकित्सा एवं अगद तंत्र के लिए 'दंष्ट्रा चिकित्सा', रसायन के लिए 'जरा' तथा वाजीकरण के लिए 'वृष चिकित्सा' शब्द का प्रयोग किया है किंतु मूल आचार्य एक ही है[1]।

अष्टाङ्ग आयुर्वेद के विभिन्न अङ्गों का वर्णन निम्न प्रकार है-

1. कायचिकित्सा (General Medicine)

'कायचिकित्सा नाम सर्वाङ्गसंश्रितानां व्याधीनां ज्वरारक्तपित्तशोषोन्मादापस्मारकुष्ठमेहातिसारादीनामुपशमनार्थम्।'

(सु. सूत्र 1/8)

आयुर्वेद के जिस अंग में सर्वशरीर गत रोगों जैसे ज्वर, रक्तपित्त, शोष, उन्माद, अपस्मार, कुष्ठ, प्रमेह, अतिसार आदि के शमन करने के विविध उपायों का वर्णन किया गया हो उसे 'काय चिकित्सा' कहते हैं।

1. कायवाग्भटोक्तमूर्ध्वाङ्गमित्यादि। (अ.हृ.सू. 1/5)

Scanned with CamScanner

आयुर्वेद के आठों अङ्गों में 'काय चिकित्सा' सर्वश्रेष्ठ है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में वर्णित General Medicine से काय चिकित्सा का ग्रहण किया जा सकता है।

2. शल्य तंत्र (General Surgery)

'तत्र शल्यं नाम विविधतृणकाष्ठपाषाणपांशुलौहलोष्टास्थिबालनखपूयास्रावदुष्टव्रणान्तर्गर्भशल्योद्धरणार्थं, यंत्रशस्त्रक्षाराग्निप्रणिधानव्रणविनिश्चयार्थंच।'

(सु. सूत्र 1/8)

आयुर्वेद के जिस अंग में अनेक प्रकार के तृण (घास), काष्ठ (लकड़ी), पत्थर, धूल के कण, लौह, मिट्टी, हड्डी, केश, नख, पूय (Pus discharge), दूषित व्रण, अन्तः शल्य एवं गर्भशल्य (मृत गर्भ) आदि को निकालने का ज्ञान, यंत्र, शस्त्र, क्षार, अग्नि कर्म करने का ज्ञान तथा व्रणों को आम, पच्यमान तथा पक्वावस्थाओं का निश्चय किया जाता है उसे 'शल्य तंत्र' कहते हैं। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार इसका General Surgery से समंजस्य स्थापित किया जा सकता है।

3. शालाक्य तंत्र (E.N.T.)

'शालाक्यं नामोर्ध्वजत्रुगतानां श्रवणनयनवदनघ्राणादिसंश्रितानां व्याधीनामुपशमनार्थम्॥'

(सु. सूत्र 1/8)

आयुर्वेद के जिस अंग में जत्रु के ऊर्ध्व भाग में स्थित कान, नेत्र, मुख, नासिका आदि में होनेवाले रोगों की शांति के उपायों का वर्णन किया गया हो तथा शलाका यंत्रों के स्वरूप तथा प्रयोग करने की विधि का वर्णन किया गया हो उसे 'शालाक्य तंत्र' कहते हैं। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में वर्णित Ear, Nose एवं Throat संबंधि रोगों के वर्णन एवं उनकी चिकित्सा से शालाक्य तंत्र का ग्रहण किया जा सकता है।

4. अगद तंत्र (Toxicology & Jurisprudence)

'अगदतन्त्रं नाम सर्पकीटलूतामूषकादिदष्टविषव्यञ्जनार्थं विविधविषसंयोगोपशमनार्थं च॥'

(सु. सूत्र 1/8)

सर्प, कीट, लूता (मकड़ी), चूहे आदि के काटने से उत्पन्न विष लक्षणों को जानने के लक्षण तथा अनेक प्रकार के स्वाभाविक, कृत्रिम एवं संयोगज विषों से उत्पन्न विकारों के प्रशमन का जिस शास्त्र में वर्णन हो उसे 'अगद तंत्र' कहते हैं। अगद तंत्र से आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में वर्णित Toxicology and Jurisprudence का ग्रहण किया जाता है।

5. भूतविद्या (Science of Devils, Giants, Evil spirits, Demon etc.)

'भूतविद्या नाम देवासुरगंधर्वयक्षरक्षःपितृपिशाचनागग्रहाद्युपसृष्टचेतसां शांतिकर्मबलिहरणादिग्रहोपशमनार्थंच॥'

(सु. सूत्र 1/8)

आयुर्वेद के जिस अंग में दैव, दैत्य, गंधर्व, यक्ष, राक्षस, पितर, पिशाच, नागादि ग्रहों से पीड़ित चित्त वाले रोगियों की शांति के लिए शांति कर्म, बलि प्रदान, हवन आदि ग्रह दोष शामक क्रियाओं का वर्णन किया गया हो उसे भूतविद्या कहते हैं। भूत विद्या का वर्णन Devils, Giants, Evil Spirits and Demon इत्यादि से संबंधित science से मिलता है।

6. कौमार भृत्य (Paediatrics)

'कौमारभृत्यं नाम कुमारभरणधात्रीक्षीरदोषसंशोधनार्थं दुष्टस्तन्यग्रहसमुत्थानांच व्याधीनामुपशमनार्थम्॥'

(सु. सूत्र 1/8)

आयुर्वेद के जिस अंङ्ग में बालकों के पोषण, धात्री के दुग्ध के दोषों के संशोधन के उपाय तथा दूषित दुग्धपान एवं ग्रहों से उत्पन्न व्याधियों की चिकित्सा का वर्णन हो उसे कौमार भृत्य कहा जाता है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में वर्णित Paediatrics से कौमार भृत्य की तुलना की जा सकती है।

7. रसायन तंत्र (Geriatrics)

'रसायनतन्त्रं नाम वयःस्थापनमायुर्मेधाबलकरंरोगापहरणसमर्थंच॥'

(सु. सूत्र 1/8)

युवावस्था को अधिक समय तक बनाये रखने के उपाय, आयु, धारण शक्ति, बल की वृद्धि करने के उपाय तथा शरीर की स्वाभाविक रोग प्रतिरोधक शक्ति (Natural Immunity) की वृद्धि के उपायों का जिस शास्त्र में वर्णन हो उसे रसायन तंत्र कहते हैं। रसायन तंत्र में आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में वर्णित Geriatrics का ग्रहण करते हैं।

8. वाजीकरण तंत्र (Aphrodisiacs)

'वाजीकरणतन्त्रं नामाल्पदुष्टक्षीणविशुष्कशुक्रस्यप्रायायनप्रसादोपचयजननप्रमितप्रहर्षजननार्थंच॥'

(सु. सूत्र 1/8)

अल्प, दुष्ट, क्षीण, एवं शुष्क वीर्य वाले मनुष्य के वीर्य को पुष्टि, शोधन, वृद्धि एवं उत्पत्ति तथा स्वस्थ लोगों में मैथुन के समय हर्ष बढ़ाने के विभिन्न उपायों का वर्णन जिस शास्त्र में किया जाता है उसे वाजीकरण तंत्र कहते हैं। वाजीकरण तंत्र का वर्णन आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के Aphrodisiacs के वर्णन के समकक्ष है।

Scanned with CamScanner

अष्टाङ्ग आयुर्वेद में काय चिकित्सा का प्राधान्य

आयुर्वेद के इन आठ अङ्गों में काय चिकित्सा प्रमुख है, क्योंकि इसका क्षेत्र यह ही विस्तृत व गहन है। काय चिकित्सा के अन्तर्गत शरीर में होने वाली समस्त व्याधियों का समावेश है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में भी विभिन्न व्याधियों की चिकित्सा के वर्णन 'Internal Medicine' नामक शाखा के अंतर्गत प्राप्त होता है।

काय चिकित्सा एवं Internal Medicine में साम्य

काय चिकित्सा व Internal Medicine में अत्यधिक साम्य है। आयुर्वेद मतानुसार शरीर में 13 प्रकार के स्रोतस वर्णित हैं एवं उन्हीं स्रोतसों की दुष्टि के अनुसार व्याधियों के नामकरण व उनकी चिकित्सा का वर्णन काय चिकित्सा में प्राप्त होता है। यथा-प्राणवह स्रोतस की व्याधियां- श्वास रोग (Bronchial Asthma), कास रोग (Cough) आदि, रसवह स्रोतस की व्याधियां-ग्रहणी (Sprue) रोग, अतिसार (Diarrhoea), प्रवाहिका रोग (Dysentery) आदि।

इसी प्रकार Modern Medicine में विभिन्न systems की दुष्टि के अनुसार व्याधियों का वर्णन प्राप्त होता है। Respiratory system की व्याधियों में अस्थमा रोग-Bronchial Asthma, Pneumonia, आदि। Digestive system की व्याधियों में Diarrhoea, Dysentary, Sprue आदि।

वस्तुतः दोनों ही विधाओं में वर्णन की दृष्टि से काफी साम्य है किंतु चिकित्सा की दृष्टि से आयुर्वेद में विशिष्टता है। Modern Medicine में किसी भी रोग की चिकित्सा विभिन्न रोगियों में एक ही प्रकार की औषध (Medicine) से की जाती है यथा—ज्वर (Fever) में Paracetamol हर रोगी को दी जाती है एवं विभिन्न Infectious Diseases में Antibiotics का प्रयोग होता है जिसमें रोगानुसार तो विभिन्नता है परंतु रोगी के अनुसार विभिन्नता नहीं है। किंतु आयुर्वेद में चिकित्सा सिद्धांतों के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति में देश, काल, प्रकृति, दोष, अग्नि बल, धातु बल एवं सत्व आदि को ध्यान में रखकर रोगी की चिकित्सा व्यवस्था की जाती है। यथा-स्थूल प्रमेही व कृश प्रमेही की चिकित्सा भिन्न है। भिन्न-भिन्न प्रकृति के रोगियों में ज्वर की चिकित्सा भी भिन्न-भिन्न सिद्धांतों के अनुसार की जाती है।

स्वास्थ्य व चिकित्सा की दृष्टि से आयुर्वेद का 'धातु साम्य' तथा 'लोक पुरुष साम्य' का सिद्धांत अत्यंत महत्वपूर्ण है। "यत् पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे" के सिद्धांत पर आधारित आयुर्वेद यह मान्यतात्मक [पंचमहाभूत+अव्यक्त प्राण (आत्मा)] पुरुष की कल्पना करता है एवं पुनः शरीरेन्द्रियसत्वात्मसंयोगो धारि जीवितम् द्वारा चतुर्णवतीय आयु की अवधारणा उपस्थित करता है।

मनुष्य व उसके पर्यावरण के बीच चल रहे Interaction के आधार पर ही मनुष्य

का स्वास्थ्य निर्भर करता है। इसी से शीघ्र वैषम्यपूर्वक व्याधि उत्पन्न होती है। मनुष्य व पर्यावरण के Interaction के तीन मुख्य बिन्दु हैं-

1. अक्षसन्निकर्ष संयोग
2. प्रज्ञापराध
3. काल (परिणाम)

इन्हीं तीनों का अतियोग, हीनयोग या मिथ्यायोग रोगों का प्रमुख कारण है।

मनुष्य तथा लोक या पर्यावरण दोनों समान षड्कों (पंचमहाभूत) से बने हैं। मनुष्य व शरीर की धातुओं की वृद्धि एवं क्षय को लोक में उपलब्ध भावों (पर्यावरणीय भावों) द्वारा "सर्वदासर्व भावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्" तथा "ह्रासहेतुर्विशेषश्च प्रवृत्तिरुभयस्य तु" इस चरकोक्त सामान्य-विशेष सिद्धांत के अनुसार साम्यावस्था में रखा जा सकता है। यही आयुर्वेदीय चिकित्सा का आधार सूत्र है।

वर्तमान समय में अनेक चिकित्सा पद्धतियां, यथा Unani, Siddha, Magnetic Therapy, Accupressure & Reiki इत्यादि प्रचलन में है किंतु किसी भी चिकित्सा पद्धति में आयुर्वेद सम व्याधिप्रशमन व द्रव्यगुण चिकित्सा का वर्णन प्राप्त नहीं होता वरन् केवल रोग की चिकित्सा का वर्णन उपलब्ध होता है रोगी की चिकित्सा का नहीं।

आयुर्वेद शरीर एवं मन दोनों से स्वस्थ मनुष्य को ही निरोगी मानता है। अतः ये समस्त सिद्धांत आयुर्वेद व काय चिकित्सा को अन्य चिकित्सा पद्धतियों से वैशिष्ट्य प्रदर्शित करते हैं।

Scanned with CamScanner

द्वितीय अध्याय

दोष-धातु-मल-प्राकृत व वैकृत अवस्था

आयुर्वेद शास्त्र में दोष (शारीरिक व मानसिक), धातु, मल, आत्मा, इंद्रिय व मन शरीर के मुख्य घटक माने गए हैं। स्वस्थावस्था में त्रिदोष, धातु एवं मल अपने स्वाभाविक प्राकृत कर्म करते रहते हैं इसलिए इनको शरीर का मूल कारण कहा गया है। आयुर्वेद चिकित्सक के लिए क्रिया शरीर के साथ ही दोष-धातु-मल, अग्नि, ओज, आत्मा, प्रकृति, सौष्ठव, मन आदि का पूर्ण ज्ञान अपेक्षित है। दोष-धातु-मल शरीर के घटक हैं। वस्तुतः दोष कर्म प्रधान, द्रव्य (धातु) गुण प्रधान एवं मल द्रव्य प्रधान होते हैं। वात-पित्त-कफ दोष भी हैं, धातु भी हैं एवं मल भी हैं। अतः दोष ही धातु-उपधातु एवं मलों की पुष्टि, स्थिति एवं विनाश के लिए उत्तरदायी होते हैं। उचित आहार, निद्रा एवं ब्रह्मचर्य सेवन से ये प्रकृत रहकर देहपुष्टि, शरीर बल, इंद्रिय बल एवं मनोबल प्रदान करते हुए मनुष्य जीवन को सुखी व निरोगी रखते हैं। वातादि त्रय दोषों को "त्रय स्तम्भ" तथा आहार-निद्रा व ब्रह्मचर्य को "त्रय उपस्तम्भ"[4] कहते हैं।

शरीर के मूल घटक द्रव्य

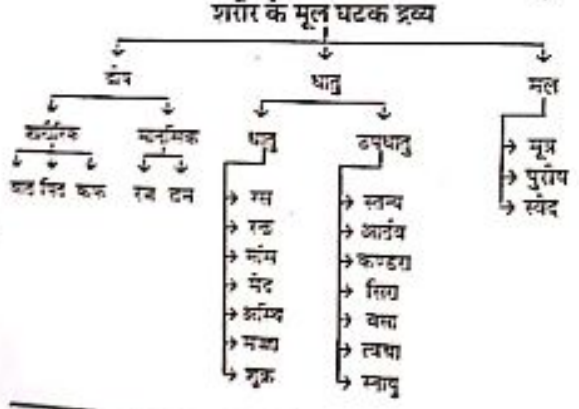

1. पित्तमनुष्णमपक्वं द्रवं सस्नेहम्।
2. तत्रैकदोषप्रकोपे शेषदोषानुबन्धः। धातुमलयोस्तु द्वयोः प्रकोपप्रशमावुक्तौ। (सु.सू. 21/3)।
3. (सु.सू. 21/3)।
4. त्रय उपस्तम्भा इति- आहारः, स्वप्नो ब्रह्मचर्यमिति।

(सु.सू. 15/3)
(सु.शा. 4/36)

(च.सू. 11/3)

दोष विवेचन

निरुक्ति

'शरीरं दूषयन्तीति दोषाः' अर्थात् जो शरीर या धातुओं को दूषित करे उसे दोष कहते हैं।

भेद

दोष निम्न दो प्रकार के होते हैं[1]-

1. शारीरिक दोष
2. मानसिक दोष

शारीरिक दोष तीन हैं- वात, पित्त एवं कफ

मानसिक दोष दो हैं- रज एवं तम

विशेष- आचार्यों ने कहीं-कहीं पर रक्त को चतुर्थ दोष माना है किंतु रक्त दोष नहीं है। क्योंकि रक्त वातादि दोषों से दूषित होकर ही रोग उत्पन्न करता है, स्वतंत्र रूप से नहीं। अतः जहां भी रक्त को दोष कहा गया है वह गौण अर्थ में है क्योंकि दोष वही कहलाता है जो स्वयं दुष्ट होकर रोग उत्पन्न करे व प्रकृति का निर्माण करे[2]।

वातादि दोष क्रमशः अनिल-सूर्य-सोम के ही प्रतिनिधि स्वरूप हैं एवं प्राकृत अवस्था में रहते हुए शरीर का विघेन (Neuro-humoral functions), अपचय (Catabolic functions) एवं विसर्ग (Anabolic functions) आदि क्रियाओं के द्वारा उसी प्रकार शरीर का धारण करते हैं जिस प्रकार वायु अपने विधेन कर्म (Diffusing power), सूर्य अपने आदान कर्म (Assimilating power) एवं चंद्रमा अपने विसर्ग कर्म (Creating power) द्वारा जगत का धारण करते हैं[3]।

पंच महाभूत एवं त्रिदोष

आयुर्वेद मतानुसार समस्त द्रव्य पांच भौतिक हैं। अतः त्रिदोष भी द्रव्य होने से पांचभौतिक हैं। त्रिदोष की उत्पत्ति में पंचमहाभूत विभु रूप से सहभागी होते हैं-

आकाश + वायु महाभूत	-	वात दोषोत्पत्ति
अग्नि महाभूत	-	पित्त दोषोत्पत्ति
जल + पृथ्वी महाभूत	-	कफ दोषोत्पत्ति

1. वायुः पित्तं कफश्चोक्तः त्रयोऽपि दोष संज्ञकाः।
मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च॥ (च.सू. 1/57)
2. स्वकारणेन दूषितदूषणं दोषत्वं प्रकृतिस्थानस्थेषु तेषु दूषितदूषणं दोषत्वमिति। (च.सू. 1/57 पर चक्रपाणि)
3. विभुत्वात्सर्वगौ, सोमसूर्यानिला यथा। धारणे जगदुद्रेकात् विसर्गादानतस्तथा॥ (सु.सू. 21/3)

Scanned with CamScanner

त्रिदोषों की उत्पत्ति में पृथक्-पृथक् महाभूत कारण हैं, लेकिन प्रत्येक महाभूत दूसरे अन्य अंश सभी में रहता है। जिस महाभूत की अधिकता रहती है उसी का व्यपदेश किया जाता है।

दोषों की विभिन्न संज्ञा

त्रिदोष साम्यावस्था में शरीर का धारण करते हैं अतः "धातु" कहलाते हैं, विषमावस्था में शरीर को दूषित करके रोग उत्पन्न करते हैं अतः "दोष" कहलाते हैं। शरीर को मलिन करने के कारण इन्हें "मल" भी कहते हैं[1]। प्रायः इनकी विषमावस्था ही सम्पर्क में आने के कारण चिकित्सा क्षेत्र में इन्हें-अधिकतर त्रिदोष ही कहा जाता है।

दोषों के विभिन्न स्थान[2]

यद्यपि त्रिदोष सर्वशरीरगत होते हैं फिर भी शरीर में इनके विशिष्ट स्थान हैं। नाभि से नीचे वात का, नाभि व हृदय के बीच पित्त का तथा हृदय से ऊपर कफ का विशिष्ट स्थान है। इन स्थानों पर अन्य दोषों से भी रोग उत्पन्न होने पर स्थानस्थ दोष का कुछ न कुछ अनुबंध रहता ही है।

दोषों के आश्रय

प्रत्येक दोष का दूष्य (धातु, उपधातु व मलों) के साथ आश्रय-आश्रयीभाव संबंध रहता है। दोष इन दूष्यों में आश्रित रहने पर भी इनके विशिष्ट आश्रय हैं। अस्थि धातु वात का, स्वेद व रज पित्त का तथा रस, मांस, मेद, मज्जा, शुक्र, मूत्र व पुरीष कफ के आश्रय हैं।

विशेष-जो आहार-विहार या औषध आश्रय या आश्रयी में से एक की वृद्धि या क्षय करते हैं वे ही दूसरे की वृद्धि या क्षय करते हैं जैसे दूध शुक्र को बढ़ाता है वह आश्रयी कफ को भी बढ़ाता है एवं जो कफ को घटायेगा वह मेद को भी घटायेगा परंतु अस्थि एवं वात इसके अपवाद हैं। क्योंकि धातु व मलों की वृद्धि संतर्पण से होती है एवं तर्पण से कफ वृद्धि व वात क्षय होता है अपतर्पण से अस्थि धातु क्षय होता है एवं वात की वृद्धि होती है।

वात एवं रज दोष की प्रधानता

यद्यपि दोनों शारीरिक दोष व दोनों मानसिक दोष रोग उत्पन्न करते हैं फिर भी रोगोत्पादकता की दृष्टि से शारीरिक दोषों में 'वात' व मानसिक दोषों में 'रज' दोष की प्रधानता होती है।

1. शरीरं दूषयन्तीति धातवः। शारीरिकाश्च ते दोषा मलीकरणात्मलाः। (सु.सू.15/24)
2. ते शारीरिकैर्दोषैः शरीरमेवोपसर्पति। (च.सू. 1/7)

वात की प्रधानता का कारण

1. चित्त एवं कफ गति रहित हैं तथा धातु एवं मल भी गति रहित होते हैं, इन्हें वात ही अपनी इच्छा से गति प्रदान करता है एवं जहां से जाना चाहता है वहां ले जाता है। जिस प्रकार प्रकृति में वायु बादलों को उड़ाकर जहां ले जाता है वहां वर्षा होती है उसी प्रकार वात दोष पित्त एवं कफ दोष को अपनी प्रेरणा से शरीर में कहीं भी ले जाता है।
2. व्यापक होने से, शरीर के सूक्ष्मतम स्रोतों में प्रवेश कर शीघ्रता से रोग उत्पन्न करने से, कफ-पित्त को अपेक्षा बलवान होने से, स्वयं कुपित होकर अन्य दोषों को भी प्रकुपित करने से तथा बहुसंख्यक रोगों को उत्पन्न करने के कारण शरीरस्थ दोषों में वात प्रधान दोष है[1]।

रज दोष की प्रधानता का कारण

रज गुण प्रवर्तक व चल होता है। जिस प्रकार शरीर दोषों में 'वात' गतिशील होने से प्रधान है उसी प्रकार मानस दोषों में 'प्रवर्तक' व 'चल' होने से 'रज' दोष प्रधान है। प्रकुपित हुए दोषों में वैषम्यता पहले चैत्य अवस्था नहीं होती। अतः गतिशील होने से वायु ही उनके प्रसर का कारण है। वायु रजोगुण प्रधान होता है[2]।

1. शारीरिक दोष

यह तीन होते हैं-

1. वात
2. पित्त
3. कफ

(i) वात दोष

निरुक्ति-'वा गति गन्धनयोः' धातु से 'वात' शब्द बना है इसका अभिप्राय है उत्साह, गति, प्रकाशन, सूचन, हिंसा, ज्ञान एवं प्राप्ति[3]।

स्वरूप-अमूर्त एवं अव्यक्त। अव्यक्त होते हुए भी वात कर्म के द्वारा जाना जाता है। वात रजो गुण प्रधान होने से सम्पूर्ण कर्मों का प्रवर्तक है एवं प्रेरक शक्ति है[4]।

1. विषमं पङ्गु कफः पङ्गु पङ्गवो मलधातवः। वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत्। (च.सू.चू.स. 5/25)
2. विभुत्वात्प्रसृतत्वाच्च चलत्वात्प्रेरकत्वतः। (च.शा.स. 1/94)
स्वातन्त्र्यात् बहुरोगत्वात् दोषाणां प्रबलत्वतः।
3. हेतवो वायुरित्यादयः प्रभावाश्च, तत्र वायुर्नाम वेगः क्षिप्रकारिता, रजसश्च प्रवर्तकं वर्णयन्ति। (सु.सू. 21/23)
4. गतिर्वेगः शब्दः प्रेरणमुत्क्षेपः, उत्साहः, प्रकाशनं, सूचनं हिंसाऽज्ञानं च। (शारीरक)
5. आनन्दो स्पर्शकर्म च। (सु.चि. 1/7)

Scanned with CamScanner

वात के गुण-प्राकृत वात के गुणों को तीन भागों में बांटा जा सकता है-

1. भौतिक गुण
2. प्राकृतिक गुण
3. नैसर्गिक गुण

1. वात के भौतिक गुण[1]-यतो दोष में वायु महाभूत के गुणों के अतिरिक्त अन्य महाभूतों के गुण भी पाए जाते हैं।

(1) रूक्ष, (2) शीत, (3) लघु, (4) सूक्ष्म, (5) चल, (6) विशद, (7) खर, (8) पत्व, (9) दारुण, (10) अनवस्थित एवं (11) योगवाही, ये वायु के भौतिक गुण हैं।

2. वात के प्राकृतिक गुण[2]-त्रिगुणात्मक मूल प्रकृति से, सृष्टि के उत्पत्ति क्रम से उत्पन्न वायुमहाभूत के प्रतीक वायु में 'सत्व' एवं 'तम' गुण अल्पमात्रा में तथा 'रज' गुण अधिक होता है। अतः रजो बहुल होना वात का प्राकृतिक गुण है।

3. वात के नैसर्गिक गुण-वायु आकाश के बाद दूसरा महाभूत है। उसमें आकाशनिष्पन्न गुण 'स्पर्श' तो रहता ही है साथ ही 'आकाश' महाभूत का गुण 'शब्द' भी रहता है। अतः वात के नैसर्गिक गुण 'शब्द' व 'स्पर्श' हैं[3]।

वायु के प्राकृत कर्म

1. उत्साह (कार्य करने की शारीरिक व मानसिक प्रवृत्ति), उच्छ्वास, निःश्वास, चेष्टा (कायिक, वाचिक, मानसिक), धातुओं में सम्यक्गति, गतिशील मलों (मूत्र, पुरीष, स्वेद) का उचित समय पर सम्यक् निष्कासन आदि अविकृत वात के प्राकृत कर्म हैं[4]।
2. इसके अतिरिक्त शरीर रूपी यंत्र को धारण करना, मन का नियमन, मन व इंद्रियों को अपने विषयों में लगाना, ज्ञान को आत्मा तक पहुंचाना, सर्व धातु व शरीर की रचना करना, शरीर का नियंत्रण, अग्नि का प्रेरण, स्थूल व सूक्ष्म स्रोतसों का निर्माण करना, क्लेद का शोषण, गर्भाकृति का निर्माण, गर्भ

1. (i) रूक्ष: शीतो लघु: सूक्ष्म श्चलोऽथ विशद: खर: ।
(ii) रूक्ष शीतगुणौ तत्रशब्दस्पर्शवाश्रय: चरादयो वायुगुणा मताश्च। (च.सू. 1/59)
(iii) वायुतंत्र रजो रूक्ष खर बहुलोऽनिलात्मक विशद: । (च.सू. 12/4)
2. रजो बहुल एव च। (च.सू. 8/48)
3. तैषामेवगुण: पूर्वो मूर्तिवृद्धि: परे परे। पूर्व: पूर्वगुणश्चैव क्रमशो गुणिषु स्मृत: ॥ (सु.शा. 1/28)
4. उत्साहोच्छ्वासनिश्वास चेष्टाधातुगतिक्रिया। स्रोतोविवेको गतिमतां वायो: कर्माविकारजम् ॥ (च.सू. 18/49)

निष्क्रमण आदि वायु के प्राकृत कर्म हैं[1]।

3. वायु को प्राणियों की आयु का संरक्षक व विधाता कहा है एवं सम्पूर्ण विश्व को 'वायु' शब्द से संज्ञित किया है इसे 'प्रभु' भी कहा है[2]।

वात के विशिष्ट स्थान

पक्वाशय, कटि, श्रोणि (पैर की अस्थियां), श्रोत्र, पुरीषवह (Large intestine) तथा अस्थि व स्पर्शनेन्द्रिय वात के स्थान हैं। इनमें पक्वाशय वात का विशिष्ट स्थान है[3]।

पक्वाशय को वात विशिष्ट स्थान कहने का तात्पर्य है कि पक्वाशय अधिक रोगों की उत्पत्ति का स्थान है यहां यदि वायु के विकार को रोक कर दिया जाये तो अधिकांश शारीरिक वात विकार स्वयमेव ही शांत हो जाते हैं।

वात के प्रकार

सर्व शरीर में व्याप्त 'वात' एक ही है, परंतु भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न कर्म करने के कारण स्थान व कर्मों के आधार पर 'वात' के निम्न 5 भेद हैं[4]-

1. प्राण वायु
2. उदान वायु
3. समान वायु
4. व्यान वायु
5. अपान वायु

1. प्राण वायु-'हृदि प्राण:'। आधुनिक शरीर क्रिया विज्ञान के अनुसार मनस्त शारीरिक एवं मानसिक क्रियाओं का मूल कारण Nervous System है। यद्यपि वात अव्यक्त है किंतु वात के कर्म Nervous System के कार्यों से सामंजस्य रखते हैं। दसवीं Cranial Nerve "Vagus Nerve" के कर्म 'प्राण वायु' के कर्मों से सादृश्य रखते हैं।

'प्राण वायु' का मुख्य स्थान हृदय है तथा Cardiac Plexus का निर्माण Sympathetic Nervous System की Thorasic Nerve Fibres तथा Vagus Nerve Fibres से होता है। अतः Cardiac Plexus शरीर रचना व क्रिया विज्ञान की दृष्टि से

1. वायुरत्रयंगमः प्राणनिमेषोन्मेषजीवनम्, विचेष्टानेक्ष च मनसः, सकलेन्द्रियचेष्टाश्च, सर्वेन्द्रियाणां वाग्विप्रेषु, सर्वशरीरे..... सप्तधातूंश्च धारयतुर्वायुः। (च.सू. 12/8)
2. वायुर्गुणपूर्वं वायुकर्मोपलब्धेः। (च.वि. 28/3)
वायुर्हि प्रभुर्हि सर्वं प्रभुकर्मोपलब्धेः ॥
3. गति: पुरीषस्य कटि: सक्थ्नां पक्वाशयोऽपि पक्वाशयश्च वातस्थानानि, त्वक्स्पर्शनेन्द्रियं च। (च.सू. 20/8)
4. प्राणोदानौ समानश्च व्यानोऽपानश्च पञ्चधा।
स्थानतस्तस्य वक्ष्यन्ति शारीरिकम् ॥ (सु.चि. 1/12)

Scanned with CamScanner

'प्राण वायु' का स्थान प्रतीत होता है।

प्राण वायु के स्थान-हृदय, मुख, शिर, जिह्वा, नासिका, कर्ण या कण्ठ तथा उरस प्राण वायु के स्थान हैं। हृदय प्राण वायु का मुख्य स्थान है[1]।

प्राण वायु के कर्म-प्राण वायु निम्न कर्म सम्पादित करती है-

1. मन एवं बुद्धि का नियंत्रण।
2. क्षवीयन (थूंकना), क्षवथु (छींकना), उद्गार आदि कर्म।
3. श्वास प्रक्रिया-उच्छ्वास (Expiration) एवं निःश्वास (Inspiration) का संचलन। फुफ्फुस (Lungs) के प्रधान कार्य प्राण वायु द्वारा सम्पादित होते हैं[2]।
4. अन्न (आहार का निगलना)[3]।
5. देह को धारण करना।
6. प्राण वायु सभी इंद्रियों को अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने में प्रवृत्त कराती है। यथा-
   (i) गंध ज्ञान-Olfactory Nerve (1st Cranial Nerve) द्वारा।
   (ii) रूप ज्ञान-Optic Nerve & Occulomotor Nerve (2nd & 3rd Cranial Nerve) द्वारा।
   (iii) शब्द ज्ञान-Auditory Nerve (8th Cranial Nerve) द्वारा।
   (iv) रस ज्ञान-Glossopharyngeal Nerve (9th Cranial nerve) द्वारा।
   (v) स्पर्श ज्ञान-त्वचा स्थित nerves द्वारा होता है।
7. तेरह प्राणों (अग्नि, सोम, वायु, सत्व, रज, तम, पंच ज्ञानेन्द्रिय, भूतात्मा एवं मन) का अवलम्बन करना।

प्राण वायु विकृति जन्य रोग-प्राण वायु की विकृति से श्वास, हिक्का, हृद रोग व मानसिक रोग उत्पन्न हो सकते हैं।

2. उदान वायु-Vocal cords के कंपन आदि कार्य Recurrent laryngeal nerve के द्वारा होते हैं। ऊर्ध्व जत्रुगत समस्त कार्य Facial nerve, Trigeminal nerve, Trochlear nerve & Hypoglossal nerve द्वारा सम्पादित होते हैं। Larynx (स्वर यंत्र) तथा ऊर्ध्व जत्रु प्रदेश के कार्य उदान वायु के कर्म से समानता रखते हैं।

1. स्थानं प्राणस्य मूर्धोर, कण्ठ जिह्वास्य नासिका। क्षवीयनं क्षवथूद्गार श्वासाद्यास्तदीय कर्म च॥ (च.चि. 28/6)
2. वायोस्तस्य प्राणभृतः, मूर्धजत्रु हृत्यमाश्रितम्। कफपित्तविनीतोऽसौ चरन् विष्वङ्नरान्नयेत्॥ पौनःपुन्यात्प्रयोगेषु पुनरुक्तमिति केचन्। प्रौढ्यपेक्ष्यैवमेवैषां ज्ञेयं च क्रमशस्तयम्॥ (च.सू.प्र. 5/50-51)
3. सोऽन्नं प्रवेशयत्यन्तः, प्राणं चाप्यायत्यन्वहं। प्राणा मुखे पुरो हिक्का श्वासादिष्वनुषज्जते॥ (सु.चि. 1/13-14)

उदान वायु के स्थान-उर (वक्ष), कण्ठ तथा नाभि ये उदान वायु के स्थान हैं[1]। कण्ठ उदान वायु का प्रधान स्थान है[2]।

उदान वायु के कर्म-उदान वायु निम्न कर्म सम्पादित करती है-

1. भाषण, गान आदि वाणी की प्रवृत्ति[3]।
2. प्रयत्न, चेष्टा करना, नासिका, कण्ठ आदि की चेष्टायें उदान वायु द्वारा सम्पादित होती हैं।
3. ऊर्ध्व जत्रुगत अंगों को शक्ति प्रदान करना।
4. बल, वर्ण, स्मरणशक्ति एवं ऊर्जा का संचार करना[4]।

उदान वायु विकृति जन्य रोग-ऊर्ध्व जत्रुगत रोग उदान वायु की विकृति से होते हैं। ऊर्ध्व जत्रुगत रोगों में शिरोरोग, नेत्र रोग, कर्ण एवं नासिका रोग, दन्तरोग एवं मुखरोग विशेषतः उदानवायु की विकृति से होते हैं[5]।

3. समान वायु-समान वायु कोष्ठ में विचरण करते हुए निम्न कार्य सम्पादित करती है-

1. अन्न को ग्रहण करना।
2. अन्न को पचाना।
3. आहार के रस एवं किट्ट भाग को पृथक करना।

कोष्ठ के अंगों की गति Meissner Billorth's Plexus एवं Motor Nerves के द्वारा नियंत्रित होती है। इन दोनों Plexus का संयोग Vagus एवं Sacral Nerves से होता है। Digestive Juices (पाचक रसों) का स्रावण Vagus Nerve के द्वारा होता है। अतः इन Nerves के कार्य समान वायु के कर्म से समानता रखते हैं।

समान वायु के स्थान-नाभि, आमाशय एवं क्षुद्रांत्र ये समान वायु के प्रमुख स्थान हैं। नाभि समान वायु का विशेष स्थान है[6]।

समान वायु के कर्म[1]-समान वायु निम्न कर्म सम्पादित करती है-

1. अन्न को ग्रहण कर पचाना।
2. भोजन का सार-किट्ट भाग में विभाजन करना।
3. जठराग्नि दीप्त करना।

1. उदानस्य पुरः स्थानं वाग्वपुः कण्ठ एव च। कफप्रवृत्ति प्रत्यक्षचेष्टाबलवर्णादि कर्म च॥ (च.चि. 28/7)
2. इति प्राणः पुनर्देहमनो नयति संयमैः। उदानकण्ठ देशस्थो स्थान कर्म तयोरतः॥ (च.चि. 5/33)
3. तेन भाषित गीतादि विशेषोऽभिवर्तते। (सु.चि. 1/14)
4. बलवर्णप्रवृत्तिः प्रत्ययोर्जा च सर्व स्मृति क्रिया। (अ.हृ.सू. 12/5)
5. ऊर्ध्वं जत्रुगतान् रोगान् करोति च विशेषतः॥ (सु.चि. 1/15)
6. आमाशयाशय मध्य [illegible] संस्थः। सोऽन्नं पचति सम्यक्च विवेचयत् विमुञ्चति हि॥ (सु.चि. 1/16)

Scanned with CamScanner

4. स्वेदवह स्रोतों के कार्य सम्पादित करना।
5. आमवह स्रोतों के कार्य सम्पादित करना।
6. उदकवह स्रोतों के कार्य सम्पादित करना।

समान वायु विकृति जन्य रोग-अग्निमांद्य, गुल्म, अतिसार, ग्रहणी एवं अजीर्ण आदि रोग समान वायु की विकृति से उत्पन्न हो सकते हैं[2]।

4. व्यान वायु-व्यान वायु समस्त शरीर में विचरण करते हुए रक्त संवहन का कार्य सम्पादित करता है। Sympathetic nerve-thorasic nerve की क्रियाशीलता बढ़ने पर Blood Circulation बढ़ता है। Parasympathetic nerve-Vagus nerve की क्रियाशीलता बढ़ने पर Blood Circulation की गति मंद हो जाती है। ये कार्य Autonomous Nervous System द्वारा नियंत्रित होते हैं। अतः इनकी क्रियायें व्यान वायु के कर्म से समानता रखती हैं।

व्यान वायु का स्थान-सम्पूर्ण शरीर[3] व्यान वायु का स्थान है।

व्यान वायु का कर्म[4]-व्यान वायु निम्न कर्म सम्पादित करती है-

1. रस धातु का समस्त शरीर में प्रवाहण करना।
2. रक्त का संवहन करना।
3. स्वेद व आंसुओं का निकलना।
4. संधियों की गति व चेष्टा का नियामन करना।
5. उत्क्षेपण (ऊपर की ओर फेंकना), मांसपेशियों की प्रसरण क्रिया, तथा अवक्षेपण (नीचे की ओर गति), मांसपेशियों की संकुचन क्रिया सम्पादित करना।
6. निमेष (पलक बंद करना)
7. उन्मेष (पलक खोलना) आदि कार्य व्यान वायु द्वारा सम्पादित होते हैं।

व्यान वायु जन्य रोग-ज्वर, रक्तपित्त, अतिसार, यक्ष्मा व सर्वांगगत रोग व्यान वायु

1. (i) ...
   (ii) अन्नस्य रसभागस्य विक्षेपणोत्क्षेपकर्मणा। (च.चि. 28/8)
2. गुल्मार्शोग्रहणीदोषशोफपाण्ड्वामयादयः समानकोपप्रभवा भवन्ति। (अ.हृ. सू.12/8)
3. सर्व. शरीरचरः। (सु.चि. 1/17)
4. (i) व्यानस्य रसप्रसादे विक्षेपोत्क्षेपकर्मणि च। (च.चि. 5/33)
   (ii) रसस्यात्मेरणस्थाने विक्षेपोत्क्षेपकर्मणः। (च.चि. 15/36)
   (iii) देहं व्याप्यति सर्वं तु सततं सोऽप्रमादतः। विक्षिपत्यवयवान् विक्षेपादि क्रियया सदा॥ (अ.हृ. सू. 12/6)
   (iv) कृत्स्नशरीरगो व्यानो रसस्यात्मेरणात्मकः। स्वेदासृक् स्रवणक्षुद्भि पक्ष्मणां पतनादिषु॥ (च.चि. 28/9)
   (v) ... (सु.चि. 17)

की विकृति से उत्पन्न हो सकते हैं[1]।

5. अपान वायु-मल, मूत्र, शुक्र के स्थान की क्रियायें ऐच्छिक मांसपेशियों (Voluntary muscles) द्वारा सम्पादित होती हैं जिनका नियंत्रण Peripheral nerves करती हैं। श्रोणि प्रदेश (Pelvis) में स्थित गर्भाशय, गुदा, वस्ति आदि अनैच्छिक क्रियायें (Involuantary Actions), Autonomous Nervous System द्वारा नियंत्रित होती हैं। Hypogastric Plexus एवं Pelvic Plexus से निकली हुई Nerves 1st Sympathetic nerve के साथ तथा Lumbar, Sacral Plexus से निकलने वाली Nerves 2nd Parasympathetic nerve के साथ मिलकर, उक्त अंगों की अनैच्छिक क्रियाओं का नियंत्रण करती हैं। ये समस्त कार्य अपानवायु के कर्म से समानता रखते हैं।

अपान वायु के स्थान[2]-गुदा, वृहदांत्र, वृक्क, मूत्रेन्द्रिय, वस्ति, नाभि, ऊरु एवं वंक्षण आदि अपान वायु के स्थान हैं।

अपान वायु के कर्म[3]-अपान वायु निम्न कर्म सम्पादित करती है-

1. मूत्र, पुरीष, शुक्र, आर्तव एवं गर्भ का उचित समय पर शरीर से बाहर निकालना।
2. मल, पुरीष, शुक्र, आर्तव एवं गर्भ का वेग न होने पर इनको धारण करना अपान वायु के कर्म हैं।

अपान वायु विकृति जन्य रोग[4]-अपान वायु विकृत होने पर मूत्राशय एवं गुदा में होने वाले गम्भीर रोगों को उत्पन्न कर सकती है।

वात दोष वृद्धि के लक्षण[5]-शरीर में वात दोष वृद्धि से निम्न लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं-

1. प्राण वायु की वृद्धि
   (i) शक्ति की कमी (Loss of Power)
   (ii) प्रलाप (Delirium)
   (iii) दीनता (Inability to work)
   (iv) भ्रम (Vertigo)
   (v) अनिद्रा (Insomnia)

1. कुद्धः स कुरुते रोगान् प्रायशः सर्वदेहगान्। (सु.चि. 1/18)
2. गुदवर्ती वस्तिसंस्थौ च सक्थ्युरुश्रोणिसंश्रयौ गुदम्। अन्त्रान्त्राग्र वंक्षण मूत्रशुक्रार्तवकृक्षिषु च॥ (च.चि. 28/9-10)
3. पक्वाशयान्त्रजघनोपग, पक्वाशयगो वायुः। समीरणः स्वकृत्यं शुक्रगर्भौजांसि च॥ (सु.चि. 1/18)
4. कुद्धः पुनः स्वैरगुणैः पक्वान्त्र गुद क्रमान्। (सु.चि. 1/18)
5. कार्यं कालार्थसंयोगः कर्तव्यश्च सम्यक्प्रकृतिकारणम्। कालविन्दियभोगातियोगमिथ्योक्तः॥ (अ.हृ.सू. 11/5-6)

Scanned with CamScanner

2. उदान वायु वृद्धि
   (i) वाणी की कर्कशता (Hoarseness of voice)
   (ii) मुख एवं नेत्र का कालापन (Dark Circles around eyes)
3. समान वायु वृद्धि
   (i) उष्ण पदार्थों के सेवन की इच्छा होना (Desire to eat warm / ha substances)
4. व्यान वायु वृद्धि
   (i) त्वक् रौक्ष्यता (Dry Skin)
   (ii) कृशता (Decreased body weight)
   (iii) अंगों का फड़कना (Throbbing sensation)
5. अपान वायु वृद्धि
   (i) हाथ पैर का फटना (Cracking of soles)
   (ii) मल का गाढ़ा या शुष्क होना (Hard Stool)

वात दोष क्षय के लक्षण[1]

शरीर में वात दोष के क्षय (अल्पता) होने की स्थिति में निम्न लक्षण पैदा हो सकते हैं-

1. प्राण वायु क्षय
   (i) प्रसन्नता का अभाव (Loss of happiness)
   (ii) ज्ञान की कमी (Lack of knowledge)
   (iii) बुद्धि का मोह (Confusion)
2. उदान वायु क्षय
   (i) अल्पभाषण (Feeble Voice)
3. समान वायु क्षय
   (i) मंदाग्नि (Poor Appetite)
4. व्यान वायु क्षय
   (i) समस्त कार्यों में मंदता (Inertness, diminished body functions)
   (ii) अंगों का ढीलापन (Looseness of body parts)

1. निजं शोणितिलेङ्गस्य सर्वदोष चापिते क्रियम्। लंघनेकल्पना सर्वेष्वकृद्युक्तामयापयः ॥ (अ.हृ.सू.11/55)

5. अपान वायु क्षय
   (i) मलावरोध (Constipation, Oliguria, Amenorrhoea etc.)

(II) पित्त दोष

निरुक्ति-पित्त शब्द 'तप संतापे' धातु से बनता है जिसका अर्थ 'दहन' अथवा 'ऊष्मा' करना है।

स्वरूप-पीत वर्ण युक्त द्रव। पित्त ही अग्नि है इसको 'अन्तराग्नि' कहते हैं क्योंकि दहन, दाहन, प्रकाशन, ज्ञापन, पचन आदि क्रियायें पित्त के द्वारा सम्पादित होती हैं। अग्नि ही देह के अंतर्गत निवास करती हुई कुपित अवस्था अकुपित अवस्था में रोग अथवा आरोग्य प्रदान करती है[1]।

पित्त के भौतिक गुण[2]-पित्त अग्नि महाभूत का प्रतिनिधि द्रव्य है एवं इसमें अग्नि के गुणों की अधिकता होती है। ऊष्म, स्निग्ध, तीक्ष्ण, द्रव, कटु, सर, स्वच्छ, लघु, विशद, विस्र, पूति, पीत, नील तथा अम्ल (विदग्धावस्था में) पित्त के भौतिक गुण हैं।

पित्त के प्राकृतिक गुण[3]-अग्नि के प्रतिनिधि पित्त में 'सत्व' व 'रज' प्राकृतिक गुण होते हैं।

पित्त के नैसर्गिक गुण-अग्नि महाभूत में उसके अपने गुण 'रूप' के साथ आकाश एवं वायुमहाभूत के शब्द व स्पर्श गुण भी विद्यमान रहते हैं। अतः पित्त के शब्द, स्पर्श एवं रूप ये नैसर्गिक गुण हैं।

प्राकृत पित्त के कर्म[4]-प्राकृत पित्त शरीर में निम्न कार्य सम्पादित करता है-

1 दर्शन (देखना)
2 पक्ति (भोजन पाक)
3 ऊष्मा (शरीर का स्वाभाविक तापमान बनाये रखना)
4 क्षुत् (क्षुधा)
5 तृष्णा (प्यास)
6 शरीर की मृदुता
7 प्रभा (कांति)
8 मानसिक प्रसन्नता

1. अग्नेरभावी पित्तात्मा कुपितैस्तु कुपितः शुभाशुभानि कोरति। (च.सू. 12/11)
2. (i) सस्नेहमुष्णं तीक्ष्णं च द्रवमम्लं सरं कटु। (च.सू. 1/60)
   (ii) पित्तं तीक्ष्णं द्रवं स्निग्धं नीलं पीतं सपैव च। ऊष्मं कटुकमम्लं पैव विदग्धं चामलपैव च॥ (सु.सू. 21/11)
3. सत्व रजो बहुलमेवात्रि। (सु.सू. 21/12)
4. दर्शनं पक्तिरुष्मा च क्षुत् तृष्णा देहमार्दवम्। प्रभाप्रसादौ पैत्तं च पित्तकर्मोपदिश्यते॥ (च.सू. 18/50)

क्रि. शि.- 3

Scanned with CamScanner

9 धारणाशक्ति (मेधा)

10 बुद्धि (मति)

11 रुचि

12 शौर्य, पराक्रम

13 धातु पाक

समस्त शरीर में जैव रासायनिक (Bio-Chemical), जैव भौतिकीय (Bio-Physical) तथा निर्वतकीय क्रियाओं (Ketabolic functions) के सम्पादन में पित्त के गुणों का महत्वपूर्ण योगदान है। किण्व (Enzyme) संबंधी क्रियायें भी पित्त के द्वारा ही सम्पादित होती हैं।

डॉ. के.एन. उडुप्पा ने अपने अनुसंधान कार्यों से त्रिदोष की सम व विषम अवस्थाओं का मापन करने का प्रयास किया तथा वात दोष को Acetylcholine, पित्त दोष को Catecholamine तथा कफ दोष को Histamine के रूप में शरीर में स्थापित किया।

पित्त दोष के विशिष्ट स्थान[1]-स्वेद, रस, लसीका, रुधिर, आमाशय पित्त के प्रमुख स्थान हैं इनमें भी आमाशय विशेष रूप से पित्त का स्थान है। पक्वाशय एवं आमाशय के मध्य में पित्त का स्थान अवस्थित है।

पित्त दोष के भेद[2]-आचार्य चरक ने केवल वात दोष के पांच भेद बताये हैं, पित्त एवं कफ के नहीं। आचार्य सुश्रुत ने पित्त के पांच भेद बताये हैं जो स्थान एवं कर्म की भिन्नता से निम्न प्रकार हैं-

1 पाचक पित्त

2 रंजक पित्त

3 साधक पित्त

4 आलोचक पित्त

5 भ्राजक पित्त

1) पाचक पित्त

आमाशय में रहने वाला पाचक पित्त आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की दृष्टि से Pancreatic Juice, Gastric Juice का Pepsin, Intestinal Juice का Trypsin तथा Insulin Hormone से सम्बंधित रखता है। ये समस्त Juices or Enzymes भोजन के मुख्य घटक तत्वों Carbohydrates, Proteins & Fats के पचाने का कार्य

1. [illegible] (च.सू. 20/8)
2. [illegible] (सु.सू. 15/4)

सम्पादित करते हैं। पाचक पित्त ही जठराग्नि रूप है जो सभी प्रकार के खाये हुए भोजन को पचाने का कार्य करता है।

पाचक पित्त के स्थान[1]-आमाशय (अधोभाग), पक्वाशय के मध्य स्थान ग्रहणी सहित क्षुद्रांत्र (Small intestine including Duodenum) तथा अग्न्याशय (Pancreas) पाचक पित्त के प्रमुख स्थान हैं।

पाचक पित्त के कर्म[2]-पाचक पित्त निम्न कार्य सम्पादित करता है-

1 चार प्रकार के आहार-अशित, पीत, लीढ़ एवं खादित को पचाना।

2 अन्न का पाचन करके दोष, रस, मल तथा मूत्र को अलग-अलग करके अन्न का विवेचन करना।

3 पाचक पित्त अन्य स्थानों पर पित्त के अन्य भेदों को, सब धात्वाग्नियों एवं पंचभूताग्नियों को अपने स्थान पर रखता हुआ अपनी शक्ति प्रदान कर अनुग्रह करता रहता है।

4 पाचकाग्नि ही पुष्टि, ऊष्मा, बल, वर्ण, स्वास्थ्य, उत्साह, प्रभा, ओज तथा प्राण का कारण है एवं इनका पोषण करता है[3]।

5 समावस्था में आरोग्य तथा विकृत होने पर [विषम, तीक्ष्ण, मंद] शरीर में रोग व पाचकाग्नि शांत होने पर मृत्यु हो जाती है[4]।

6 धातु पाक होने से क्षीण हुए धातुओं को पूर्ति के लिये क्षुधा, पिपासा, उत्पन्न होती है। यह पाचक पित्त के सहयोग से ही संभव होता है।

7 आहार एवं धातुओं का पाक होने से शरीर का स्वाभाविक ताप उत्पन्न होता है।

पाचक पित्त विकृति जन्य रोग

अग्निमांद्य, अम्लपित्त, ग्रहणी रोग, अजीर्ण आदि रोग पाचकाग्नि के विकृत होने पर उत्पन्न हो सकते हैं।

1. (i) [illegible] (सु.सू. 21/6)
   (ii) पित्तं स्थानेऽग्नाशयं [illegible] (चक्रपाणि)
   (iii) आमाशये भवेत्पित्तं [illegible] (रा.पु.त. 5/30)
2. (i) आहारं पक्तयो [illegible]
   तत्रापक्वाशयो [illegible] (च.चि. 15/39)
   (ii) तत्रादुपक्वे [illegible] पक्वाशयस्थानं पित्तं [illegible] तत्रस्थं पुरीषं [illegible] पक्वाशयस्थं पक्वं, विवेचयति च दोष [illegible] मूत्र पुरीषाणि, तत्रस्थोऽग्नि पाचकाख्यः शेषाणां पित्तस्थानानां [illegible] पक्वाशयस्थं [illegible] पाचको [illegible] (सु.सू. 21/12)
3. [illegible] (च.चि. 15/3)
4. [illegible] (च.चि. 15/4)

Scanned with CamScanner

2) रंजक पित्त

यकृत व प्लीहा में स्थित पित्त रस को रंजित कर रक्त वर्ण का बना देता है। पित्त को रंजक पित्त कहते हैं। Haemopoietic substances रक्त निर्माण में सह होते हैं। Vitamin B_{12}, Vitamin C, Iron, Protein आदि आहार द्रव्यों में रहते हैं। Extrinsic factors है तथा आमाशय की श्लैष्मल कला में उत्पन्न होता है। Intrinsic factors की सहायता से Intestinal wall, extrinsic factors को (absorb) करने में समर्थ होती है। परिणामस्वरूप रक्त का निर्माण कार्य सुचारु रूप से चलता रहता है।

Intrinsic factors व Extrinsic factors आमाशय, यकृत व प्लीहा में पाये जाते हैं इन्हीं को रंजक पित्त का स्थान है। Haemopoietic substances रंजक पित्त से सम्बन्ध रखते हैं।

रंजक पित्त का स्थान

यकृत (Liver) एवं प्लीहा (Spleen) रंजक पित्त के स्थान हैं किंतु आचार्य चरक ने आमाशय में रंजक पित्त का स्थान बताया है।

गर्भावस्था में भ्रूण में रक्त का निर्माण यकृत एवं प्लीहा में ही होता है तथा उसके बाद रक्त का निर्माण Red bone marrow में होता है।

रंजक पित्त के कार्य

1. अन्न रस को रंजित कर रक्त निर्माण करना।
2. रंजक पित्त आमाशय में आश्रित होकर अन्न रस को रंजित करके रक्त बना करता है।
3. मनुष्य के मूत्र, पुरीष, त्वचा, केश एवं नेत्रों का रंजन करना।
4. क्षुद्रांत्र (Small Intestine) में स्थित रंजक पित्त, मूत्र एवं पुरीष का रंग करता है। त्वक् की सबसे नीचे की 'ताम्रा' त्वचा में स्थित रंजक पित्त (Melanin) त्वक् (त्वचा) को विशिष्ट वर्ण प्रदान करता है।

3) आलोचक पित्त

नेत्र में रहनेवाला पित्त आलोचक पित्त कहलाता है जिसका कार्य देखना है। दृष्टि पटल (Retina) में Rods तथा Cones का स्तर होता है जिसमें प्रकाश संवेदनशील

1. यकृत्प्लीहौ पित्तं मांसासृङ्मेदसां पोषणं। यच्च यत्किञ्चन रञ्जकमुच्यते। (सु.सू. 21/10)
2. (i) तैजसं स्वतन्त्रं तत्र तत्र यकृत्प्लीहयोः पित्तधरायां कलायां विशेषेण तत्र तत्र रञ्जकमुच्यते। (च.चि. 15/7)
   (ii) आमाशयस्थं पित्तं रञ्जकं तच्च रञ्जकम्। (अ.हृ.सू. 12/7)
3. अतिरिक्तं दूषणार्थं तत्र तत्र पृथक् विधेयमुक्तं। यकृत्प्लीहयोस्तत्कार्यं विस्तरमाप्नुयात्। (सु.उ. 45/7)

रंजक (Photosensitive Pigment) Rhodopsin होता है। इसके द्वारा Photochemical reaction से प्रकाश का शोषण व परिवर्तन हो पाता है जो कि Optic nerve को उत्तेजित करता है। परिणामतः Brain में स्थित इस संवेदना वस्तुओं के देखने का ज्ञान होता है। Rhodopsin (Vitamin A+ Opsin) का कार्य आलोचक पित्त से सम्बन्धित रहता है।

आलोचक पित्त का स्थान -नेत्र आलोचक पित्त का स्थान है।

आलोचक पित्त के कार्य -आलोचक पित्त निम्न कर्म सम्पादित करता है-

1. वस्तुओं के रूप का ज्ञान कराना।
2. वस्तुओं की भिन्नता का ज्ञान कराना।

आलोचक पित्त के भेद—आचार्य भेल ने आलोचक पित्त के निम्न दो भेद बताये हैं—

1. चक्षु वैशेषिक—यह वस्तुओं की भिन्नता का ज्ञान कराता है।
2. बुद्धि वैशेषिक—यह अत्यंत सूक्ष्म विषयों का भी ज्ञान कराता है तथा घ्राणरस में कृत्रिक वर्ण में रहता है।

आलोचक पित्त विकृति जन्य रोग

दृष्टि संबंधी तिमिर आदि रोग तथा दृष्टि पटल के रोग आलोचक पित्त की विकृति से होते हैं।

4) साधक पित्त

साधक पित्त हृदय में अवस्थित रहकर बुद्धि, मेधा, अभिमान आदि मानसिक भावनाओं को सिद्ध करता है। आधुनिक दृष्टि से साधक पित्त Haemoglobin एवं Oxygen का वहन करता है व मस्तिष्क की कोशिकाओं का पोषण करता है जिससे बुद्धि, मेधा आदि समस्त भावनाओं का सम्पादन होता है। Pituitary gland और Adrenal gland के Secretions भी हृदय व मस्तिष्क की क्रियाओं को नियंत्रित करते हैं अतः साधक पित्त के कर्म कुछ अंशों में इनसे सम्बन्धित रखते हैं।

साधक पित्त के स्थान—हृदय साधक पित्त का स्थान है।

साधक पित्त के कर्म—साधक पित्त निम्न कर्म सम्पादित करता है।

(1) मेधा, बुद्धि एवं अभिमान आदि भावनाओं को पूर्ण करना

1. यद् हृदयं पित्तं मेधाभिमानबुद्ध्युपलब्धीनां स्थानं, तद् वैकारिकमुक्तम्। (सु.सू. 21/10)
2. स एव साधकाख्यमुक्तः। (सु.सू. 21/10)
3. साधकपित्तस्य कर्म मनोबोधनमुक्तम्। तद् हृदिस्थं चक्षुषोरेतयोर्बुद्धि वैशेषिकयोर्मतं। (चक्र संहिता)
4. यद् पित्तं हृदयस्थं तत्साधकाख्यमुक्तं। (सु.सू. 21/10)
5. (i) मेधाभिमानबोधनं मनोवह स्रोतसामुक्तं। (सु.सू. 21/9)
   (ii) इत्यत्र प्रसादो मेधा च पित्त कर्मात्मविज्ञानम्। (च.शा. 18/52)

Scanned with CamScanner

(2) प्रभा बनाये रखना

(3) इन्द्रियों की निर्मलता बनाये रखना

(4) शौर्य एवं भय आदि भावों को प्रकट करना

(5) हर्ष एवं क्रोध की अभिव्यक्ति करना

(6) प्रसन्नता एवं मोह आदि की अनुभूति कराना

साधक पित्त विकृतिजन्य रोग[1]—साधक पित्त की विकृति से निम्न रोग उत्पन्न हो सकते हैं—

(1) मानसिक विकृतियां—भय, क्रोध, मोह आदि।

(2) हृदय की विकृतियां—रक्तावृत वात (Hypertension), हृदय रोग आदि।

(3) अन्तःस्रावी ग्रंथियों (Endocrinal glands) के विकार—यथा पीयूषग्रंथि (Pituitary gland), अधिवृक्क ग्रंथि के रोग साधक पित्त की विकृति से होते हैं।

5) भ्राजक पित्त

आचार्य सुश्रुत ने त्वचा के बाह्य स्तर को "अवभासिनी" कहा है जो सब वर्णों को प्रकट करती है तथा पांच प्रकार की छाया को प्रकाशित करती है। आधुनिक विज्ञान में त्वचा के Epidermis के Malphigian Layer में Pigments होते है जिन्हें Melanin कहते हैं। त्वचा का वर्ण इसी पर आश्रित होता है। अतः Melanin के कर्म भ्राजक पित्त में समंवस्य रखते हैं।

भ्राजक पित्त का स्थान[2]

त्वचा भ्राजक पित्त का स्थान है।

भ्राजक पित्त के कर्म[3]—भ्राजक पित्त निम्न कर्म सम्पादित करता है—

(1) त्वचा को वर्ण प्रदान करना

(2) शरीर के तापमान का नियमन करना

(3) छाया का प्रकाशन करना

(4) त्वचा के सम्पर्क में आने वाले परिषेक, अभ्यंग, अवगाहन, लेप आदि का अवशोषण करना

1. [illegible] कुपितकुपितः शुभाशुभानि करोति, तद्यथा-शौर्यं, भयं, क्रोधं, हर्षं, मोहं [illegible] (च.सू. 12/11)
2. [illegible] (सु.सू. 21/10)
3. [illegible] (सु.सू. 21/10)
4. [illegible] (च.सू. 12/11)

भ्राजक पित्त विकृति जन्य रोग

विविध त्वक् रोग, विवर्णता, श्यामता, व्यंग, सिध्म, कुष्ठ, पलित आदि रोग भ्राजक पित्त की विकृति से उत्पन्न हो सकते हैं।

पित्त वृद्धि के लक्षण[1]

पित्त दोष की वृद्धि से शरीर में निम्न लक्षण प्रकट होते हैं—

i) पाचक पित्त की वृद्धि
   1) तृष्णा [Thirst]
   2) शीतकामिता [Desire for cold things]

ii) रंजक पित्त की वृद्धि
   1) पीताभासता [Yellowish texture of skin]
   2) पीत मल, मूत्र, नेत्र [Yellowish Stool, Urine & eyes]

iii) आलोचक पित्त वृद्धि
   1) पीतनेत्रता [Yellowish eyes]

iv) साधक पित्त वृद्धि
   1) निद्रानाश [Insomnia]
   2) मूर्च्छा एवं बलहानि [Syncope & loss of Vigour]
   3) इन्द्रिय दौर्बल्य [Deficient Sensory Perceptions]
   4) भ्रम [Vertigo]

v) भ्राजक पित्त की वृद्धि
   1) संताप [Raised body temperature]
   2) दाह [Burning Sensation]

पित्त क्षय के लक्षण[2]

पित्त दोष के क्षय के कारण शरीर में निम्न लक्षण उत्पन्न होते हैं—

i) पाचक पित्त क्षय
   1) मंदाग्नि [Poor appetite]

1. [illegible] (सु.सू. 15/13)
   [illegible] (सु.सू. 15/7)
2. i) [illegible] (अ.हृ.सू. 11/16)
   ii) [illegible]

Scanned with CamScanner

ii) रंजक पित्त क्षय
  1) पाण्डु [Anaemia]

iii) आलोचक पित्त क्षय
  1) मंददृष्टि [Diminished Vision]
  2) अदर्शन [Inability to see]

iv) साधक पित्त क्षय
  1) निष्प्रभता [Loss of Lusture]

v) भ्राजक पित्त क्षय
  1) मंदोष्मता [Decreased body temperature]

iii) कफ दोष

निरुक्ति— (1) "केन जलेन फलति इति कफः।" (सु. सू. 21/8)

जल से जिसकी उत्पत्ति हो उसे कफ कहते हैं। जल का कार्य संयोग करना है अतः संयोग कर्ता को 'श्लेष्मा' या 'कफ' कहा है।

(2) "श्लिष आलिङ्गने" इस धातु के साथ "मनिन्" प्रत्यय लगाने से श्लेष्मा शब्द बनता है इसका अर्थ है मिलन, संयोग व आलिङ्गन। शरीर में इन क्रियाओं के कर्ता को कफ या श्लेष्मा कहते हैं।

स्वरूप

कफ प्रकृत होने पर 'बल' कहलाता है[1]। इसी को शरीर में 'ओज' कहते हैं। कफ विकृत होने पर 'मल' कहलाता है। शरीरस्थ कफ चन्द्रमा का प्रतिरूप है।

प्राकृत कफ के गुण

(i) भौतिक गुण—स्निग्ध, शीत, गुरु, मधुर, स्थिर, पिच्छिल, लवण, श्वेत, मंद एवं श्लक्ष्ण ये कफ के भौतिक गुण हैं[2]।

(ii) प्राकृतिक गुण—कफ दसों गुण प्रधान होता है।

(iii) रासायनिक गुण—प्राकृत अवस्था में कफ मधुर रस तथा विकृत अवस्था में लवण रस प्रधान होता है।

प्राकृत कफ के कर्म[3]

प्राकृत कफ निम्न कर्म सम्पादित करता है—

1. प्रकृतस्थ कफ शरीर विकृति नहीं करता।।...स वैषयैः समृतः कर्म स च शारीरोदितो यः (च.सू. 17/117)
2. गुरुमंदहिमस्निग्धमधुरस्थिरपिच्छिलाः। श्लेष्मणः सप्तदशगुणाः गुणाः विंशतिरादितः। (च.सू. 1/60)
3. i) श्लेष्मा सर्वाणि स्थानानि व्याप्य तिष्ठति कर्माणि। शरीरं पुष्णाति संधत्ते बलं वर्णं करोति च। (च.सू. 18/53)
   ii) यदि श्लेष्मणः स्थानसंस्थानप्रमाणकर्मविकल्पं... (अ.हृ.सू. 11/3)
   यदा तु वृद्धः श्लेष्मशरीरे निरुपद्रवः प्रकृतिस्थः। स्निग्धः शुक्लः स्थिरः श्लक्ष्णो गुरुर्मन्दः प्रसन्नो मधुरो बहुः कफः। (च.सू. 12/15)

(1) स्नेहन
(2) बंधन
(3) स्थिरता (दृढ़ता)
(4) गौरवता
(5) वृषता (मैथुन शक्ति)
(6) बल, क्षमा एवं धैर्य
(7) उदारता, उत्साह
(8) संधियों को विकसित करना
(9) तर्पण-पूरण-रोपण
(10) बृंहण एवं उपचय-ये कफ के प्राकृत कर्म हैं।

कफ के विशिष्ट स्थान[1]

उरःप्रदेश (Chest), कण्ठ, शिर, क्लोम, पर्वसंधि, जिह्वा, रस, मेद, एवं अन्नाशय कफ के प्रमुख स्थान हैं। आचार्य सुश्रुत, चरक एवं वाग्भट्ट ने 'आमाशय' को कफ का विशिष्ट स्थान कहा है तथा काश्यप ने 'हृदय' को कफ का विशिष्ट स्थान बताया है।

कफ के भेद[2]

आचार्य वाग्भट्ट ने स्थान एवं कर्म की भिन्नता के आधार पर कफ के पाँच भेद बताये हैं जो निम्न हैं—

(1) क्लेदक कफ (2) अवलम्बक कफ
(3) बोधक कफ (4) तर्पक कफ (5) श्लेषक कफ

1) क्लेदक कफ

क्लेदक कफ का स्थान[3]

क्लेदक कफ का स्थान आमाशय है।

क्लेदक कफ के कर्म[4]—क्लेदक कफ निम्न कर्म सम्पादित करता है—

(1) अन्न का क्लेदन करना

1. उरः शिरोग्रीवा पर्वामाशयाः श्लेष्मणो वेदनाः स्थानानि तद्दुष्टिलिंगान्यल्पाग्नित्वम्। (च. सू. 20/9)
2. एवं कफो। पि पञ्चात्मा हृदयसंधिशिरोरसनाश्रयभेदात्तथा: क्लेदक बोधक तर्पक श्लेषकावलम्बकाः। (अ.हृ. सू. 12/16)
3. आमाशयः श्लेष्मणः क्लेदकः। (अ.हृ. सू. 12/16)
4. i) आमाशयस्थो यः प्रायः कफः स क्लेदकः। (च. वि. 15/4)
   ii) तत्राम्ब एव आमाशयस्थो क्लेदावस्थः सन्नोमम क्लेदकः कफोऽन्नसंघातं मृदुयति क्लेदति। (सु. सू. 21/14)

Scanned with CamScanner

(2) अन्न को मृदु बनाना

(3) पिण्ड रूप आहार का संघात कर द्रव के समान महीन एवं पतला करके सुखपूर्वक पचने योग्य बनाना

(4) अन्न स्थान स्थित श्लेष्मा को अपने उदक कर्म से अनुग्रहीत करना

क्लेदक कफ विकृति जन्य रोग

क्लेदक कफ की विकृति से मंदाग्नि, हृल्लास, वमन, अजीर्ण, ऊर्ध्वग अन्नस्रंसि तथा उदर एवं शरीर में भारीपन उत्पन्न होता है।

2) अवलम्बक कफ

हृदय को आवृत करने वाली Pericardium की दोनों layers के बीच Pericardial fluid एवं Lungs को आवृत करने वाली Pleural membrane के बीच में स्थित Pleural fluid, हृदय एवं फुप्फुस को परस्पर घर्षण से बचाता है एवं इन्हें अवलम्बन प्रदान करता है। इनके कार्यों से अवलम्बक कफ के कर्मों का सामंजस्य प्रतीत होता है।

अवलम्बक कफ के स्थान[1]—उरस (हृदय एवं फुप्फुस) एवं त्रिक अवलम्बक कफ के स्थान हैं।

अवलम्बक कफ के कर्म[2]—अवलम्बक कफ निम्न कर्म सम्पादित करता है—

(1) अन्न रस के वीर्य से हृदय को बल देना

(2) अपने उदक से शेष कफ के स्थानों को बल देना

(3) उरस में स्थित कफ अपनी शक्ति से त्रिक स्थानों (मेरुदण्ड के दोनों बाहु एवं ग्रीवा के संधि स्थल) को धारण करता है।

अवलम्बक कफ विकृतिजन्य रोग

(1) फुप्फुस के रोग—श्वसनिक ज्वर (Pneumonia), फुप्फुस आवरण शोथ (Pleurisy), कास (Cough) एवं श्वास रोग (Asthma) इत्यादि।

(2) हृदय के रोग—कफज एवं सान्निपातिक हृद रोग, परिहृदयावरण शोथ (Pericarditis), हृदपेशीय शोथ (Myocarditis), हृदविस्फारण (Dislatation of Heart) आदि रोग अवलम्बक कफ की विकृति से उत्पन्न होते हैं।

3) बोधक कफ

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार Parotid glands, Sublingual glands

1. उरस्यवलम्बक संज्ञितस्तस्य कर्माणि रस मांसौज इत्यवलम्बकस्य कर्माणि। (सु.सू. 21/14)
2. उरस्य, स हि स्थितस्य स्वकर्मणा बीर्योष्मणा च स्वमूष्माणं बलमनुवर्तयति, त्रिकस्थं च श्लेष्माणं सर्वचेष्टास्वनुवर्तयति, अवलम्बकसंज्ञकः, श्लेष्मा। (अ.हृ.सू. 12/15)

एवं Mandibular Salivary glands के Secretions से Saliva का निर्माण होता है। इसमें पाये जाने वाले Ptyalin Enzyme, Polysaccharides को तोड़कर उनका पाचन करता है तथा मुखगत पदार्थों को घोलकर स्वाद का ज्ञान कराता है। इनके कार्य बोधक कफ के कर्मों से सामंजस्य रखते हैं।

बोधक कफ के स्थान[1]

बोधक कफ का स्थान जिह्वा मूल एवं कण्ठ हैं।

बोधक कफ के कर्म[2]

(1) जिह्वा में अवस्थित होकर रस का बोध कराना। मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय-इन षडरसों के ज्ञान का कार्य बोधक कफ करता है।

(2) मुख में आये अन्न का विभाजन करना, तथा अन्न को पतला करना।

बोधक कफ विकृति जन्य रोग

(1) मुख की ग्रंथियों के शोथ।

(2) लालास्राव का अधिक निकलना, हृल्लास, मुखशोष, एवं मुखपाक आदि रोग बोधक कफ की विकृति से उत्पन्न होते हैं।

4) तर्पक कफ

जो कफ मस्तिष्क का तर्पण व पोषण करता है वह तर्पक कफ कहलाता है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार Palmatin, Stearin, Olien, Proteolipids आदि उच्च कोटि के Fats हैं जो मस्तिष्क का पोषण करते हैं तथा Cerebrospinal fluid मस्तिष्क को बाह्य आघातों से बचाता है। अतः इनके कार्य "तर्पक कफ" के कर्मों से सामंजस्य रखते हैं।

तर्पक कफ के स्थान[1]

तर्पक कफ का स्थान 'शिर' है।

तर्पक कफ के कर्म[2]— तर्पक कफ निम्न कर्म सम्पादित करता है—

(1) मस्तिष्क का संतर्पण एवं स्नेहन करना

(2) चक्षु एवं ऊर्ध्वजत्रुगत इन्द्रियों का पोषण करके इन्हें अपने कर्म करने में सामर्थ्य प्रदान करना

1. जिह्वामूलकण्ठस्थो जिह्वेन्द्रियस्य सौम्यत्वात् सम्यक् रस ज्ञान करोति। (सु.सू. 21/13)
2. i) रस बोधनात् बोधको रसज्ञस्थानजः। (अ.हृ.सू. 12/17)
   ii) रसादकस्य रसादिभेदात् विभजन विद्धस्य वा द्रवभावः। (आयुर्वेद सूत्र)
3. शिरःस्थः स्नेह संतर्पणोपकृत्स्नादि इन्द्रियप्रसादकर्मणेन्द्रियानुग्रह करोति। (सु.सू. 21/14)
4. i) शिरः श्लेष्मोऽवतर्पणात् तर्पकः। (अ.हृ.सू. 12/17)
   ii) ज्ञानाधिष्ठानोपाय कफ कर्मोपकल्पनम्। (च.सू. 18/57)

Scanned with CamScanner

(3) ज्ञान, विवेक, क्षमा, निर्लोभता, धारणाशक्ति तथा मानसिक शांति प्रदान करना

(4) त्वक्, जिह्वा, घ्राण, नेत्र एवं श्रोत्र को अपनी शक्ति से अनुग्रहीत करना

तर्पक कफ विकृति जन्य रोग

(1) मानस विकृतियां—अविवेक, अशांति, मस्तिष्क दौर्बल्य

(2) खालित्य, पालित्य आदि रोग

(3) चक्षु, नासिका, कर्णस्राव आदि रोग

5) श्लेषक कफ

संधियों में स्थित कफ संधियों का पोषण करता है व उन्हें रगड़ से बचाता है। आधुनिक चिकित्सा शास्त्र में वर्णित Synovial membranes के बीच स्थित Synovial fluid होता है जो संधियों का स्नेहन करता है एवं उन्हें रगड़ से बचाता है। इसके कार्य श्लेषक कफ के कर्मों से सामंजस्य रखते हैं।

श्लेषक कफ के स्थान[1]

समस्त संधियां श्लेषक कफ के स्थान हैं।

श्लेषक कफ के कर्म[2]—श्लेषक कफ निम्न कार्य सम्पादित करता है—

(1) समस्त संधियों का स्नेहन करना

(2) संधियों का पोषण करना, उन्हें स्निग्ध रखना तथा संधियों को दृढ़ता पूर्वक मिलाए (जोड़े) रखना

(3) संधियों को भली प्रकार कार्य करने में सहयोग देना

श्लेषक कफ विकृति जन्य रोग

संधिगत रोग, अस्थिगत, संधिगत, संधिशोथ आदि रोग श्लेषक कफ की विकृति से उत्पन्न हो सकते हैं।

कफ वृद्धि के लक्षण[3]

शरीर में कफ वृद्धि से निम्न लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं—

I) तर्पक कफ वृद्धि

1) तन्द्रा (Drowsiness)

2) निद्राधिक्य (Excessive sleep)

1. मानस, मधु खाने वाले मक्खियां, श्लेष्मला तथा।
2. ये [illegible] श्लेष्मा सांधियों [illegible] सर्वसन्धिगूढ़ करोति।
3. [illegible] मन्दाग्नि, मधुर [illegible]

(सु.शा. 4/35)
(सु.सू. 21/14)
(अ.हृ.सू. 12/17)
(सु.सू. 15/13)

3) गौरव (Heaviness in body)

4) शैथिल्य एवं आलस्य (Laziness)

II) अवलम्बक कफ वृद्धि

1) श्वास रोग (Asthma)

2) कास (Cough)

3) शीत लगना (Feeling of Cold)

III) बोधक कफ वृद्धि

1) प्रसेक (Increased Salivation)

iv) क्लेदक कफ वृद्धि

1) मल, मूत्र, नेत्र एवं त्वचा का वर्ण श्वेत होना (Whitish colour of skin, eyes, urine & stool)

2) अग्निमांद्य (Poor appetite)

v) श्लेषक कफ वृद्धि

1) संधि शैथिल्य (Looseness of Joints)

2) अंग शैथिल्य (Malaise)

3) निश्चलता (Inactivity)

कफ क्षय के लक्षण[1]

शरीर में कफ दोष के क्षय से निम्न लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं—

I) तर्पक कफ क्षय

1) अनिद्रा (Insomnia)

2) रूक्षता एवं शून्यता (Dryness & numbness)

3) दुर्बलता (Weakness)

II) अवलम्बक कफ क्षय

1) अनंदाह (Burning Sensation)

2) हृदद्रव (Palpitation)

III) बोधक कफ क्षय

1) तृष्णा (Thirst)

1. श्लेष्मक्षये रूक्षशून्यतादौर्बल्य अवसादनेन्द्रियाणामुपलेपः संधिशैथिल्यं तृष्णा दौर्बल्यं प्रजागरणं च। (सु.सू. 15/7)

Scanned with CamScanner

iv) क्लेदक कफ क्षय

1) अन्न का क्लेदन न होना (Difficulty in digestion of food)

2) विषमाग्नि (Irregular Appetite)

v) क्लेदक कफ क्षय

1) संधिशैथिल्य (Looseness of Joints)

2. मानस दोष

मन को प्रभावित करने वाले मानस दोष दो हैं[1]—

(i) रज

(ii) तम

वास्तव में मन को प्रभावित करने वाले कारण तीन होते हैं—सत्व, रज एवं तम। सत्व गुण स्वयं विशुद्ध है अतः इसके द्वारा मन में किसी प्रकार का विकार नहीं होता। शेष दोनों गुण रज एवं तम मन को विकृत करते हुये मानस रोग उत्पन्न कर सकते हैं।

मानस विकारों में प्रथम मन विकृत होता है फिर उसके प्रभाव से शारीरिक दोष भी विषम होकर विकृति उत्पन्न करते हैं। यदि मन को विकृत करने वाले कारण समाप्त हो जाते हैं तो मानस विकार स्वयं ही नष्ट हो जाते हैं।

मानस दोषों से उत्पन्न विकार[2]—काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, अहंकार, अभिमान, शोक, विषाद, चिन्ता, हर्ष एवं भय आदि मानसिक विकार हैं जो रज एवं तम दोष की विकृति से उत्पन्न होते हैं[3]।

दूष्य

जो प्रकुपित दोषों द्वारा दूषित होते हैं वे 'दूष्य' कहलाते हैं। धातुएं एवं मल भी प्रकुपित दोष द्वारा दूषित होते हैं अतः यह भी दूष्य कहे जाते हैं।

धातु—"धारणात् धातवः" जो शरीर का धारण करे उसे धातु कहते हैं।

धातुओं के भेद[4]

सप्त धातु संख्या में सात हैं—

1. रस
2. रक्त

1 आयुः सुखायुषोर्हेतवस्तन्त्रस्य च।
2 रजस्तमसी मानसौ दोषौ। तत्र विषादः शोकः क्रोधो भयं हर्षो मानसं च यत्किंचिदन्यदेवंप्रकारं विज्ञानविकल्पादिकं। (च.सू 1/57)
3 तत्र तु [illegible] मानसौ दोषौ रजस्तमसी मतौ। (च.वि 6/6)
4 (अ.ह.सू 1/13)

3. मांस
4. मेद
5. अस्थि
6. मज्जा
7. शुक्र

धातुओं के कर्म[1]—धातुएं शरीर में निम्न कार्य सम्पादित करती हैं—

I) रस धातु

1) तृप्ति करना
2) प्रीणन करना
3) रक्त की पुष्टि करना

II) रक्त धातु

1) वर्ण प्रसादन करना
2) मांस पुष्टि करना
3) जीवन प्रदान करना

III) मांस धातु

1) शरीर का लेपन करना (अस्थिपंजर का लेपन)

iv) मेद धातु

1) स्नेहन करना (शरीर को स्निग्ध बनाये रखना)

v) अस्थि धातु

1) शरीर का धारण करना (शरीर का अवलम्बन)

vi) मज्जा धातु

1) शरीर का पूरण करना (अस्थियों का पूरण)

vii) शुक्र धातु

1) गर्भोत्पादन करना

उपधातु—जो शरीर के धारक व पोषक होते हुए भी अन्य धातुओं के पोषक नहीं होते, अर्थात् सिर्फ धारण करते हैं पोषण नहीं, उन्हें 'उपधातु' कहते हैं।

उपधातु भेद[2]—उपधातुयें संख्या में सात हैं—

1. स्नायु
2. अवनद्ध
3. कण्डरा
4. सिरा
5. त्वचा
6. यकृत
7. स्रोतस

मल—"मलिनी करणात्मलः" जो समय से अधिक रुकने पर शरीर को मलिन करे उसे 'मल' कहते हैं।

1. [illegible] धातवस्तेषां [illegible] धातूनां [illegible] कर्माणि हि। (च.शा 7/134)
2. रसस्तु स्नायु सत्त्वसृक् कण्डराः सिराः। त्वक्छवी यकृत प्लीहा मांसं च मेदसः स्मृतं। (च.चि 15/17)

Scanned with CamScanner

मल के भेद[1]—मल के प्रमुख तीन भेद हैं—

1. मूत्र 2. पुरीष 3. स्वेद

इनके अतिरिक्त कर्ण, नासिका, जिह्वा, नेत्र, त्वचा, शिश्न आदि के मल तथा नख, केश, रोम आदि भी मल कहे जाते हैं।

दोष भी शरीर में दो प्रकार से रहते हैं—

1. सूक्ष्म सार भूत या प्रसाद रूप जो शरीर का धारण व पोषण करते हैं।
2. स्थूल या मल रूप जो धातुओं के मल के रूप में उत्पन्न होते हैं[2]—यथा—

	धातु	सम्बंधित धातु का मल
1.	रस	कफ
2.	रक्त	पित्त
3.	मांस	'ख' मल (कर्ण, जिव्हा, नासिका मल)
4.	मेद	स्वेद
5.	अस्थि	केश, लोम, नख, श्मश्रु
6.	मज्जा	शरीरस्थ स्नेह व नेत्र का विट्
7.	शुक्र	मल नहीं होता।

दोष-धातु-उपधातु व मलों में संबंध

क्र.स.	दोष	धातु	उपधातु	मल	पांच भौतिक संगठन
1.	कफ	रस	स्तन्य-आर्तव	कफ	जल
2.	पित्त	रक्त	कण्डरा-सिरा	पित्त	अग्नि+जल
3.	कफ	मांस	वसा-त्वचा	'ख' मल	पृथ्वी
4.	कफ	मेद	स्नायु	स्वेद	जल+पृथ्वी
5.	वात	अस्थि	-	केश, लोम नख, श्मश्रु	वायु+पृथ्वी
6.	कफ	मज्जा	-	त्वक, स्नेह, नेत्र मल	जल
7.	कफ	शुक्र	-	ओज	जल

1. मल मूत्र शकृच्चेत्यादि च।
2. त्रिदोषमलाश्च त्रिभूतं खलसंज्ञं मलः स्वेदादयोऽपरे। (अ.ह.सू. 1/13)
स्थूल त्रिदोषं ये शास्त्रेष्वमी मलाः स्मृताः। स्रोतोविशुद्धिकरणात्। (च.वि. 15/19-20)

दोष-धातु-उपधातु-मलों की क्षय-वृद्धि

निदान एवं चिकित्सा

शरीर की वृद्धि, क्षय, अतिपुष्टि, अतिकृशता, सुखायु, दुःखायु, हितायु व अहितायु का कारण दोष-दूष्य-मल-ओज-अग्नि ही हैं। स्वभावतः निर्दोष विकृत होकर धातु, उपधातु एवं मलों को दूषित करते हैं, अतः धातु वैषम्य व दोष वैषम्य को ही "व्याधि" या "रोग" कहा जाता है[1]।

दोषादि का प्राकृत परिमाण में एवं प्राकृत गुण युक्त रहकर प्राकृत कर्म करते रहना ही 'साम्यावस्था' या 'स्वास्थ्य' है[2]।

इन दोषादि का विषम या विकृत होना ही 'रोग' या 'अस्वास्थ्य' है[3]। यह वैषम्य निम्न दो प्रकार का होता है[4]—

1. क्षय 2. वृद्धि

दोषादि जब क्षीण होते हैं तब उनके प्राकृत कर्मों का ह्रास हो जाता है एवं विरोधी गुण कर्मों की वृद्धि होती है। जब दोषादि वृद्ध होते हैं तब वे अपने लक्षणों को यथावत् प्रकट करते हैं अर्थात् उनके प्राकृत गुणकर्मों का उनके बल के अनुसार अधिक्य हो जाता है[5]। दोषों की गति निम्न तीन प्रकार की होती है[6]—

1. क्षय 2. वृद्धि 3. स्थान (सन)

क्षय—दोष, धातु व मलों के क्षीण होने पर उनके स्वाभाविक (प्राकृत) गुणकर्मों का ह्रास होता है एवं विरोधी गुण कर्मों की वृद्धि होकर व्याधि उत्पन्न होती है।

वृद्धि—दोष, धातु व मलों की वृद्धि होने पर उनके स्वाभाविक (प्राकृत) गुण कर्मों की वृद्धि होकर व्याधि उत्पन्न होती है। यह क्षय वृद्धि निम्न दो प्रकार से होती है—

(i) चय या संचय (ii) प्रकोप

(i) चय या संचय

दोष का अपने प्राकृत या स्वाभाविक स्थान पर रहकर ही बढ़ना 'चय' या 'संचय' कहलाता है[7]। जैसे—पक्वाशय में वायु का, नाभिप्रदेश में पित्त का एवं आमाशय में कफ का संचय होता है।

1. विकारो धातु वैषम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते। सुख संज्ञकमारोग्यं विकारो दुःखसंज्ञक च। (च.सू. 9/4)
2. दोषाः समाग्नयः समधातुमलक्रियाः। प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते। (सु.सू. 15/41)
3. रोगस्तु दोष वैषम्यं दोषसाम्यमरोगता। (अ.ह.सू. 1/20)
4. क्षयवृद्धि समासेन च सर्वविकल्पं विद्यात्। विद्यात् पञ्चदशैवं च प्रकृतीनां न प्रकृतिषु कर्मसु। (च.वि. 28/247)
5. i) दोषः प्रकृतः स्वं लिङ्गं दर्शयति यथाबलम्। क्षीणः क्षीणे लिङ्गं स्वं, वृद्धः स्वं कर्म कुर्वाणः। (च.सू. 17/62)
ii) यावो हिता यत्के चैव क्षीणे क्षयवृद्धयो। कर्मणः प्राकृतस्यापि वृद्धिक्षयावपि विशेषिकाः। (च.सू. 28/52)
6. क्षयः स्थानं च वृद्धिश्च दोषाणां त्रिविधा गतिः। (च.सू. 17/112)
(अ.ह.सू. 12/22)
7. चयो वृद्धि स्वधाम्नेव...।

Scanned with CamScanner

वात संचय का लक्षण— कोष्ठस्तब्धता, उदर में पूर्णता की प्रतीति

पित्त संचय का लक्षण— पीतावभासता एवं मंदोष्मता

कफ संचय का लक्षण— अंगगौरव एवं आलस्य

व्यक्ति को जिन कारणों से दोष चय हुआ है उनके प्रति द्वेष होता है अर्थात् उनके सेवन की अनिच्छा होती है[1]। आधुनिक जीवाणु विज्ञान में वर्णित Incubation Period से संचयावस्था का सामंजस्य स्थापित किया जाता है।

(ii) प्रकोप

संचित दोष जब अधिक बलपूर्वक प्रकुपित होकर उन्मार्गी हो जाते हैं एवं स्वस्थान से अन्य स्थान की ओर जाने की तैयारी करते हैं तब उस अवस्था को 'प्रकोप' कहते हैं[2]। यथा—

वात प्रकोप का लक्षण— कोष्ठ में सुई चुभने की प्रतीति, उदर में वायु का संचय।

पित्त प्रकोप का लक्षण— अम्लोद्गार, प्यास की अधिकता एवं परिदाह।

कफ प्रकोप का लक्षण— अन्नद्वेष, हृदयोत्क्लेद।

अतः धातु-उपधातु एवं मलों को भी दोष दूषित करते हैं[3]।

(iii) समावस्था

स्वस्थान पर दोष जब सम अवस्था में रहता है तब संहिताओं में उसके साम्य के जो कर्म एवं लक्षण कहे गये हैं वे प्राकृत रूप में होते हैं। अन्य स्थानगत (स्थानान्तर गमनगत) सम दोष भी रोगोत्पादक होता है[4]। इसे 'आशयापकर्ष' कहते हैं।

क्षय के सामान्य निदान

विभिन्न दोष, धातु, उपधातु, ओज व मलों के क्षय या क्षीण होने के निम्न हेतु या कारण हैं[5]—

1) आहार विषयक निदान

i) अतिरुक्ष अल्प भोजन करना

1. [illegible] वृद्धि हेतु।
2. [illegible]।
3. तेषां कर्मविशेषेण यदा पित्तं शरीरगाः दुष्यन्ति दूषयन्ति वा, तदा दूष्यशब्दवाच्यम्॥ (अ.हृ.सू. 12/22)
4. प्रकृतिस्थानि तत्रस्थानि भावतः सदृशान्यपि। स्थानान्तराणि यान्येषु तत्र-तत्र विशेषतः॥ (अ.हृ.सू. 12/23)
5. तत्र पंचविध [illegible] (च.शा. 6/38)
   i) व्यायामोऽनशनं चिन्ता रूक्षान्नपानमेव च। ... (च.सू. 17/45-46)
   ii) क्षय हेतु विशेषतः। (च.सू. 17/76)
   (च.सू. 1/43)

ii) प्रमिताशन या एकरसाभ्यास

iii) अनशन या उपवास, अतिलंघन करना

iv) रूक्ष भोजन पान

2) विहार विषयक निदान

i) अति व्यायाम करना

ii) तीव्र हवा व धूप में बैठना

iii) आदानकाल प्रभाव

iv) रात्रि जागरण

3) मानसिक निदान

i) अति चिन्ता करना

ii) भय व शोक की अवस्था

iii) अति क्रोध करना

4) विकृति जन्य निदान[1]

i) भूतोपघात (Infection)

ii) कफ-रक्त-शुक्र-ओ मलों का अतिमात्रा में निकलना यथा राजयक्ष्मा, रक्तपित्त

5) अवस्थाजन्य निदान

i) वृद्धावस्था में वायु की प्रधानता (Senile degeneration)

त्रिदोष क्षय चिकित्सा

शरीर में वात-पित्त-कफ के क्षय होने पर स्वयोनिवर्धक आहार-विहार का सेवन करना चाहिये[2] जो निम्न प्रकार है—

वात क्षय चिकित्सा—कटु-तिक्त, कषाय रस प्रधान, रूक्ष, लघु, सूक्ष्म एवं शीत गुण प्रधान द्रव्यों का प्रयोग (यथा-मुद्ग, मटर, कलाय, जांगल मांस रस) करना चाहिये। जो भी द्रव्य वात प्रकोपक हैं उनका प्रयोग वात दोष की सम अवस्था आने तक करना चाहिये[3]।

1. कफ संक्षिप्त शुक्रस्य मलस्य च विशेषतः। काले भूतोपघातस्य क्षयस्य हेतवः॥ (च.सू. 17/77)
2. तत् स्वयोनिवर्धनमेव प्रयोजयेत्। (सु.सू. 15/8)
3. मारुतेऽपि कटुतिक्त कषाय रसलघूष्णार्थं। (च.शा. 6/11)

Scanned with CamScanner

पित्त क्षय चिकित्सा—पित्त क्षय की अवस्था में आग्नेय महाभूत प्रधान द्रव्य, आहार, विहार एवं औषध का प्रयोग करना चाहिये।

कफ क्षय चिकित्सा—श्लेष्माक्षय की अवस्था में श्लेष्मवर्धक आहार-विहार एवं औषध द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये। इस अवस्था में पृथ्वी व जल महाभूत प्रधान संतर्पण चिकित्सा प्रयुक्त करना भी प्रशस्त है।

त्रिदोष वृद्धि-निदान एवं चिकित्सा

1. वातदोष

वात प्रकोपक (वृद्धि) निदान—वात प्रकोप के सामान्य हेतु (निदान) निम्न हैं[1]—

अ) आहारज निदान

i) कटु-तिक्त-कषाय रस प्रधान पदार्थ अति सेवन

ii) रुक्ष-लघु अन्न पदार्थ सेवन

iii) शीतवीर्य द्रव्य सेवन

iv) अनशन, विषमाशन, अध्यशन एवं प्रजिताशन

v) चना, मटर, मसूर अतिसेवन

ब) विहारज निदान

i) अति व्यायाम व अति व्यवाय

ii) लंघन या उपवास

iii) प्लवन (Excessive swimming), प्रपतन (Falling) व अभिघात

iv) रात्रि जागरण

v) वेग विधारण

vi) गजाश्व-रथातियर्या अर्थात् घोड़ा-हाथी आदि की सवारी करना एवं अधिक पैदल चलना।

स) मानसिक निदान

i) अतिशोक-चिन्ता-भय-लोभ व ग्लानि

1 ...

(च.वि. 28/15-16)

...

(सु.सू. 21/39)

द) अन्य निदान

i) रक्त स्राव ii) धातु क्षय

iii) वर्षा ऋतु iv) वृद्धावस्था v) रात्रिकाल

वात दोष वृद्धि की चिकित्सा

वात दोष वृद्धि में निम्न चिकित्सासूत्र अपनाने चाहियें[2]—

(i) स्नेहन स्वेदन के पश्चात् मृदु संशोधन

(ii) निरूह व अनुवासन बस्ति प्रयुक्त करें

(iii) नस्यकर्म, गण्डूष, धूमपान, शिरोबस्ति दें

(iv) अभ्यंग, मर्दन, वेष्टन करें

(v) मधुर-अम्ल-लवण रस युक्त उष्ण व स्निग्ध भोजन दें

2. पित्तदोष

पित्त वृद्धि के निदान—पित्त प्रकोप व वृद्धि के सामान्य निदान निम्न हैं[1]—

अ) आहारज निदान

i) कटु, अम्ल, लवण, क्षार, तीक्ष्ण, उष्ण, विदाही अन्न-पान का अधिक सेवन

ii) अध्यशन

iii) तिल, अलसी, कुलत्थी, सर्षप, दधि, सुरा अतिसेवन

iv) हरितशाक, गोधा, मत्स्यमांस, तक्र, खट्टी का अति सेवन पित्त प्रकोपक है।

ब) विहारज निदान

i) अति आताप सेवन ii) अति स्त्री प्रसंग iii) अति परिश्रम

स) मानसिक निदान

i) क्रोध ii) शोक iii) भय

iv) ईर्ष्या v) द्वेष

1 ... (सु.चि. 4/21-26)

2 ... (सु.सू. 23/21)

Scanned with CamScanner

द) अन्य निदान

i) मध्यान्ह काल ii) मध्यावस्था iii) शरद ऋतु

पित्त दोष वृद्धि की चिकित्सा—पित्त दोष वृद्धि की अवस्था में निम्न चिकित्सा सिद्धान्त अपनाने चाहियें—

(i) विरेचन व रक्तमोक्षण कर्म

(ii) शीत प्रदेह, परिषेक व अभ्यंग

(iii) मधुर-तिक्त, कषाय रस प्रधान एवं शीत द्रव्य सेवन

(iv) क्षीर व घृत का प्रयोग

(v) पित्तशामक द्रव्यों यथा-चन्दन, हीबेर, मुक्ता, प्रवाल आदि का प्रयोग करें

3. कफ दोष

श्लेष्मा (कफ) वृद्धि के निदान—श्लेष्मा वृद्धि के निम्न सामान्य निदान हैं—

अ) आहारज निदान

i) मधुर-अम्ल-लवण रस युक्त पदार्थों का अति सेवन

ii) शीत-स्निग्ध-गुरु-पिच्छिल-अभिष्यन्दि पदार्थ अति सेवन

iii) अध्यशन, समशन, अग्निमांद्य

iv) नवान्न सेवन, इक्षुरस व गुड़विकार सेवन

v) दधि व क्षीर विकार अति सेवन

vi) माष, राजमाष, तिलपिष्ट, सिंगाड़ा, बल्लीफल आदि का अतिसेवन

ब) विहारज निदान

i) दिवास्वाप ii) अतिस्वप्न

iii) अव्यायाम iv) आलस्य

1. अ) तं मधुर लवणाम्लैरुपक्रमेत स्नेहविरेचनदेहपरिषेकाभ्यङ्गादिभिः पित्तहरे मात्रां कालं.... च.सू. 20/16)
   ब) स्नेहनं पित्तहरणं च। (च.सू. 23/39)
   स) पित्तस्य मरुतः पक्वं स्वादुतिक्तैर्विरेचनम्। स्वादुतिक्त कषायाणि भोजनान्यौषधानि च॥
   ..... सर्पिर्विरेकश्च पित्तजित्॥ (अ.हृ.सू. 13/4-9)
2. अ) दिवास्वप्नाव्यायामात्तरक्तपित्तकफप्रकोपजागरविदाहाजीर्णाभिष्यन्दि.....
   प्रसेकमाहारे॥ (सु.सू. 21/23)
   ब) स्वादुम्ल लवण स्निग्ध गुर्वभिष्यन्दि शीतलैः। आस्यास्वप्नसुखाजीर्णदिवास्वप्नरतिं भृशम्॥
   प्रच्छर्दनप्रसेकेन मुखमाध्यवलम्बनौ। पूर्वह्ण पूर्वाह्णे च श्लेष्मा हृद्ग च शोकरान्॥ (अ.हृ.नि. 11/17-19)
   स) ते शांते शीतकाले च ...तोषकः। पूर्वह्ण च प्रदोषे च भुक्तमात्रे प्रकुप्यति॥ (सु.सू. 21/24)

v) गुरुशय्यासि सेवन vi) रज-धूम सेवन

स) मानसिक निदान

i) हर्ष ii) संतोष

iii) अचिन्ता iv) तमोगुण प्रधानता

य) अन्य निदान

i) बाल्यावस्था ii) वसंत ऋतु

iii) प्रातःकाल iv) भोजनोपरांत

श्लेष्मा दोष वृद्धि की चिकित्सा

श्लेष्मा दोष वृद्धि की अवस्था में निम्न चिकित्सा सिद्धांत अपनाने चाहियें-

i) स्वेदन, वमन व शिरोविरेचन कर्म प्रयोग

ii) तीक्ष्ण विरेचन प्रयोग

iii) आकाश, वायु व अग्निमहाभूत प्रधान द्रव्यों का प्रयोग

iv) कटु-तिक्त-कषाय रस, तीक्ष्ण, ऊष्ण, रूक्ष, गुण युक्त द्रव्यों का सेवन

v) व्यायाम, रूक्ष उद्वर्तन का प्रयोग

vi) पंचकोल, त्रिफला, वल्लीपंचमूल द्रव्यों का प्रयोग

सप्तधातु के क्षय-वृद्धि-निदान, लक्षण व चिकित्सा

धातु के समान गुण वाले देश, काल, आहार, विहार, व औषध के सेवन से उस धातु की वृद्धि होती है। यह नियम दोष व मल पर भी लागू होता है। इसके विपरीत गुणवाले देश, काल, आहार, विहार व औषध सेवन से उस धातु, दोष व मल का क्षय होता है। कारण समान गुण वाला होने से एक द्रव्य की वृद्धि करता है एवं विपरीत गुण वाले अन्य द्रव्य को क्षीण करता है। जो कारण विपरीत गुण युक्त होने से एक द्रव्य (दोष, धातु, मल) को क्षीण करता है वह अपने समान गुण वाले द्रव्य की वृद्धि करता है[1]।

1. अ) वमन श्लेष्महरणं लेहनम्। (च.सू. 25/39)
   ब) तं कटुतिक्तकषायोष्णैरन्नपानैरुपक्रमेत् स्नेहवमनशिरोविरेचनव्यायामादिभिः-
   श्लेष्महरैर्यथाकालं.....महति। (च.सू. 20/19)
   स) श्लेष्मणां कारणकटुतिक्तकाः। (च.सू. 1/66)
   द) प्रवीतवातातपः कफम्। (अ.हृ.सू. 1/14)
2. अ) जायते हेतुवैषम्यादुपमा देहधातवः। हेतु साम्यात् समास्तेषां स्वभावोत्तरः सदा॥ (च.सू. 16/27)
   ब) सर्वेषां सर्वभावानां सामान्य वृद्धि कारणम्। ह्रास हेतु विशेषश्च..... (च.सू. 1/44)

Scanned with CamScanner

विषम हेतुओं का त्याग तथा सम हेतुओं के सेवन से दोष-धातु मल विषमता को प्राप्त नहीं होते हैं तथा शरीर धातुओं में साम्यता बनी रहती है[1]।

दोष-धातु-मल-आश्रय-आश्रयी संबंध[2]

दोष	धातु	मल
वात	अस्थि	-
पित्त	रक्त	स्वेद
कफ	रस, मांस, मेद, मज्जा व शुक्र	पुरीष-मूत्र

उपर्युक्त तालिका में वात दोष व अस्थि धातुओं को छोड़कर शेष सभी दोष-धातु मल (आश्रय-आश्रयी) सामान्य-विशेष सिद्धांत का पालन करते हैं। वातवर्धक आहार-विहार व औषध सेवन से अस्थि धातु का क्षय होता है इसके विपरीत अस्थि वर्धक द्रव्य सेवन से वात क्षय होता है। अतः आश्रय-आश्रयी संबंध से स्पष्ट है कि दोष धातु-उपधातु व मल आपस में संबंध रखते हैं।

सप्त धातुओं के प्राकृत-क्षय व वृद्धि के लक्षण

धातुओं के प्राकृत गुण कर्म, उनके क्षय होने पर उत्पन्न लक्षण व वृद्धि होने पर उत्पन्न लक्षणों को निम्न सारणी द्वारा प्रदर्शित किया गया है—

धातु	प्राकृत कर्म व लक्षण	क्षय लक्षण	वृद्धि लक्षण
रस[1]	प्रीणन, तुष्टि, तर्पण, रक्त पुष्टि[a]	शब्द असहिष्णुता, हृदद्रव (Palpitation), हृत्पीड़ा (Angina), ग्लानि, क्लम, शून्यता, श्रम, तृष्णा, शोष, प्राकृत कर्म ह्रास, रक्तादि धातु अपचय आदि[a] [b]।	अग्निमांद्य, प्रसेक, उत्क्लेद, आलस्य, गौरव, शैत्य, कास, श्वास, शैथिल्य अतिनिद्रा आदि[a] [b] [c]।

1. स्वस्थवृत्तमनो दूषयन्ति व्याधयश्चोपजायन्ते। विषमा ह्यनुपशयिनो जायन्ते धातवः समाः॥ (च.सू. 16/36)
2. प्रकृतिभूतं विकृतिभूतं पुनर्विकृतिप्रत्यनीकभूतं च। यथायोगमुपदेक्ष्यामः.....॥ (अ.हृ.सू. 11/26-28)
   a) रसप्रीतिर्हृदयं रक्तपुष्टिश्च कर्मणी। (सु.सू. 15/4)
   b) सप्तधा हीयमानेषु वक्ष्यमाणेषु हेतुषु। (सु.सू. 15/9)
   c) धातूनां हीयमानानां शून्यता। हृदयं तापस्तृष्णा स्वप्नाशक्तिरपि तथाधिके॥ (च.सू. 17/64)
   d) रक्तक्षयादिह प्रायो वातोऽतीव प्रकोपमेत्। (सु.सू. 15/14)
   e) रसेष्वतिप्रवृद्धेषु प्रसेकोऽन्नस्य दर्शनम्। ऊर्ध्वकोष्ठगुणाह्लादं श्लाघनं मार्दवं वदेत्॥ (अ.हृ.सू. 11/7)

धातु	प्राकृत कर्म व लक्षण	क्षय लक्षण	वृद्धि लक्षण
रक्त[1]	जीवन, वर्णप्रसादन मांस पुष्टि[a]	रक्ताल्पता (Anaemia) त्वक्कृष्णता, त्वक्रूक्षता, त्वक् म्लानता, शिराशैथिल्य, त्वक् म्लानता, अक्षिमांद्य, शिराकम्प, भ्रम, तिमिर, अधिर्य, तृष्णा, पाण्डु, संज्ञानाश, दौर्बल्य आदि[a] [b]।	शिराग्रहता (Hypertension), त्वक्-नेत्र रक्तिमा, कुष्ठ, विसर्प वातरक्त, रक्तपित्त, कामला, विद्रधि, प्लीह वृद्धि (Splenomegaly) मूर्च्छा आदि[a] [b]।
मांस[1]	शरीरपुष्टि, मेद पुष्टि, अस्थि, स्नायु, नाड़ी एवं सिरा की रक्षा करना[a]	स्फिक्-गण्ड-ओष्ठ, शिश्न, वंक्षण, ग्रीवा, कक्षा उरु, उदर में शुष्कता, शरीर में रूक्षता, तोद, अंग फटकवट, धमनी शैथिल्य, संधिवेदना संधिस्फुटन, नेत्र म्लानि भार क्षम आदि[a] [b]।	स्फिक्-गण्ड-ओष्ठ शिश्न, उरु, बाहु, जंघा आदि अंगों की स्थूलता, शरीर में गुरुता, अधिमांस, अर्बुद ज्वर, ओष्ठ प्रकोप, मांसलता आदि[a] [b]।
मेद[1]	स्नेहन, स्वेदन, शरीर की दृढ़ता, मार्दवता	प्लीहा वृद्धि संधिशून्यता, रूक्षता,	स्निग्धाङ्गता, उदर पार्श्व वृद्धि, श्वास-कास,

1. a) रक्तं वर्णप्रसादं मांसपुष्टिं जीवयति च। (सु.सू. 15/4)
   b) शैथिल्यादपि त्वक्कृष्णताम्लताऽतिप्रवृद्धत्वं सिराशैथिल्यं च। (सु.सू. 15/9)
   c) परमा स्मृतिरिता मतस्य रक्तसंक्षये। (च.सू. 17/65)
   d) रक्तं रक्तावृतत्वात् सिराः पूरयति च। (सु.सू. 15/14)
   e) रक्तं विमर्दोऽतिविदाहि। कुष्ठपित्तासृग्वातरक्तसमुद्भवैरुपद्रवकल्पनाः।
      अनुक्तापि तत्कल्पैरुपद्रवैरुपद्रुतः॥ (अ.हृ.सू. 11/8)
2. a) मांसे शरीरपुष्टिं मेदसश्च। (सु.सू. 15/4)
   b) मांसक्षये स्फिग्गण्डौष्ठोपस्फोटनम्, कक्षाग्रीवोदरशुष्कता, रौक्ष्यमतीव, सदनं सन्धीनां च। धमनीशैथिल्यं च। (सु.सू. 15/9)
   c) मांसक्षये ऽतिशोषः सिराणामतीवोदरशुष्कता। (च.सू. 17/65)
   d) मांसे अतिवृद्ध स्फिग्गण्डौष्ठोपस्फोटजङ्घोरुशुष्कतानुपचयपूतिमांसत्वं च। (सु.सू. 15/14)
   e) मांसे मांसदूषणविकाराश्चोदरपूतिताः। कण्डरादिसंधिसंक्षयं च ..... ॥ (अ.हृ.सू. 11/10)
3. a) मेदः स्नेहस्वेदौ दृढत्वं पृथुसन्धित्वं च। (सु.सू. 15/4)
   b) मेदसश्चये स्फोटसंवृद्धिः सन्धिशून्यता दौर्बल्यं मेदुरमांसत्वं च॥ (सु.सू. 15/9)
   c) मांसेन समुदरं [illegible] मेदसि श्वासः कासो मांसे स्थूलं उदरम् च॥ (च.सू. 17/66)
   d) अत्यर्थमपि मांसे। श्वास [illegible] मेदसि सम्भवम्। (अ.हृ.सू. 11/11)
   e) [illegible] (सु.सू. 24/9)

Scanned with CamScanner

धातु	प्राकृत कर्म व लक्षण	क्षय लक्षण	वृद्धि लक्षण
	एवं अस्थि पुष्टि	मांस खाने की इच्छा, संधिस्फुटन, कृशता, ग्लानि, श्रम, उदरतनुत्व, प्राकृत कर्म का ह्रास आदि	दौर्गन्ध्य, शुद्धवात, मेदस्विता, अल्पायु, शुष्कता, पिपासा, निद्रालुता मैथुनअशक्ति, प्रमेह, अर्श, वातरोग, अतिस्थौल्य, अतिस्वेद आदि॥
अस्थि[1]	देह धारण एवं मज्जा पुष्टि आदि[2]	अस्थिशूल, संधिशूल, अस्थि शिथिलता केश-लोम-नख-श्मश्रु रोमादि का गिरना व थकावट आदि[3] (क)।	अध्यस्थि, अधिदन्त केश व नख-अति वृद्धि आदि[4] (ख)।
मज्जा[1]	शरीर स्नेहन, बल सम्पादन, शुक्र पुष्टि अस्थि पूरण आदि[2]	अल्पशुक्रता, पर्वभेद अस्थि छिद्रता, अस्थि-निस्नेह, भ्रम, तिमिर, तम, वात रोग व प्राकृत कर्म ह्रास आदि[3] (ग)।	सर्वाङ्ग व नेत्र में गौरव, तमोदर्शन, भ्रम, मूर्छा, अस्थि पर्व पर व्रण उत्पत्ति आदि[4] (घ)।
शुक्र[1]	धैर्य, च्यवन, प्रीति, दौहृद, हर्ष आदि। एवं अस्थि पुष्टि[2]	दौर्बल्य, मुखशोष, पाण्डु, सदन, श्रम, क्लैब्य, शुक्र का देर से स्राव, मेढ्र-वृषण वेदना, शुक्र रक्तता आदि[3] (ङ)।	शुक्राश्मरी, शुक्र अति प्रवृत्ति, स्वप्नदोष, मैथुन की अति इच्छा, शुक्र प्रदोषज विकार आदि[4] (च)।

1. a. अस्थीनि देहधारणं मज्जः पुष्टिं च कुर्वति। (सु.सू. 15/4)
   b. अस्थ्यादीनां पुष्टिकृत्वं तत्क्षयलक्षणहेतवो धैर्यं च। (सु.सू. 15/9)
   c. केशलोमनखश्मश्रु द्विजरुग्वर्षं क्रमः। वैषम्यमस्थि पर्वसु सिद्धः सन्धिशैथिल्यमेव च॥ (च.सू. 17/67)
   d. मज्जधेदःप्रसादकृत्वं पर्वभेदोऽस्थिसंक्षयोऽस्थिशून्यत्वं च। (सु.सू. 15/14)
   e. संक्षयः इव पर्वभेदो दुर्बलत्वं ग्लानिश्च। प्रकर्षं चास्योपलभ्य धीमान् मज्जानं देहिनाम्॥ (सु.सू. 15/9)
   f. अस्थ्यादिमूलं मार्दवं च कर्तव्यं च। (च.सू. 17/68)
2. a. शुक्रमायुः मेढ्रवृषणयोर्वेदनाशुक्रक्षयोऽस्थिमज्जक्षयश्च। (सु.सू. 15/14)
   b. दौर्बल्यं मुखशोषश्च पाण्डुः सदनं श्रमः। क्लैब्यं शुक्रक्षयश्चाल्पशुक्रदर्शनम्॥ (सु.सू. 24/15)
   c. शुक्रं आयुश्च शुक्रवहानां मेढ्रं वृषणौ च। (सु.सू. 15/9)
   d. अस्थि[illegible] शुक्रक्षयलक्षणम्॥ (च.सू. 17/69)
   e. [illegible] (सु.सू. 15/14)
   f. [illegible] (अ.हृ.सू. 11/12)

उपधातु क्षय वृद्धि लक्षण

रस धातु से स्तन्य व आर्तव, रक्त धातु से कण्डरा-सिरा, मांसधातु से वसा-त्वचा एवं मेद धातु से स्नायु उपधातु की उत्पत्ति होती है। उपधातुओं के क्षय-वृद्धि के लक्षण निम्न प्रकार वर्णित हैं-

उपधातु	क्षय लक्षण	वृद्धि लक्षण
स्तन्य	स्तनम्लानता, क्षीरक्षयता, क्षीर अनुत्पत्ति[1]	स्तनों का विशाल-स्थूल होना, बार-बार क्षीर प्रवृत्ति, स्तन में पीड़ा[2]
आर्तव	उचित काल में आर्तव स्राव न होना, अल्प मात्रा में अल्प काल के लिये स्राव होना, योनि प्रदेश में वेदना[3]	आर्तव अतिप्रवृत्ति (रक्त-प्रदर), अंगसदं, दौर्बल्य, दाह, पाण्डु एवं दुर्गन्ध[4]
कण्डरा सिरा स्नायु[5]	प्रदोषज विकार, स्तम्भ ग्रन्थि, स्फुरण, सुप्ति	संकोच, खल्ली आदि विकार

मलों के क्षय-वृद्धि लक्षण

शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य की स्थिति बनाये रखने के लिये मलों का सम्यावस्था (प्राकृतावस्था) में रहना आवश्यक है क्योंकि दोष-धातु-मल ही शरीर के मूल कारण हैं। आचार्य सुश्रुत ने स्वस्थ की परिभाषा में "समधातु मल क्रियः" कहकर इसकी महत्ता चर्चित की है। बाहुल्यता के आधार पर केवल पुरीष, मूत्र व स्वेद का ही वर्णन शास्त्रों में मिलता है। अतः मलों के क्षय वृद्धि एवं सम्यावस्था लक्षणों का ज्ञान श्रेष्ठ चिकित्सक को होना चाहिये जो कि निम्न तालिका में वर्णित हैं—

मल	क्षय लक्षण	वृद्धि लक्षण
पुरीष	हृदय, पार्श्व व आंत्र में पीड़ा, उदर में आंत्रकूजन, शब्द के साथ वायु का ऊर्ध्व, अधः एवं	कुक्षि शूल व आटोप, आध्मान, कुक्षि में भारीपन, आंखों में गुड़गुड़ाहट, शरीर में भारीपन

1. रसाद्धये स्तन्यसंज्ञितस्य स्तन्यक्षयेऽपचयस्तत्प्रजस्य च (सु.सू. 15/12)
2. स्तन्यं स्तनयोर्जातेस्तन्यं पुनर्पुनः प्रवृत्तिः गौरवं च (सु.सू. 15/16)
3. आर्तवक्षये चार्तवदर्शनाभावोऽर्तवस्यल्पता वा योनिवेदना च। (सु.सू. 15/12)
4. आर्तवस्यातिवृत्तिः अगमर्दनं तत्प्रवृत्तिः दौर्गन्ध्यं च। (सु.सू. 15/16)
5. स्नायुसिरा कण्डराक्षये पुनः क्षिप्तमिति व्याख्यम्।
   रसप्रसादोद्भवास्तेऽपि पुष्टिस्निग्धपुरस्कृताः॥ (च.सू. 28/21)

Scanned with CamScanner

मल	क्षय लक्षण	वृद्धि लक्षण
	तिर्यक् गमन, आध्मान, कुक्षि में शूल व भारीपन आदि[1]	आदि[2]
मूत्र	अल्पमूत्रता (Oliguria) वस्तिशोद, मूत्रकृच्छ्र (Dysuria) अतितृष्णा, मुख-शुष्कता, मूत्र वैवर्ण्य आदि[3]	मूत्राधिक्य (Polyuria), मूत्र स्राव की बार-बार प्रवृत्ति, वस्तिशोद, आध्मान[4]
स्वेद	रोमकूप अवरोध, स्तब्ध-रोमकूपता, त्वक् रूक्षता, त्वक् स्फुटन, स्वेदज्ञान अभाव, रोमपतन आदि[5]	त्वक् दौर्गन्ध्य, कण्डू, अतिस्वेद, रोमहर्ष आदि[6]

अन्य मलों के क्षय होने पर उन-उन मलों के आयतन (आशय) की शून्यता प्रतीत होती है। वह आशय लघु, रूक्ष तथा शुष्क हो जाता है। मल वृद्धि होने पर उन-उन मलायतनों में भारीपन प्रतीत होता है[7]।

दोष-धातु-मलों-उपधातु के क्षय-वृद्धि में प्रयुक्त सामान्य चिकित्सा सूत्र

(1) वृद्ध दोष-धातु व मल का ह्रास कर, क्षय या क्षीण दोष-धातु-मल को वृद्धकर एवं आवृत दोषों के आवरण को दूर कर साम्यावस्था में लाने का प्रयास करना चाहिये[8]।

(2) विपरीत हेतुओं के त्याग व सम हेतुओं के निरन्तर सेवन से दोष-धातु-उपधातु व मल विषमता को प्राप्त नहीं होते हैं। विषमता को प्राप्त दोष साम्यावस्था में पहुँचकर शरीर को स्वस्थ बनाये रखने में सहायता करते हैं[9]।

1. पुरीषवहे स्रोतसी तोदः स्तब्धगुदत्वं च आध्मानपरिकर्तनं कुक्षौ संवरणं च॥ (सु.सू. 15/11)
2. ६ कुक्षावाध्मानमाटोपं दोषं पैत्तिकं सकृत्। (अ.हृ.सू. 11/13)
3. ८ पुरीषदर्शनं कुक्षौशूलं च। (सु.सू. 15/15)
4. ९ मूत्रस्य मूत्रकृच्छ्रता मूत्रवैवर्ण्यमेव च। विपरीतं चापरे सर्वं मूत्रे च परिमुह्यति॥ (सु.सू. 15/11)
5. ७ स्वेदस्य स्वेदोपजननं च स्तब्धरोमता, स्वेदाज्ञानम्, स्वेदनाशश्च। (च.सू. 17/71)
6. स्वेदस्यापि दौर्गन्ध्यं कण्डूं च॥ (सु.सू. 15/15)
7. एवं च तत्तदेव पूर्वकारणैरीरितं धातुं बहुलमुपलभ्यते तदेव:। (सु.सू. 15/11)
8. दोषः दोषं धातुसमं धातुं मूत्रपुरीषे तथा मलं हन्यात्। (अ.हृ.सू. 11/12)
9. स्थानात् विपरीतगतं संशोषणं क्षयं वृद्धिं च दोषधातुमलानां विद्यात्। विपरीतगुणैश्चैषां प्रयोगः शमनं प्रति॥ (सु.वि. 33/3)
(च.सू. 16/36)

(3) समान गुणधर्मों के सेवन से क्षीण धातुओं की वृद्धि एवं विपरीत गुण सेवन से वृद्ध धातु साम्यावस्था में आती हैं[1]।

(4) वृद्ध पूर्वधातु अपनी-अपनी अग्रिम धातुओं को बढ़ाती हैं[2]।

(5) आचार्य सुश्रुतानुसार बढ़े हुए दोष-धातु पूर्व मलों को अपने-अपने संशोधन, संशमन तथा क्षय में अविरुद्ध अनुकूल क्रिया विशेष प्रयुक्त करनी चाहिए[3]।

(6) दोष-धातु मल के क्षय होने पर स्वभोजनविधिपूर्वक आहार-विहार का सेवन करने से ये साम्यावस्था में आते हैं[4]।

उपधातु क्षय-वृद्धि की चिकित्सा

(i) स्तन्य उपधातु के क्षय होने पर श्लेष्म वर्धक द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये[5]।

(ii) स्तन्य वृद्धि होने पर संशोधन द्वारा (Through Breast Suction Pump) क्षीर निकालना चाहिये। स्तनों पर रक्तहर द्रव्यों का लेप लगाना लाभप्रद होता है।

(iii) आर्तवक्षय होने पर संशोधन कर्म (वमन, विरेचन कर्म आदि) एवं आग्नेय द्रव्यों (तिल, मांस, सुरा आदि) का प्रयोग करना चाहिये[6]।

(iv) आर्तव वृद्धि होने पर पित्त का रक्तस्रावक उपचार करना चाहिये। स्राव हो रक्तस्तम्भक चिकित्सा भी लाभप्रद होती है।

मलों की क्षय-वृद्धि चिकित्सा

1. पुरीष क्षय होने पर स्वभोजनविधिपूर्वक व समान गुण धर्मी द्रव्य यथा कुल्माष, उड़द, यव, शाक, धान्याम्ल का प्रयोग लाभप्रद होता है[7]।
2. पुरीष वृद्धि की अवस्था में मल विरेचक, विबंधहर द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये।

1. सामान्यगुणधर्मत्वे हि धातूनां वृद्धिकारणमिष्टम्। प्रकोपविपर्यये हि धातूनां प्रशमकारणमिष्टम्॥ (च.सू. 12/5-6)
2. पूर्वो धातुः परं कृत्स्नं बृंहयति॥ (अ.हृ.सू. 11/35)
3. तेषां समानं संशोधनं क्षयाणां च व्याधिविरुद्धैः क्रियाविशेषैः प्रयुञ्जीत॥ (सु.सू. 15/17)
4. तानपि स्वयोनिविपर्ययोपशयादेव क्षयः। (सु.सू. 15/10)
5. तत्र श्लेष्मलाश्च स्तन्योपयोगः। (सु.सू. 15/12)
6. ० तत्र संशोधनमार्तवस्य च हरणमग्निविपरीतगुणैः। (सु.सू. 15/12)
७ रक्तपित्तप्रशमनक्रियाश्चात्र शीतसर्पिषः प्रयोगो मेध्यमांसोपयोगश्च हितः॥ (सु.सू. 15/12)
7. पुरीषवहे कुल्माषयवकुलत्थशाकधान्याम्लसेवनं च। (च.सू. 6/11)

Scanned with CamScanner

3. मूत्र क्षय होने पर स्रावोनिवर्धक द्रव्य यथा इक्षुरस, वारुणीमण्ड, दूध, मांस-रस एवं उपक्लेदी द्रव्यों का प्रयोग कराना चाहिये[1]।
4. मूत्र वृद्धि की अवस्था में मूत्रल व अधोवायु गमनकारक द्रव्यों का प्रयोग कराना चाहिये।
5. स्वेदक्षय की अवस्था में अभ्यंग कर स्वेदन द्रव्यों का प्रयोग कराना चाहिये।
6. स्वेद वृद्धि होने पर पित्तशामक द्रव्य यथा पंचतिक्तघृत गुग्गुलु को प्रयुक्त कराना चाहिये।

विभिन्न धातु प्रदोषज विकार एवं चिकित्सा सूत्र

वातादि दोष प्रकुपित होकर धातुओं में स्थानसंश्रित होकर ही रोग उत्पन्न करते हैं। अतः प्रधानदुष्टि धातु की होने के कारण उत्पन्न रोग धातु प्रदोषज विकार कहलाते हैं जो निम्न हैं—

धातु प्रदोषज विकार

	रसज[1]	रक्तज[4]	मांसज[5]	मेदज[6]	अस्थिज[7]	मज्जागत[8]	शुक्रज[9]
1.	भोजन में अश्रद्धा	कुष्ठ विसर्प	अधिमांस अर्बुद	अष्टनिन्दित पुरुष	अध्यस्थि अधिदन्त	पर्वरुक् श्रम	क्लैब्य अप्रहर्ष
2.	अरुचि	पिडिका	कीलक	प्रमेह के पूर्वरूप	दन्तास्थिभेद	मूर्च्छा	शुक्राश्मरी
3.	आस्य वैरस्य	रक्तपित्त	गलशुण्डी		दन्तशूल	तमोदर्शन	शुक्रमेह
4.	रसज्ञान न होना	रक्तप्रदर मुख-पैदाक	गलशालूक	मेदोग्रंथि स्थौल्य	अस्थिभेद-शूल	पर्वशूल नेत्राभिष्यन्द	शुक्रदोष गर्भस्राव

1. मूलार्थं पुनर्दोषसम्बन्धेनाह अथ पुनस्तत्रयोक्तदोषैः।
2. दशविधं संशोधनम्
3. अतृप्तिः कार्यकरणेष्वसामर्थ्यम्। इन्द्रियं दीप्तं तत्रा स्वकर्मसु व्यवसायः॥
4. चक्षुषी शोणिमोपेते; कर्णौ, पक्वः कृष्णमुख। दाहपाकौ रक्तपित्तवत् वातः पित्तवच्च॥
5. -मांसजे स्फोटकाः, कृच्छ्रसाध्यानि[illegible]पिडिकाश्च[illegible]गुल्मौऽथ विद्रधिः॥
6. अधिमांसार्बुदं कीलः गलशालूकगुल्मिनौ। पूतिमांसास्रपित्तं च मेदोजानां गुदौऽथ विद्रधिः॥
7. मेदः संक्षयजान् प्रमेहान्। विद्रधिदर्शने प्रमेहाणां पूर्वरूपाणि वर्णने च॥
8. अस्थिसन्धिगतौ दोषौ[illegible]पूर्वं विकर्तनम्। केशनखरोमदन्तेषु पीडाधर अस्थिशूलौ॥
9. शुक्रस्य दोषजा वर्णभेदाः[illegible]दोषं यथास्वलक्षणम्। शुक्रक्षयात्तमोदर्शनं पर्वभागेषु च दौर्बल्यम्॥

(च.शा. 6/11)
(सु.सू. 15/13)
(च.सू. 28/9-10)
(च.सू. 28/11-12)
(च.सू. 28/13-14)
(च.सू. 28/15)
(च.सू. 28/16)
(च.सू. 28/17)
(च.सू 28/18-19)

	रसज	रक्तज	मांसज	मेदज	अस्थिज	मज्जागत	शुक्रज
5.	हृल्लास गौरव	प्लीह रोग गुल्म	पूतिमांस अलजी	गलगण्ड मेदोऽर्बुद	अधिदन्त विकर्तना	विकर्तना	गर्भस्राव अल्पायु विरूपता आदि
6.	तन्द्रा	विद्रधि	गलगण्ड	मधुमेह	केश विकार		
7.	अंगमर्द	कामला	गण्डमाला	अतिस्वेद	स्नेह विकार		
8.	ज्वर	नीलिका	अर्श	आलस्य	स्नायु दौर्ब		
9.	तम	व्यङ्ग, पिप्लु	अधि-जिह्विका	मलाधिक्य वृद्धिरोग	कुनख रोग आदि		
10.	पाण्डु	शिलकलक	उपकुश	मूत्रसंबंधी-विकार			
11.	स्रोतोरोध	दद्रु	मांसलंघात				
12.	हृदयरोग	चर्मदल	ओष्ठ प्रकोप				
13.	क्लैब्य	श्वित्र					
14.	कृशांगता	पामा	उपजिह्विका आदि				
15.	वली	कोठ					
16.	पलित	व्यच्छ					
17.	अंगसाद	इन्द्रलुप्त					
18.	ग्लानि	वातरक्तित					
19.	अग्निमांद्य	अर्श					
20.	असमय-दृष्टिदोष	अर्बुद रक्तमण्डल					

धातुप्रदोषज विकार चिकित्सा सूत्र

(1) समस्त रसज विकारों में लंघन (दशविध) कराना लाभप्रद है[1]।

(2) रक्त प्रदोषज विकारों में रक्तपित्तशामक चिकित्सा, विरेचन कर्म, रक्तमोक्षण (Blood letting) एवं उपवास कराना चाहिये[2]।

(3) मांसज विकारों में संशोधन (पंचकर्म), शस्त्रकर्म, क्षारकर्म एवं अग्निकर्म करना चाहिये[3]।

1. रसजानां विकाराणां सर्वलंघनमुत्तमम्।
2. कुष्ठार्शोगोदरेषु रक्तपित्तहरी क्रियाम्। विरेकमुपवासं च रक्तजेषु प्रयोजयेत्॥
3. मांसजानां तु संशुद्धि शस्त्रक्षाराग्निकर्म च।

(च.सू. 28/25)
(च.सू. 24/19)
(च.सू. 28/26)

Scanned with CamScanner

(4) भेदज विकारों में अपतर्पण-कर्षण चिकित्सा, रक्तोत्क्लेश चिकित्सा एवं कफ-भेदनाशक उपक्रम कराना चाहिये[1]।

(5) अस्थि प्रदोषज विकारों में सम्पूर्ण पंचकर्म कराकर विशेषकर शिरोबस्ति एवं शिरा भृत का प्रयोग कराना चाहिये[2]।

(6) मज्जा प्रदोषज विकारों में मधुर-तिक्त रस प्रधान अन्नपान व औषध प्रयोग, स्नेहन, स्वेदन व यथाकाल संशोधन करना चाहिये[3]।

(6) शुक्र प्रदोषज विकारों में उपर्युक्त मज्जागत विकार की ही चिकित्सा लाभप्रद रहती है।

दोष दूष्य सम्मूर्च्छना

सम्मूर्च्छना का अर्थ है "अति व्याप्त होना" अर्थात पूर्ण रूपेण एक दूसरे में मिल जाना। जब दोष दूष्यों का ऐसा संयोग होता है जिसमें एक-दूसरे को वे सर्वथा प्रभावित करते हैं, उनके संयोग से विशेष परिस्थितियां उत्पन्न होकर लक्षणों की उत्पत्ति होती है एवं व्याधि प्रकट होती है। अतः यह व्याधि उत्पत्ति दोष-दूष्य सम्मूर्च्छना का ही परिणाम होती है।

प्रकुपित दोष का धातुओं एवं मलों को दूषित कर शरीर के एकाङ्ग या सर्वाङ्ग में रोग उत्पन्न करना दोष-दूष्य सम्मूर्च्छना कहलाता है। सम्प्राप्ति (Pathogenesis) निर्माण में सर्वप्रथम दोषों का संचय (Accumulation) होता है तब वे प्रकुपित होते हैं। पश्चात् सारे शरीर में प्रसरित (Spread) होते हैं तथा इन प्रसरणशील दोषों को स्रोतस के जिस स्थान पर 'रुग्-वैगुण्य' प्राप्त होता है वे उसी स्थान पर रुककर वहां स्थित दूष्य के साथ मिलकर सम्मूर्च्छना करके रोग उत्पन्न करते हैं[4]। यह प्रक्रिया स्थान संश्रयावस्था में सम्पन्न होती है।

सम्मूर्च्छना भेद

दोष-दूष्य सम्मूर्च्छना से ही व्याधि की उत्पत्ति होती है। यह सम्मूर्च्छना निम्न दो प्रकार की होती है-

1. प्रकृति सम समवेत या भौतिक सम्मूर्च्छना
2. विकृति विषम समवेत या रासायनिक सम्मूर्च्छना

(i) प्रकृति समसमवेत सम्मूर्च्छना[5]

इसमें दोष व दूष्य दोनों के संश्लिष्ट प्राकृत व वैकारिक लक्षण मिलते हैं। इसमें

1. [illegible]
2. आस्थि प्रदोषजे [illegible]
3. मज्जप्रदोषजानुपधान्नविधिं स्वादुतिक्तम्। [illegible] (च.सू. 28/26)
4. [illegible] (च.सू. 28/27)
5. [illegible] (च.सू. 28/28)
   [illegible] (सु.सू. 21/31)
   [illegible] (च.सू. 17/112-113)
   [illegible] (च.सू. 11/48)

दोष-दूष्य पूर्ण संयोग की दृष्टि का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। इस सम्मूर्च्छना से उत्पन्न व्याधि के पूर्वरूप व रूप में विशेष अन्तर नहीं होता। इसे ही दोष-दूष्य की भौतिक (Physical) सम्मूर्च्छना कहते हैं। इस अवस्था में औषध के रस गुण वीर्य विपाक के सिद्धान्तों के आधार पर ही चिकित्सा की जाती है। इसे 'दोष प्रत्यनीक' चिकित्सा कहते हैं। उदाहरण स्वरूप ज्वर रोग में पित्त वृद्धि, रक्तवृद्धि व रक्तादि स्रोतस दुष्टि के भी लक्षण मिलते हैं। इस प्रकार की सम्मूर्च्छना रक्तपित्त, वातरक्त, कामला, अतिसार आदि रोगों में पाई जाती है।

(ii) विकृति विषम समवेत सम्मूर्च्छना[1]

इस प्रकार की सम्मूर्च्छना में दोष-दूष्य में भिन्न भिन्न लक्षण उत्पन्न होते हैं। ये लक्षण न तो दोष के होते हैं और न दूष्य के। इसे ही दोष-दूष्य की रासायनिक (Chemical) सम्मूर्च्छना कहते हैं। उदाहरण स्वरूप-प्रमेह (मधुमेह) के प्रारम्भ लक्षण 'अप्रसादित मूत्रता' दोष (कफ) व दूष्य (मेद) व स्रोतस् (मेदोवह स्रोतस्) की प्रकृति से भिन्न है। इन्हें ही विकृति विषम समवेत लक्षण कहते हैं। ऐसी स्थिति में विशेषकर 'व्याधि प्रत्यनीक' चिकित्सा की जाती है जिसे औषधियों के 'प्रभाव' गुण से समझा जा सकता है। यह सम्मूर्च्छना द्वन्द्वज व सन्निपातज रोगों में प्रायशः मिलती है। यह सम्मूर्च्छना गम्भीर (Chronic) स्वरूप की होती है जैसे—अलसक, प्रमेह आदि रोग।

दोषों का स्थानान्तर गमन

सम या प्राकृत अवस्था में स्थित दोष जब वायु की प्रेरणा से अन्य स्थान में चला जाता है तब वह जिस स्थान में पहुंचता है वहां पहले से ही उपस्थित दोष की मात्रा को बढ़ा देता है। इस कारण उस स्थान में उस दोष की वृद्ध अवस्था के लक्षण प्रकट होते हैं। अतः स्थानान्तर गमन दोषों के द्वारा जो विकारोत्पत्ति होती है उसमें दोष वृद्धि ही कारण है[2]। इस प्रकार अन्य स्थान गत समदोष भी रोगोत्पादक होता है इसे भी 'आशयापकर्ष' कहते हैं[3]।

जैसे श्लेष्मा के क्षीण होने पर वृद्ध वायु उचित मात्रा व स्थान में स्थित पित्त को उसके स्थान ग्रहणी से शरीर के भिन्न-भिन्न स्थान में ले जाता है वहां अम्लपाक रूप से भेदनवत् पीड़ा, दाह, भ्रम व दुर्बलता सदृश लक्षण पैदा हो जाते हैं। वायु योगवाही होने से जब पित्त के साथ मिलती है तब दाह उत्पन्न करती है एवं जब कफ के साथ मिलती है तब शीतलता उत्पन्न करती है। ऐसी अवस्था में कुपित वायु को चिकित्सा के द्वारा स्वस्थान में लाया जाता है एवं पित्त स्वयंमेव ही अपने स्थान में पहुंच जाता है। ऐसी अवस्था में दाह आदि देखकर पित्तशामक, विरेचन आदि उपचार करने से लाभ नहीं होता है। इसी प्रकार पित्त के क्षीण होने पर जब कुपित वायु कफ को उसके प्राकृत स्थान से

1. [illegible] (च.सू. 17/112-113 पर चक्रपाणि)
2. [illegible] (च.सू. 18/45)
3. [illegible] (च.सू. 17/45-46)

Scanned with CamScanner

खींचकर अन्य स्थानों में ले जाती है तो उस स्थान में वेदना, शीतलता, जकड़ाहट, भारीपन का अनुभव होता है।

स्थानान्तरगत दोष की चिकित्सा

(i) स्थानान्तर गत-दोष में बलाबल देखकर चिकित्सा करनी चाहिये। स्थानस्थ समागत दोष में स्थानीय दोष की अपेक्षा आगत दोष क्रम बल चलता है, 'स्थानीय दोष' की ही चिकित्सा करना चाहिये। यदि स्थानीय दोष की अपेक्षा आगत दोष बलवान हो तो स्थानीय दोष का विरोध न करते हुए 'आगत' बलवान दोष की ही चिकित्सा करनी चाहिये[1]।

(ii) प्रायः तिर्यक मार्गों में गये हुये दोष दीर्घ काल तक रोगी को कष्ट देते हैं, अतः शरीर बल एवं अग्निबल को जानते हुये धीरे-धीरे इनकी चिकित्सा करनी चाहिए[2]।

(iii) जब दोष कोष्ठ से शाखा में आ जाते हैं तब उन स्थानान्तर गत दोषों को शाखा से कोष्ठ में लाकर संशोधन चिकित्सा द्वारा शरीर से बाहर निकालने का प्रयास करना चाहिए[3]।

(iv) पित्त स्थानगत वायु का उपचार पित्त के समान, कफ स्थानगत पित्त का उपचार कफ के समान, तथा वात स्थानगत कफ का उपचार वात के समान करना चाहिये। तात्पर्य यह है कि आगत दोष का विरोध न करते हुए स्थानीय दोष का प्रतिकार सर्वप्रथम करना चाहिये[4]।

(v) कुपित दोष कारण की भिन्नता से स्थानान्तरगत होकर भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न रोग उत्पन्न करते हैं। अतः रोग की प्रकृति, अधिष्ठान, एवं समुत्थान विशेष को ठीक-ठीक जानकर ही चिकित्सा करनी चाहिये।

दोषों की विभिन्न गतियां

विभिन्न निदानों के सेवन से दोष प्रकुपित होकर ही व्याधि उत्पत्ति होती है। संहिताओं में दोषों के विशिष्ट प्राकृत स्थान बताये गए हैं किन्तु साथ ही उन्हें सर्वव्यापी भी माना है। दोष प्राकृत रूप से अपने-अपने स्थान या मार्ग में गति करते हुये प्राकृत क्रियाओं (Physiological Functions) को सम्पादित करते हैं, किन्तु जब वही गति या स्थान विकृत हो जाते हैं तो ये ही दोष रोगोत्पादक होते हैं। अतः दोषों की विभिन्न गतियों का ज्ञान स्वस्थ या आतुर दोनों के शरीर में होना चिकित्सक के लिए आवश्यक है। इन गतियों

1. ...
2. प्रायस्तिर्यग्गतान् दोषान् कालात्ययादुपाचरेत्। बृंहणे सति बाहुल्यं देहस्योपक्रमेषु क्रियासु॥ (अ.हृ.सू. 13/20-21)
3. बृंहणे [illegible] शाखासु कोष्ठे मृदुसंशोधनैः। शाखागतेषु दोषेषु कोष्ठे नीति बाहुल्यं विद्वान्॥ (अ.हृ.सू. 13/21-22)
तत्र वायोः [illegible]..... एव क्रियाक्रमः॥ (च.सू. 28/33)
(सु.सू. 21/31)

से व्याधि के निदान (Causes), चिकित्सा (Treatment) एवं साध्यासाध्यता (Prognosis) का ज्ञान होता है। दोषों की विभिन्न गतियां निम्न प्रकार होती हैं—

विभिन्न दोष गति[1]

→ क्षय, स्थान (सम), वृद्धि
→ ऊर्ध्व, अधः एवं तिर्यक्
→ कोष्ठ, शाखा, मर्मास्थि सन्धि
→ संचय, प्रकोप, प्रशमन
→ प्राकृत एवं वैकृत

आचार्य चक्रपाणि ने दोषगति का अर्थ दोष की विभिन्न प्रकार की अवस्था बताया है[2]।

दोषों की गतियां विभिन्न प्रकार की हो सकती हैं जिन्हें तालिका में दर्शाया गया है। स्वस्थ शरीर में दोषों की गतियाँ "प्राकृत" दोषगति होती है। अतुरावस्था में दोषगति "वैकृत" दोषगति होती है। विभिन्न प्रकार की दोष गतियों का वर्णन निम्नानुसार है-

1. (i) क्षय—दोषों का शरीर में अपने प्राकृत प्रमाण से कम हो जाना ही "क्षय दोषगति" है।

   (ii) स्थान—दोषों का शरीर में स्वस्थान में प्राकृत प्रमाण व साम्यावस्था में रहना ही "सम" या "स्थान दोषगति" है।

   (iii) वृद्धि—दोषों का शरीर में अपने प्राकृत प्रमाण से बढ़ जाना ही "वृद्धि दोषगति" है। यह गति पुनः दो प्रकार की होती है-

   (अ) चय (ब) प्रकोप

2. (i) ऊर्ध्व—दोषों का स्वस्थान से निकलकर ऊर्ध्वमार्ग (शिरःप्रदेश) की ओर जाना ही दोषों की "ऊर्ध्व गति" है। उदाहरण-रक्तपित्त, छर्दि, ऊर्ध्वगुद आमाशय आदि रोगों में दोषों की ऊर्ध्व गति होती है।

   (ii) अधः—दोषों का स्वस्थान से निकलकर अधोमार्ग (गुदा, पाद, मूत्रेन्द्रिय) की ओर जाना व बाहर निकलना ही "अधः दोष गति" है। उदाहरण-अतिसार, प्रवाहिका, ग्रहणी, अधोग रक्तपित्त, अधोग आमाशय, रक्तप्रदर, श्वेतप्रदर आदि रोगों में दोषों की अधोगति होती है।

1. a) क्षय: स्थानं च वृद्धिश्च दोषाणां त्रिविधागतिः। ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक् च विज्ञेय त्रिविधाश्रया॥ (च.सू. 17/112-113)
   b) सर्वे रोगाणां इति-शब्दात् सर्वरोगसंग्रहः, कोष्ठशः। (च.सू. 11/48)
2. गतिः प्रकर्षोऽवस्था वा। (च.सू. 17/112-113 पर चक्रपाणि)

Scanned with CamScanner

(iii) तिर्यक्—दोषों का शरीर में स्वस्थान से निकलकर तिर्यक् रूप (हस्त आदि बाह्य भाग, रोमकूप) की ओर जाना ही "तिर्यक् गति दोषगति" है। उदाहरण-ज्वर, मन्दाग्नि, उभय रक्तपित्त, श्वास आदि में दोषों की तिर्यक् गति पाई जाती है।

3. (i) कोष्ठगत (आभ्यन्तर) दोष गति—महास्रोत (कोष्ठ) में स्थित मस्तिष्क, हृदय, यकृत्, प्लीहा, वृक्क, वस्ति, आमाशय, पक्वाशय, गुदा आदि पंचदश अंगों में जब दोष गमन करता है तो यह उनके (दोषों के) आभ्यन्तर रोगमार्ग कहलाते हैं। आभ्यन्तर रोगमार्गों में विकृत दोषों की गति होने के परिणामस्वरूप ज्वर, अतिसार, विसूचिका, श्वास, कास, हिक्का, प्लीहोदर, अनाह, शोथ, गुल्म आदि रोग उत्पन्न होते हैं।

(ii) शाखागत (बाह्य रोग मार्ग) दोष गति—त्वचा, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा एवं शुक्र आदि से शाखा शब्द का ग्रहण किया जाता है। इनमें अवस्थित होने वाले रोग बाह्य मार्गज कहलाते हैं। इन रोगों में पिड़िका, अलजी, अपची, अधिमांस, कुष्ठ, व्यङ्ग, विसर्प, शोथ, गुल्म, अर्श, विद्रधि एवं शाखाश्रित कामला आदि रोग प्रमुख हैं।

विकृत अवस्था में दोषों के कोष्ठ से शाखा में आने के निम्न कारण हैं-

(i) अत्यधिक व्यायाम
(ii) जन्म की दीर्घता
(iii) अहितकर आहार विहार सेवन
(iv) वायु के अतितीव्रगामी स्वभाव के कारण

अतः शाखागत दोषों को यथास्थान कोष्ठ में लाने के निम्न उपाय हैं-

(i) दोष वृद्धि
(ii) दोष विष्यन्दन
(iii) दोष परिपाक
(iv) स्रोतोमुख विशोधन
(v) वायु के निग्रह से

अतः स्नेहन स्वेदन से शाखागत दोष कोष्ठ में लाए जाते हैं।

(iii) मर्मास्थिसंधिगत (मध्यम) रोग मार्ग गति—दोषों का शरीर में स्वस्थान से निकलकर मर्म, अस्थि व संधियों में जाना ही मध्यम रोग मार्ग गति है। इन रोगों में पक्षाघात (Paralysis), धनुस्तंभ, अपतानक (Tetanus), अर्दित (Facial Paralysis), शोथ, राजयक्ष्मा (Tuberculosis), अस्थि शूल (Arthralgia), संधिशूल (Joint Pains), गृध्रसी, विश्वाची, हनुस्तंभ एवं बस्ति रोग आदि प्रमुख हैं।

1. व्यवस्थानात्तु कर्मणोऽन्तर्मुखत्वकरणात्। कोष्ठशाखां व्याप्यावस्थितं दुष्टमन्यत्रानयत्य॥ (च.सू. 28/31)
2. पृथक्त्वं विष्यन्दनात् पाकात् स्रोतोमुखविशोधनात्। स्वस्थं मुखस्थं मलः कोष्ठे यति वायोश्च निग्रहात्॥ (च.सू. 28/33)

4. कालकृत दोष गति—

(i) संचय, प्रकोप व प्रशम—यह ऋतु के अनुसार स्वभाव से ही दोषों का प्राकृतिक रूप से संचय, प्रकोप व प्रशम होता है। दोषों की ये गतियाँ काल के स्वभाव से उत्पन्न होती हैं[1]।

त्रिदोष का प्राकृत रूप से संचय-प्रकोप-प्रशम

क्र.सं.	दोष	संचय	प्रकोप	प्रसर
1	वात	ग्रीष्म	वर्षा	शरद
2	पित्त	वर्षा	शरद	हेमन्त
3	कफ	हेमन्त	वसंत	ग्रीष्म

5. प्राकृत-वैकृत गति[2]

(i) प्राकृत गति—दोषों की स्वस्थ पुरुष में जो स्वाभाविक कालकृत गति होती है उसे दोषों की प्राकृत गति कहते हैं।

(ii) वैकृत गति—दोषों की आतुर पुरुष में जो कालकृत गति होती है उसे दोषों की वैकृत गति कहते हैं।

दोष गतियों का महत्व—कुशल चिकित्सक के लिए दोषों की विभिन्न गतियों को जानना चिकित्सा की दृष्टि से अत्यंत आवश्यक है। निम्न दृष्टियों से दोष गति जानना चिकित्सक के लिए उपयोगी रहता है-

(i) रोग निदान की दृष्टि से—इन विभिन्न दोष गतियों का उपयोग रोग निदान में होता है। जैसे विषम ज्वर आरम्भक दोष रस, रक्तगत हों तब वह सतत ज्वर को उत्पन्न करता है। वही मांसगत हो तो अन्येद्युष्क ज्वर को उत्पन्न करता है। रोगमार्ग गत होने से इन्हें (रस-रक्तादि) मार्ग कहा जाता है। इन मार्गों में दोषों के संचार को गति कहते हैं[3]।

1. चयप्रकोपशमाः त्रिष्वतीतेषु यथाक्रमम्। चयस्त्वेषूदकः वर्षासु कटोभ्यागमनेषु॥ (च.सू. 17/114)
2. गतिः कालकृता चैषा यावत्या पुरुषस्य तु। गतिश्च द्विविधा दृष्टा प्राकृती वैकृती च या॥ (च.सू. 17/115)
3. मार्गा रसादयः सप्त तेष्वेते विविधाकृतिः। संचरन्त्यनुगास्तेषु तिस्रस्त्रिष्वपि स्थितिष्वमी. पुनः। कुर्वाणास्तुर्यकं शोषमतार्कं रोग मोक्षणम्॥ (सु.उ. 39/67-68)

Scanned with CamScanner

(i) **चिकित्सा की दृष्टि से**—दोष गतियों का ज्ञान चिकित्सा की दृष्टि से भी आवश्यक है। जैसे कई दोष किसी अन्य दोष के स्थान में जाकर रोग उत्पन्न कर दे तब सर्वप्रथम उस स्थान के मूल दोष को इस प्रकार समावस्था में लाना चाहिए कि स्थानस्थ दोष की वृद्धि न होने पाये। यदि कफ पक्वाशय में जाकर रोग उत्पन्न करे तब सर्वप्रथम पक्वाशय में स्थित मूल दोष वायु को जीतने के लिए कफ को न बढ़ाने वाले स्निग्ध स्वेदन दें। पश्चात् कफ शमन के लिए रुक्ष स्वेदन हितकर है। इसी प्रकार वात दोष यदि आमाशय में जाकर रोग उत्पन्न कर दे जो कि मूलतः कफ का स्थान है तब सर्वप्रथम आमाशय के मूल दोष कफ को रुक्ष स्वेदन द्वारा जीतना चाहिए। पश्चात् आगत वात को स्निग्ध स्वेदन द्वारा जीतना चाहिए[1]।

(ii) **साध्यासाध्यता की दृष्टि से**—कोष्ठ व शाखाओं में दोषों का स्थान संश्रय होने से रोग साध्य होते हैं किंतु मर्म, अस्थि व संधि में दोषों का स्थान संश्रय होने से इनमें होनेवाले रोग प्रायः असाध्य होते हैं[2]।

इस प्रकार दोषों की विभिन्न गतियों को जानना चिकित्सक के लिए अत्यावश्यक है।

1. अमाशयगते वाते कफे पक्वाशयस्थिते। रुक्षस्वेदैर्जयेद्वायुं स्निग्धस्वेदैस्तु पूर्वजम्॥ (च.सू. 14/9)
2. ऊर्ध्वगं मार्गमासाद्य कफं पक्वाशयस्थितम्। (च.सू. 10/12)
   a) द्विधर्म मार्गमासाद्य कफपित्तमधोगतम्। (च.सू. 10/16)
   b) गम्भीरं बहुमार्गस्थं [illegible]। (च.सू. 10/18)

तृतीय अध्याय

ओज विवेचन

परिचय—दोष-धातु-मल से भिन्न अत्यन्त उपयोगी तत्व के रूप में शरीर में "ओज" को माना गया है। यह शरीर के उत्तम रूप से धारण व जीवन निर्वाहन के लिए परमावश्यक है। ओज अत्यन्त अल्प-प्रमाण में शरीर में रहते हुए भी अत्यन्त व्यापक क्रियाओं को सम्पन्न कराता है तथा शरीर की स्थिति एवं विनाश में अत्यन्त महत्वपूर्ण कारण है। आचार्य चरक ने "ओज" को प्राणायतनों में उत्तम कहा है। महर्षि सुश्रुत "ओज" को 'बल', आचार्य चरक इसे सर्वधातुसार, आचार्य वाग्भट शुक्र का मल तथा आचार्य शार्ङ्गधर ओज को शुक्र की उपधातु मानते हैं।

परिभाषा—शरीर में पाए जाने वाले रस-रक्तादि धातुओं से शुक्र पर्यन्त सप्त धातुओं के उत्कृष्ट सारभूत अंश को "ओज" कहा गया है[1]। इसे शरीर का "बल" या "प्राकृत श्लेष्मा" भी कहा है[2]। ओज का पोषण अन्य धातुओं के समान अन्नरस से ही होता है[3]।

ओज स्थान व वर्ण

चेतना का स्थान "हृदय" ही उत्कृष्ट ओज का स्थान है। ओज का स्थान होने के कारण महर्षि चरक ने हृदय को "महत्" एवं चेतना का आश्रय स्थल होने से "अर्य" संज्ञा से सम्बोधित किया है[4]। हृदय से प्रारंभ होने वाली दश धमनियाँ "महास्रोत" कहलाती हैं जिनसे चारों ओर हृदय द्वारा ओज का वहन किया जाता है अर्थात् ओज रक्त द्वारा समस्त शरीर में संचरित होता रहता है[5]।

ओज रक्तपीत वर्ण का या घृत के वर्ण का, मधुर रस युक्त तथा लावा के समान गंध वाला होता है[6]।

ओज के प्रकार

ओज निम्न दो प्रकार का होता है—

1. तत्र रसादीनां शुक्रान्तानां धातूनां यत् परं तेजस्कर-स्नेहोपलब्धिदेव्यतेजोद्रव्यवत्, स्वाभाविकं सिद्धौजः। (सु.सू. 15/19)
2. प्राकृतानां तु श्लेष्मा विकृतो मल उच्यते। स पीतोजः स्मृतः, कफे सति पार्थिवादिवत्। (च.सू. 17/117)
3. पुष्यन्ति सप्तधातवश्चरन्तिमानेरौस्थिमज्जशुक्रौजांसि। (च.सू. 28/4)
4. तत् चार्यजनः स्मार्तं तत्र पैतन्यसंज्ञकः। हृदयं महदश्वाथ दशमूलं चिकित्सकैः॥ (च.सू. 30/7)
5. तैरेव सूक्ष्मैः सततं सर्वकृत्स्नं वपुर्वहा। ओजोवहाः शरीरेऽस्मिन् विधम्यन्ते सदासताः॥ (च.सू. 30/8)
6. हृदि तिष्ठति यच्छुद्धं रक्तपीतघृतोपमम्। ओजः शरीरं संक्रान्तं सर्वावयवसंश्रयम्॥
   प्रथमं जायते ह्योजः शरीरेऽस्मिन् शरीरिणाम्। सर्पिर्वर्णं मधुरसं लाजगंधि प्रकाशते॥ (च.सू. 17/74-75)

Scanned with CamScanner

(i) पर ओज

(ii) अपर ओज

'पर ओज' अष्टबिन्दु प्रमाण में हृदय में एवं 'अपर ओज' अर्धाञ्जलि प्रमाण सर्वशरीरगत रहता है[1]। 'पर ओज' के नष्ट होने पर शरीर भी नष्ट हो जाता है।

ओज के गुण

आचार्यों ने ओज के निम्न 10 गुण बताये हैं[2]—

1. गुरु 2. शीत 3. मृदु 4. श्लक्षण 5. बहल 6. मधुर 7. स्थिर 8. [illegible] 9. पिच्छिल 10. स्निग्ध

ये गुण मद्य के दश गुणों से विपरीत हैं, अतः मद्य सेवन से ओज का नाश होता है। विष के गुण भी ओज से विपरीत होते हैं।

ओज के कार्य[3]

शास्त्रों में ओज के निम्न कार्य वर्णित हैं—

1. ओज से शरीर पोषित होकर ही जीवन का निर्वाह होता है अर्थात् प्राणी जीवित रहता है।
2. गर्भ के प्रारम्भ में शुक्र-शोणित के सार के रुप में ओज विद्यमान रहता है।
3. ओज ही शरीर का प्राकृत बल है[4]।
4. ओज समस्त-चेष्टाओं के लिये शक्ति प्रदान करता है।
5. ओज स्वर व वर्ण में प्रसन्नता प्रदान करता है।
6. ओज का नाश होने पर शरीर का नाश हो जाता है[5]।
7. हृदय में आश्रित रहकर ओज आयु का धारण करता है।

ओज क्षय-वृद्धि-कारण, लक्षण व चिकित्सा

ओज क्षय के कारण

शास्त्र में ओज के क्षय होने के निम्न कारण बतलाए गए हैं[6]—

1. कर्मकर्तेति. शुक्रस्य तत्त्वदेव प्रभावं ततदेव रतैस्मिकाम्बैजात इति॥ (च.इ. 3/6)
2. 0 गुरु शीतं मृदु श्लक्ष्णं बहलं मधुरं स्थिरम्। प्रसन्नं पिच्छिलं स्निग्धं ओजो दश गुणस्मृतम्। (च.चि. 24/30)
   ii) ओजः सोमात्मकं स्निग्धं शुक्लं शीतं स्थिरं मृदु। विविक्तं मृदु मृण्मं च प्राकृतानमुत्तमम्। (सु.सू. 15/21)
3. यद्य हृदयसंश्रितं सकलशरीरचरो गुणः। तदविघातं संक्षोभ चेष्टो नयति विक्रियाम्॥ (च.चि. 24/29)
   ——यच्छारीरं रस संज्ञं प्राणायतनं प्रचक्षते विदुधाः।
4. प्राकृतमु बलं श्लेष्मा। (च.सू. 33/9-11)
5. —नियतमाश्रय विनाशाय। (च.सू. 17/117)
6. (च.सू. 17/73)
7. अतिव्यवायात् क्षयतो भयाच्छोकात्क्षुधस्तथा। ओजः संधारणे हेतुर्धातूपचयनेन च॥ (सु.सू. 15/23)

(I) आहारज निदान

i) क्षुधा (अनशन)

ii) अनुचित, अकाल व मात्राहीन-आहार सेवन

iii) पोषक तत्वों से रहित आहार का निरन्तर सेवन

(II) विहारज निदान

i) अधिक श्रम

ii) अति व्यवाय

iii) अनुचित क्रियाकलाप

(III) मानसिक निदान

i) क्रोध

ii) शोक

iii) चिन्ता

(Iv) अन्यकारण

i) वृद्धावस्था

ii) अभिघात

iii) धातुक्षय आदि

ओज क्षय के लक्षणः—

अपर ओज के क्षय होने पर शरीर में निम्न लक्षण मिलते हैं[1]—

1. रोगी भयभीत रहता है
2. रोगी बार-बार चिन्ता करता है
3. रोगी दुर्बल हो जाता है
4. रोगी व्यथित रहता है
5. इन्द्रियों में वेदना रहती है
6. शरीर में रुक्षता व कृशता हो जाती है
7. थकावट होती है
8. रोगी की शारीरिक प्रभा व कांति नष्ट हो जाती है

ओज क्षय के लक्षणों का साम्य आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में वर्णित दुश्चिकित्स्य

1. किंचिदुर्बलोऽपीत्यं भ्यवहीत व्यथितेन्द्रियः। दुश्छायो दुर्मना रूक्षः क्षामश्चैवौजसः क्षये॥ (च.सू. 17/73)

Scanned with CamScanner

व्याधि AIDS (एड्स) से किया जा सकता है।

ओज क्षय (ओज विकृति) की अवस्थायें (भेद)

आचार्य सुश्रुत ने ओज क्षय के लक्षणों को निम्न तीन अवस्थाओं में वर्णित किया है—

1. ओजो विस्रंस
2. ओजो व्यापद
3. ओज क्षय

1. ओजो विस्रंस के लक्षण[1]

'ओज विस्रंस' का तात्पर्य है ओज का स्वस्थान से चलायमान होना। इस अवस्था में शरीर में निम्न लक्षण प्रकट हो सकते हैं—

1. संधि विश्लेष (Detachment of Joints)
2. अंगमर्द (Bodyache)
3. दोषों का स्थान भ्रंश होना
4. शारीरिक व मानसिक क्रियाओं का रुक जाना
5. गात्र सदन (Looseness of body)

उदाहरण—मधुमेह रोग में ओज मूत्र के साथ बहकर शरीर से बाहर निकल जाता है।

2. ओज व्यापद् के लक्षण[1]

'ओज व्यापद्' का अर्थ है-स्वस्थान में स्थित ओज का दोषों से दूषित हो जाना। इस अवस्था में शरीर में निम्न लक्षण प्रकट हो सकते हैं—

1. अंगों में जकड़ता (Stiffness in the body)
2. शरीर में भारीपन (Heaviness in the body)
3. बात जन्य शोफ (Oedema)
4. वर्ण परिवर्तन (Change of body Colour / Texture)
5. ग्लानि (Disgust)
6. अति निद्रा (Excessive sleep)
7. आलस्य (Lassitude)

1. तत्र विस्रंसो व्यापत् क्षय इति त्रयः ओजसः विशेषाः भवन्ति।
2. तत्रौजोविस्रंसो गात्राणां सदनं संधिविश्लेषश्च करोति व्याधिमार्दवं विस्रंसे। (सु सू 15/24)
तस्य मूत्रपुरीषाभ्यां वर्णप्रसादो व्यापदि। (सु सू 15/24)
(सु सू 15/24)

3. ओज क्षय के लक्षण[1]

ओज क्षय की अवस्था में शरीर में निम्न लक्षण प्रकट हो सकते हैं—

1. मूर्च्छा (Fainting)
2. मांस क्षय (Depletion of flesh)
3. मोह (Hallucinations)
4. प्रलाप (Delirium)
5. अज्ञान (Ignorance)
6. मृत्यु (Death)

ओजक्षय से तात्पर्य ओज का स्वपरिमाण-अर्धांजलि से कम हो जाता है। ओज क्षय की अवस्था में पूर्ववर्णित विस्रंस व व्यापद के सभी लक्षण शरीर में मिल सकते हैं।

ओज क्षय की चिकित्सा[2]

(i) ओज विस्रंस व ओजो व्यापद की अवस्था में ओजोऽनुकूल विशेष क्रियाओं के द्वारा बल को बढ़ाना चाहिये।

(ii) ओज क्षयावस्था को असाध्य समझकर रोगी को छोड़ देना चाहिये अर्थात् रोगी की चिकित्सा नहीं करनी चाहिए।

(iii) हृदय के लिये हितकर, ओजोवर्धक, रसायन, बाजीकरण, जीवनीय गण के द्रव्यों का सेवन करना चाहिये।

(iv) मधुर, स्निग्ध, शीतवीर्य, लघु आहार ओजोवर्धक होता है। इसका प्रयोग अधिकाधिक मात्रा में करना चाहिये।

(v) गोदुग्ध, मांसरस, बल्य व जीवनीय गण की औषधियों (बला, काकोली, क्षीरकाकोली, जीवक एवं ऋषभक इत्यादि) भी निरन्तर सेवन करने से ओजवर्धक होती हैं।

(vi) रोगी को सदैव प्रसन्नचित व चिन्ता मुक्त रहना चाहिये।

1. मूर्च्छा मांसक्षयो मोहः प्रलापो मरणंतथा च ओजसि।
पूर्वोक्तानि च लिङ्गानि मरणं च व्यापदोऽतुलम्। (सु सू 15/24-28)
2. a) इति विस्रंसो व्यापदश्च व क्रिया विशेषैरविस्रंसेत्यौजसाम्यायेत्, इतरं तु मुहूर्तमपि नार्वयेत्। (सु सू 14/28)
b) तत्राहुः ता महाभूतसंज्ञाभ्यः परिशिष्टाः परिहृतं विशेषैश्च मनसो दुःखोदयः।
इदं वचः स्थाद् यदि ओजसं स्तोत्रं यद् ब्रह्मदत्तम्। तद्धृदि स्थं प्रकृतौ प्रकाशे प्रकाशेत च द्वं च सु 30/13-14)
c) जीवनैश्चैव बल्यैश्च रसायनसमायुतम् पेयम्। (अ.हृ.सू 11/41)
d) मधुरस्निग्धशीतादि लघ्वन्नं च हितं च। ओजसो वर्धनत्वाच्च बलमांसाय तद्भवेत्। (च.सं.सू 27/16)

Scanned with CamScanner

ओज वृद्धि के लक्षण[1]

जीवनीय द्रव्यों के अतिसेवन से 'ओज' की वृद्धि होने पर देह में स्थित मन स्थिर व सन्तुष्ट रहता है, शरीर पुष्ट होकर बल (ओजस) पराक्रम, शौर्य आदि गुणों की वृद्धि होती है।

आचार्य शार्ङ्गधर ने ओज को शुक्र की उपधातु स्वीकार किया है। अतः पहले शुक्र धातु की वृद्धि के पश्चात ओज वृद्धि के लक्षण मिलते हैं।

ओज क्षय जन्य कुछ व्याधियां

निम्न व्याधियों में ओजक्षय पाया जाता है—

1. पाण्डु (रक्तक्षय के कारण ओज क्षय होता है)
2. संग्रहणी (मलक्षय के कारण ओज क्षय होता है)
3. मधुमेह (मूत्र के साथ ओज के निकलने से)
4. राजयक्ष्मा (रक्त क्षय व शुक्रक्षय के कारण)
5. एड्स (सर्वधातु क्षय के कारण)

ओज एवं व्याधिक्षमित्व

इसकी चर्चा विस्तार से 14वें अध्याय 'चिकित्सा में सहायक अंग' के प्रथम नि 'व्याधि क्षमित्व' के अन्तर्गत की गई है। इस विषय को वहीं देखें।

1. ओजसः पुष्टिकरणं पुष्टे पुष्टे कर्मोदय। (अ.ह.सू. 11.4)

चतुर्थ अध्याय

स्रोतस् विवेचन

परिचय—दोष-धातु-मल के ज्ञान के साथ ही 'स्रोतस्' का ज्ञान परमावश्यक है। स्रोतस् यदि प्राकृत अवस्था में रहते हैं तब शरीर निरोगी रहता है एवं स्रोतसों की दुष्टि होने पर विभिन्न प्रकार की व्याधियों की उत्पत्ति होती है।

"स्रु-गतौ क्षरणे" धातु से 'असि' प्रत्यय लगाने से 'स्रोतस्' शब्द की निष्पत्ति होती है। आयुर्वेद में 'स्रोत' शब्द अयन (मार्ग) के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है[1]।

आचार्य चरक के अनुसार मनुष्य में जितने मूर्तिमान भाव हैं उतने ही स्रोतों के प्रकार विशेष हैं। शरीर में ऐसे कोई भी भाव नहीं हैं जो कि स्रोतों के बिना उत्पन्न या नष्ट होते हों। शरीर में काल के स्वभाव से उत्तरोत्तर परिणाम को प्राप्त होने वाली धातुओं का वहन स्रोतसों के द्वारा ही होता है[2]।

स्रोतस् स्वरूप

स्रोतस् की उत्पत्ति आत्मा (पित) पुरुष वायु की क्रिया से होती है। आकाश महाभूत की विशिष्टता से ये अन्दर से पोले (अवकाश युक्त), वृत्ताकार, कोई-कोई चौड़े, कोई पतले एवं लम्बे या चपटे, प्रतान (लता) के समान रचना प्रणालियों से युक्त होते हैं।

स्रोतसों का वर्ण उन धातुओं के समान होता है जिनका ये वहन करते हैं।

स्रोतस् परिभाषा[3]

आचार्य सुश्रुत के मत से मूल स्थान (उद्भव स्थान-Origin) से निकलकर शरीर में फैले हुए अवकाश युक्त (पोले) अवयव को 'स्रोतस्' कहते हैं (केवल सिरा एवं धमनी को छोड़कर)।

स्रोतस् संख्या

अनेक आचार्य स्रोतों के बहुत अधिक होने से उन्हें असंख्य मानते हैं एवं दूसरे

1. स्रवन्ति स्रोतांसि। (च.सू. 30/12)
2. खानां पुरुषे सूक्ष्मविस्रंसोऽव्यक्तरूपः एकश्चित्, स्रोतसां प्रकाशविस्रंसः। (च.वि. 5/3)
3. स्रोतांसि खलु परिवहन्त्यन्नपानरसरक्तादीनि धातूनन्यांश्चेति। (च.वि. 5/3)
4. स्रवणमुखवत्यादि वृत्तकूटाकृतीनि च। स्रोतांसि दीर्घाण्यकृत्स्नं प्रतानवत्यादि च। (च.वि. 5/25)
5. मूलात् खात्तानां देहे प्रसृतं स्रावयेत् यत्। स्रोतस्त्वेतत् विद्धेन सिराधमनिवर्जितम्। (सु.सू. 9/13)

Scanned with CamScanner

आचार्य संख्येय मानते हैं[1]। आचार्य चरक ने स्थूल रूप में 13 प्रकार के स्रोतस् का वर्णन विमान स्थान में किया है तथा गर्भ प्रकरण में एक आर्तव वह स्रोतस् भी बताया है। इस प्रकार आचार्य चरक ने 14 प्रकार के स्रोतस् का वर्णन किया है।

आचार्य सुश्रुत ने 11 स्रोतस् बताऐ हैं तथा एक-एक स्रोतस् के दो-दो भेद मिलाकर 22 स्रोतस् कहे हैं।

आचार्य वाग्भट्ट ने स्रोतसों के निम्न भेद वर्णित किए हैं—

1. अर्न्तमुख स्रोतस्—आचार्य चरकानुसार ही ये संख्या में 13 बताए हैं।
2. बहिर्मुख स्रोतस्—ये संख्या में 9 बताए हैं। इन्हें 'नवद्वार' भी कहते हैं।

दो कर्ण स्रोत, दो नासा स्रोत, दो नेत्र स्रोत, एक मुख स्रोत, एक गुद स्रोत तथा एक मूत्र स्रोत- यह 9 बहिर्मुख स्रोतस् आचार्य वाग्भट्ट ने वर्णित किए हैं। स्त्रियों में 2 स्तन स्रोत व एक अत्यय पथ (आर्तव स्रोत) अतिरिक्त कहे गए हैं। इस तरह स्त्रियों में 12 बहिर्मुख स्रोत आचार्य वाग्भट्ट ने बतलाये हैं।

स्रोतस् व उनके मूल स्थान

आचार्य चरक मत	मूल स्थान	आचार्य सुश्रुत मत	मूल स्थान
1. प्राणवह[1]	हृदय महास्रोतस	प्राणवह	हृदय, रसवाही धमनियां
2. उदकवह[2]	तालु, क्लोम	उदकवह	तालु, क्लोम
3. अन्नवह[3]	आमाशय, वामपार्श्व	अन्नवह	आमाशय, अन्नवह धमनियां
4. रसवह[4]	हृदय, दश धमनियां	रसवह	हृदय, रसवाही धमनियां
5. रक्तवह[5]	यकृत, प्लीहा	रक्तवह	यकृत, प्लीहा, रक्तवह धमनियां
6. मांसवह[6]	स्नायु, त्वक्	मांसवह	स्नायु, त्वक्

1. अनेकशतत्वात् तासु चाविज्ञेयविभागत्वात्सर्वे स्रोतांसि, परिसंख्येयानि पुनरन्ये॥ (च.वि. 5/5)
2. a) उरः प्रजानाद्या स्रोतसां हृदयं मूलं महच्च सः। (च.वि. 5/7)
   b) प्राणवहे द्वे, तयोर्मूलं हृदयं महास्रोतश्च धमन्यः॥ (सु.शा. 9/12)
3. a) दशधमनीनां रसवहानां मूलं हृदयं च। (च.वि. 5/8)
   b) दशधमनीर्द्वे रसवहे तयोर्मूलं हृदयं च। (सु.शा. 9/12)
4. a) अन्नवहानां स्रोतसां आमाशयो मूलं पक्वाशयश्च। (च.वि. 5/8)
   b) अन्नवहे द्वे, तयोर्मूलमामाशयः पक्वाशयश्च धमन्यः। (सु.शा. 9/12)
5. a) रक्तवहानां स्रोतसां यकृत्प्लीहानौ मूलं हृदयं च धमन्यः। (च.वि. 5/8)
   b) रक्तवहे द्वे, तयोर्मूलं हृदयं यकृत्प्लीहानौ च धमन्यः। (सु.शा. 9/12)
6. a) मांसवहानां स्रोतसां त्वक्मूलं प्लीहा च। (च.वि. 5/8)
   b) मांसवहे द्वे, तयोर्मूलं त्वक्स्नायुरक्तवहाश्च धमन्यः। (सु.शा. 9/12)
7. a) मेदोवहानां स्रोतसां वृक्कौ मूलं चतुरङ्गुलं च। (च.वि. 5/8)
   b) मेदोवहे द्वे, तयोर्मूलं कटी वृक्कौ च। (सु.शा. 9/12)
8. अस्थिवहानां स्रोतसां मेदो मूलं जघनं च। (च.वि. 5/8)
9. मज्जवहानां स्रोतसामक्ष्यस्थीनि मूलं सन्धयश्च। (च.वि. 5/8)
10. a) शुक्रवहानां स्रोतसां वृषणौ मूलं शेफश्च। (च.वि. 5/8)
    b) शुक्रवहे द्वे, वृषणौ मूलं मेढ्रं च। (सु.शा. 9/12)
11. a) मूत्रवहानां स्रोतसां बस्तिर्मूलं वंक्षणौ च। (च.वि. 5/8)
    b) मूत्रवहे द्वे, तयोर्मूलं बस्तिर्मेढ्रं च। (सु.शा. 9/12)
12. a) पुरीषवहानां स्रोतसां पक्वाशयो मूलं सूक्ष्मान्त्रं च। (च.वि. 5/8)
    b) पुरीषवहे द्वे, तयोर्मूलं पक्वाशयो गुदं च। (सु.शा. 9/12)
13. स्वेदवहानां स्रोतसां मेदो मूलं लोमकूपाश्च। (च.वि. 5/8)
14. आर्तवाहे द्वे, तयोर्मूलं गर्भाशय आर्तवाहिन्यश्च धमन्यः। (सु.शा. 9/12)
15. स्रोतांसि स्रोतांस्येव, भवन्ति चतुर्दश प्रदुष्यन्ति प्रदुष्टा वैषम्येण वैषम्यमापन्नाः प्रदुष्टा दुष्टिमापादयन्ति, दोष स्वभावादिति। (च.वि. 5/19)
16. आहारस्य विकारस्य च; स्वाद् दोषगुणैः सम्यक्।
    पातुर्भिषग्गुणश्चापि स्रोतसां च प्रदूषकः॥ (च.वि. 5/23)
17. अतिवृष्टिः खड्गो वा स्तिमितं ह्यम्बुसेतवो वा। विमार्गगमनं चापि स्रोतसां दुष्टिलक्षणम्॥ (च.वि. 5/24)

7. मेदोवह[1]	वृक्क, वपावहन	मेदवह	कटि, वृक्क
8. अस्थिवह[2]	मेद, जघन	-	-
9. मज्जावह[3]	अक्षि, सन्धि	-	-
10. शुक्रवह[4]	वृषण, शेफ	शुक्रवह	स्तन, वृषण
11. मूत्रवह[5]	बस्ति, वंक्षण	मूत्रवह	मेढ्र
12. पुरीषवह[6]	पक्वाशय, गुदा	पुरीषवह	पक्वाशय, गुदा
13. स्वेदवह[7]	मेद, लोम कूप	-	-
14. -	-	आर्तवह[8]	गर्भाशय, आर्तववह धमनियां

स्रोतसों में प्राणों का विशेष आश्रय होने के कारण इन्हें 'श्रीमत्तमम्' या 'प्राणायतनम्' भी कहा जाता है। वात, पित्त, कफ, समस्त शरीर में गमन करने वाले होने से इनके लिए सभी स्रोत अयन भूत अर्थात् मार्ग हैं। इसी प्रकार जिनका प्रतिघात नहीं होता ऐसे मन आदि का चेतना से युक्त समस्त शरीर अयनभूत (मार्ग) एवं अधिष्ठान हैं[1]।

स्रोतो दुष्टि : निदान, लक्षण व चिकित्सा

स्रोतो दुष्टि के सामान्य निदान[1]

आचार्य चरक के अनुसार जो आहार-विहार दोषों के गुण के समान हों अर्थात् उन्हें बढ़ाने वाले हों एवं धातुओं का विरोध करने वाले अर्थात् धातुओं के विरुद्ध हों, वे सभी आहार- विहार स्रोतस् को दूषित करने वाले होते हैं।

स्रोतो दुष्टि के सामान्य लक्षण[1]

स्रोतोदुष्टि के निम्न सामान्य लक्षण हैं जो किसी स्रोतस् के दूषित होने पर किसी न किसी रुप में प्रकट होते हैं

1. a) मेदोवहानां स्रोतसां वृक्कौ मूलं चतुरङ्गुलं च। (च.वि. 5/8)
   b) मेदोवहे द्वे, तयोर्मूलं कटी वृक्कौ च। (सु.शा. 9/12)
2. अस्थिवहानां स्रोतसां मेदो मूलं जघनं च। (च.वि. 5/8)
3. मज्जवहानां स्रोतसामक्ष्यस्थीनि मूलं सन्धयश्च। (च.वि. 5/8)
4. a) शुक्रवहानां स्रोतसां वृषणौ मूलं शेफश्च। (च.वि. 5/8)
   b) शुक्रवहे द्वे, वृषणौ मूलं मेढ्रं च। (सु.शा. 9/12)
5. a) मूत्रवहानां स्रोतसां बस्तिर्मूलं वंक्षणौ च। (च.वि. 5/8)
   b) मूत्रवहे द्वे, तयोर्मूलं बस्तिर्मेढ्रं च। (सु.शा. 9/12)
6. a) पुरीषवहानां स्रोतसां पक्वाशयो मूलं सूक्ष्मान्त्रं च। (च.वि. 5/8)
   b) पुरीषवहे द्वे, तयोर्मूलं पक्वाशयो गुदं च। (सु.शा. 9/12)
7. स्वेदवहानां स्रोतसां मेदो मूलं लोमकूपाश्च। (च.वि. 5/8)
8. आर्तवाहे द्वे, तयोर्मूलं गर्भाशय आर्तवाहिन्यश्च धमन्यः। (सु.शा. 9/12)
9. स्रोतांसि स्रोतांस्येव, भवन्ति चतुर्दश प्रदुष्यन्ति प्रदुष्टा वैषम्येण वैषम्यमापन्नाः प्रदुष्टा दुष्टिमापादयन्ति, दोष स्वभावादिति। (च.वि. 5/19)
10. आहारस्य विकारस्य च; स्वाद् दोषगुणैः सम्यक्।
    पातुर्भिषग्गुणश्चापि स्रोतसां च प्रदूषकः॥ (च.वि. 5/23)
11. अतिवृष्टिः खड्गो वा स्तिमितं ह्यम्बुसेतवो वा। विमार्गगमनं चापि स्रोतसां दुष्टिलक्षणम्॥ (च.वि. 5/24)

Scanned with CamScanner

1. अति प्रवृत्ति
2. संग
3. विमार्ग गमन
4. सिरा ग्रंथि

1. **अतिप्रवृत्ति**—सम्बंधित स्रोतस् में वहन होने वाली द्रव्य/धातु का अधिक मात्रा में निकलना "अतिप्रवृत्ति" है। यथा-अतिसार में मल की अधिक प्रवृत्ति, प्रमेह में मूत्र की अतिप्रवृत्ति होना आदि।

2. **संङ्ग**—सम्बन्धित स्रोतस् में किसी प्रकार का अवरोध होने से उसमें बहने वाली धातु का पूर्ण रूपेण रुक जाना 'सङ्ग' है। सङ्ग बाह्य एवं आभ्यन्तर प्रकार का हो सकता है। यथा-आनाह/विबन्ध की स्थिति में मल का आभ्यंतर सङ्ग, अनार्तव की स्थिति में आर्तव का संग, तथा अर्बुदादि होने से बाह्य संग होता है।

3. **विमार्गगमन**—सम्बन्धित स्रोतस् में वहन होने वाली धातु का विपरीत मार्ग या किसी अन्य मार्ग में जाना विमार्ग गमन कहलाता है। यथा-विड्विघातज मूत्रकृच्छ्र।

4. **सिराग्रंथि**—सम्बंधित स्रोतस् में किसी प्रकार की ग्रंथि (गांठ) का बन जाना सिराग्रंथि है। यथा-आर्तव वह स्रोतस में ग्रंथि (Fibroids/Csyt) का बन जाना। संहिताओं में विभिन्न स्रोतसों की दुष्टि के कारण एवं लक्षण निम्नानुसार वर्णित हैं-

1. प्राणवह स्रोतस् दुष्टि[1]

दुष्टि के कारण[a]— 1. क्षय
2. वेगधारण
3. रुक्षाहार
4. भूखे पेट व्यायाम करना
5. कठिन कार्य करना।

लक्षण[a]— 1. दीर्घ श्वास (Prolonged Respiration)
2. श्वास गति वृद्धि (Increased Respiration)
3. रुक-रुककर श्वास आना (Dyspnoea)
4. शब्द युक्त श्वास

1. a) यथा संक्षयात्प्राणवहानां स्रोतसां दुष्टिलक्षणम्। प्राणवहानि दूषयन्ति स्रोतांसि क्षयेण चातपेन व्यायामेन च। (च.वि. 5/10)
b) अतिप्रवृत्तं अतिसारे कुक्षिप्रस्यन्दनाध्मानादिषु वा लक्षणम्। (च.वि. 5/7)
c) प्रजागरान्नजागरणात् दुष्टिं कफोऽक्षि गच्छति। (च.वि. 5/26)

चिकित्सा[a]— प्राणवह स्रोतो दुष्टि जन्य रोगों में श्वास रोग के समान चिकित्सा करना लाभकारी रहता है, यथा स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन एवं संशमन चिकित्सा करें।

2. अन्नवह स्रोतस दुष्टि[1]—

निदान[a]— 1. अध्यशन
2. अहिताहार सेवन
3. अजीर्णांश
4. भोजन के पश्चात् व्यायाम
5. मैथुन (भोजन के पश्चात्) इत्यादि

लक्षण[a]— 1. अरुचि
2. आध्मान
3. अपच
4. वमन
5. तृष्णा
6. शूल

चिकित्सा[a]— अन्नवह स्रोतो दुष्टि जन्य रोगों में भिन्न सिद्धांतों के अनुसार चिकित्सा लाभप्रद रहती है-

1. दीपन
2. पाचन
3. वमन
4. विरेचन इत्यादि

3. उदकवह स्रोतस् दुष्टि[1]

निदान[a]— 1. ऊष्ण आहार
2. रुक्ष आहार
3. भय
4. मद्य सेवन
5. आम अन्न सेवन
6. शुष्कान्न सेवन
7. तृष्णा निग्रह

लक्षण[a]— 1. निद्रा, कण्ठ एवं तालु शुष्कता
2. मुख का सूखना
3. ओष्ठ का सूखना
4. तृष्णाधिक्य

1. a) अतिस्वप्नेन भावाश्चे चाहिताश्च न पचेयुः। आलस्यादि तु दुष्यन्ति वैगुण्यात् पाचकस्य च। (च.वि. 5/12)
b) अन्नवहिलक्षणमीषत्कर्तव्यादौ दुष्टं च दुष्टान्नजान्यत्र स्रोतांसि प्रदुष्यन्ति विद्यात्। (च.वि. 5/8)
c) ..... तमोवातप्रकोपिकौ। (च.वि. 5/29)
2. a) औष्ण्यतृष्णात्यया गलतालुशुष्कास्यता। अम्बुवाहीनि दुष्यन्ति तृष्णायाश्चातिनिग्रहात्। (च.वि. 5/11)

Scanned with CamScanner

चिकित्सा[8]— उदकवह स्रोतो दुष्टि जन्य रोगों में तृष्णा शामक चिकित्सा करना विशेष लाभकारी रहता है।

4. रसवह स्रोतो दुष्टि[1]

निदान[9]— 1. गुरु एवं शीत आहार सेवन
2. अति स्निग्ध आहार सेवन
3. अतिमात्रा में भोजन
4. अत्यधिक चिन्तन

लक्षण[4]— 1. अरुचि
2. मुख वैरस्य
3. ह्लास, गौरव, तन्द्रादि। रस धातु प्रदोषज अन्य विकार रस वह स्रोतस के दुष्ट होने पर उत्पन्न होते हैं।

चिकित्सा[8]— रसवह स्रोतो दुष्टि जन्य रोगों में आम दोष नाशक एवं हेतु चिकित्सा प्रशस्त है।

5. रक्तवह स्रोतो दुष्टि[2]

निदान[9]— 1. विदाही, ऊष्ण आहार सेवन
2. द्रव एवं स्निग्ध आहार सेवन
3. अत्यधिक आतप सेवन
4. अत्यधिक वायु सेवन

लक्षण— समस्त रक्त प्रदोषज विकार रक्तवह स्रोतस् के दुष्ट होने पर उत्पन्न होते हैं।

चिकित्सा[8]— रक्तवह स्रोतो दुष्टि में निम्न चिकित्सा क्रम लाभकारी है-
1. रक्तपित्त शामक चिकित्सा
2. रक्तमोक्षण

6. मांसवह स्रोतो दुष्टि[3]

निदान[9]— 1. गुरु, अभिष्यन्दी भोजन सेवन
2. स्थूल भोज्य पदार्थों का सेवन
3. भोजन के बाद शयन

---

8) स्निग्धातिशीतोदकपानशीलानां पित्तानि चाधिबृद्धो रक्तोदकवहान्याशु स्रोतांसि प्रदुहतीति विद्यात्।

9) _____ चार्थं दुष्टोसत्मरी_____।

1. 1) गुरुस्निग्धातिशीतोष्णभोजनात् रसवहम्। रसवाहीनि दुष्यन्ति पित्तयुक्तं चाति चिन्तनात्॥ (च.वि. 5/15)
2) अम्लक्षारविदाह्यन्न_____।_____रक्तम्; चाधिजायते च॥ (च.सू. 28/9-10)
2. 1) विदाह्यम्लक्षारात्युष्णस्निग्धभोजनैः दुष्यति च। रक्तवहानि दुष्यन्ति भजतां भोजनानि॥ (च.वि. 28/25)
2) दुष्टं तु रक्तमिहोक्तेषु रक्तपित्तहरी क्रियाः। (च.वि. 5/16)
3. 1) अभिष्यन्दीनि भोज्यानि स्थूलानि च गुरूणि च। मांसवाहीनि दुष्यन्ति भजतां च शयनं दिवा॥ (च.वि. 5/16)

लक्षण— समस्त मांस प्रदोषज विकार मांसवह स्रोतस् के दुष्ट होने पर उत्पन्न होते हैं।

चिकित्सा— मांसवह स्रोतोदुष्टि जन्य रोगों में निम्न चिकित्सा सिद्धान्त लाभकारी रहते हैं-
1. यकृतोदर तथा अर्श के समान उपचार
2. अग्नि कर्म, शस्त्रकर्म, क्षार कर्म

7. मेदोवह स्रोतो दुष्टि[1]

निदान[11]— 1. अव्यायाम 2. दिवास्वप्न
3. मद्य का सेवन 4. स्निग्ध पदार्थों का अतिसेवन

लक्षण— समस्त मेद प्रदोषज विकार मेदवह स्रोतो दुष्टि होने पर उत्पन्न होते हैं।

चिकित्सा[10]— मेदोवह स्रोतो दुष्टि जन्य रोगों की चिकित्सा निम्न सिद्धान्तानुसार करनी चाहिए-
1. मेदोरोग की चिकित्सा
2. अपतर्पण-कर्षण चिकित्सा
3. कफ-मेद नाशक उपक्रम करें

8. अस्थिवह स्रोतो दुष्टि[2]

निदान[9]— 1. अति व्यायाम 2. अतिक्षोभ
3. अभिघात 4. पीड़न (दबाव)
5. अस्थिपर्वण 6. पित्तवर्धक आहार विहार सेवन।

लक्षण— समस्त अस्थि प्रदोषज विकार अस्थि स्रोतस् के दुष्ट होने पर उत्पन्न होते हैं।

चिकित्सा[11]— अस्थिवह स्रोतोदुष्टि जन्य रोगों में निम्न चिकित्सा सूत्र लाभकारी है-
1. पंचकर्म (संशोधन चिकित्सा) 2. तिक्त क्षीर बस्ति प्रयोग
3. तिक्त सर्पिपान

9. मज्जावह स्रोतो दुष्टि

निदान[1]— 1. कुपथ्य खाने के कारण
2. कफ के भर जाने से
3. हड्डी के दबने से
4. अति अभिष्यंदी भोजन सेवन

---

1. 1) अजागरमदिवास्वप्नमेदोजानां चातिभक्षणम्। मेदोवाहीनि दुष्यन्ति चाहम्याक्षतिसेवनम्॥ (च.वि. 5/16)
2) अहो विदाह्यतीक्ष्णोष्णभाष्ये मेदोजानां चिकित्सितम्। (च.सू. 28/26)
2. 1) व्यायामतीक्ष्णक्षोभाभिघातपीडनैः विदूषणम्। अस्थिवाहीनि दुष्यन्ति कालजानां च सेवनम्॥ (च.वि. 5/17)

Scanned with CamScanner

5. चोट लगने से
6. विरुद्ध आहार विहार सेवन

लक्षण— समस्त मज्जा प्रदोषज विकार मज्जावह स्रोतस् के दुष्ट होने पर उत्पन्न होते हैं।

चिकित्सा— मज्जावह स्रोतस के दुष्ट होने पर निम्न चिकित्सा करनी प्रशस्त है-

1. पंचकर्म (संशोधन)
2. क्षीरवस्ति एवं मज्जा दुष्टि की चिकित्सा

10. शुक्रवह स्रोतो दुष्टि

निदान[1]—
1. शुक्र वेगधारण
2. अकाल व अयोनि में मैथुन
3. अति मैथुन
4. शस्त्र, क्षार एवं अग्नि के स्पर्श से

लक्षण— समस्त शुक्र प्रदोषज विकार शुक्रवह स्रोतस् के दुष्ट होने पर उत्पन्न होते हैं।

चिकित्सा— शुक्र वह स्रोतोदुष्टि में निम्न सिद्धांतानुसार चिकित्सा लाभकारी रहती है-

1. शुक्र दोष की चिकित्सा 2. वाजीकरण चिकित्सा

11. मूत्रवह स्रोतो दुष्टि[1]

निदान[2]—
1. मूत्र वेग धारण कर पानी पीना
2. मूत्र वेग होने पर भोजन करना
3. मूत्र वेग होने पर मैथुन करना
4. स्रोतों पर आघात लगना
5. क्षय

लक्षण[3]—
1. मूत्र की अतिप्रवृत्ति

---

1. अम्बुवहानां खल्वादौ पंचकर्माणि पेयकम्।
   बातज: श्रोत्रमेवेति विशेषो वक्ष्यते च॥
1. ऊरुवंक्षणयोर्भग्नशूलाध्मानं प्रकोष्टकम्। मूत्रकृच्छ्राणि दुष्यन्ति विरुद्धानां च सेवनात्॥ (च.सू. 28/27)
2. अकालजेऽयोनिजेऽतिप्रसङ्गेऽतिमैथुने। शुक्रवहानि दुष्यन्ति शस्त्रक्षाराग्निभिस्तथा॥ (च.वि. 5/16)
3. i) पूर्वोपद्रवरूपाणां संसर्गात्सन्निपातात्।
   मूत्रवहानि दुष्यन्ति श्रोत्रमाश्रित्य च॥ (च.वि. 5/19)
   ii) श्रोणिमूत्रगुदाग्रेषु प्रदुष्टश्लेष्मलक्षणैर्वेगा या वहते स्थूलंस्थूलवहा हरेत् मूत्रवहान्यस्य स्रोतांसि दुष्टानीति विद्यात्॥ (च.वि. 5/22)
   iii) पूर्वोद्दिष्टलक्षणं चिकित्सेत् मूत्रकृच्छ्रवत्। (च.वि. 5/8)
   तत्प्रतिषिद्धानां चार्थानां तथा त्वं चिकित्सकः॥ (च.वि. 5/25)

2. मूत्र अल्पप्रवृत्ति
3. अति मात्रा में आविल मूत्र प्रवृत्ति
4. सशूल मूत्र प्रवृत्ति (Dysuria)
5. सपूय मूत्र प्रवृत्ति (Pyuria)

चिकित्सा[4]— मूत्रवह स्रोतोदुष्टि जन्य रोगों की चिकित्सा मूत्रकृच्छ्र की तरह करें-

12. पुरीषवह स्रोतो दुष्टि[1]

निदान[1]—
1. वेग धारण
2. अतिभोजन
3. अजीर्ण
4. अध्यशन
5. अग्निमांद्य
6. कृशता

लक्षण[2]—
1. सकष्टमल प्रवृत्ति (Painful defecation)
2. पतला, अतिमात्रा में या गांठदार मल की प्रवृत्ति
3. मलबद्धता (Constipation)
4. आनाह
5. श्लेष्मयुक्त य दुर्गन्धित मल प्रवृत्ति।

चिकित्सा[3]— पुरीषवह स्रोतों दुष्टि जन्य रोगों की चिकित्सा अतिसार व विबन्ध चिकित्सा की तरह करना उचित रहता है

13. स्वेदवह स्रोतो दुष्टि[1]

निदान[1]—
1. व्यायाम
2. अति आतप सेवन
3. शीत-उष्ण पदार्थों का निरंतर सेवन
4. क्रोध शोक भयादि की अति प्रवृत्ति

लक्षण[2]—
1. अति स्वेद
2. अस्वेद

---

1. i) शोणितप्रदोषजानादवीर्णमिताशनस्य वर्त्मजायते दुष्यति दुर्बलस्थले कृमयश्च॥ (च.वि. 5/21)
   ii) कृच्छ्रेणाल्पाल्पं सशाध्मानशूलमतिप्रभूतविप्रथितविप्रविबद्धं पुरीषं वहान्यस्य स्रोतांसीति प्रदुष्टानीति विद्यात्॥ (च.वि. 5/8)
   iii) .....तयातिसारिको वार्त..... (च.वि. 5/28)
2. i) "व्यायामतीक्ष्णातपशीतोष्णसमासेवनात्।
   स्वेदवाहीनि दुष्यन्ति प्रद्वेषोऽकर्मचैतसः॥" (च.वि. 5/22)
   ii) आस्वेदनमतिस्वेदं चरन्तमति मूलवाहस्य पीडयं च लोमहर्षं च दृष्ट्वा स्वेदवहान्यस्य स्रोतांसि प्रदुष्टानीति विद्यात्॥ (च.वि. 5/8)

Scanned with CamScanner

3. पारुष्य
4. अति स्निग्धता
5. अंगदाह
6. स्रोमहर्ष

चिकित्सा— स्वेदवह स्रोतो दुष्टि जन्य रोगों की चिकित्सा प्रदर व रक्त कृच्छ्रता के चिकित्सा के सिद्धांत अनुसार करना उचित रहता है।

14. आर्तववह स्रोतो दुष्टि

निदान[1]—
1. रजः काल में मिथ्याहार विहार
2. गुरु, तीक्ष्ण, अभिष्यन्दी आहार-विहार का अति सेवन
3. उष्णाहार सेवन
4. अति मैथुन

लक्षण—
1. बन्ध्यत्व
2. मैथुन असहिष्णुता (Dyspareunia)
3. आर्तव अतिप्रवृत्ति (Metrorrhagia)
4. रजःकृच्छ्रता (Dysmenorrhoea)

चिकित्सा[2]— आर्तववह स्रोतो दुष्टि जन्य रोगों की चिकित्सा प्रदर व रक्त कृच्छ्रता की चिकित्सा की तरह करना चाहिए। रक्तस्राव शामक औषध द्रव्यों का तथा उत्तर वस्ति का प्रयोग लाभकारी रहता है।

व्याधि उत्पत्ति में स्रोतस् का महत्व

1. आयुर्वेद सिद्धांतों के अनुसार स्रोतसों की प्राकृतावस्था स्वास्थ्य के लिए तथा विकृतावस्था रोग के लिए उत्तरदायी है[3]। स्रोतसों के प्राकृत रहने पर सम्पूर्ण धातु व्यापार एवं धातु पाक-प्रक्रिया प्राकृत रूप से चलती रहती है एवं इनके विकृत होने पर इनके मार्ग में उपस्थित दोष, धातु, मलादि दूषित हो जाते हैं एवं विशिष्ट रोगोत्पत्ति करते हैं[4]।
2. किसी भी व्याधि की उत्पत्ति में स्रोतों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। कुपित हुए दोष जब किसी स्रोत विशेष के आश्रय से शरीर में कुपित होकर भ्रमण करते हैं तो वे किसी भी स्थान पर विकारोत्पत्ति नहीं कर सकते वरन् जिस स्थान पर स्रोतो दुष्टि होती है अर्थात् "खवैगुण्य" (Weak point

1. निदानार्थकरः स्रोतसां प्रदूषकश्चैव य। आयने संग्रहश्चैव दैवाश्च क्षुतु तः पृथक्॥ (च.वि. 3/9)
2. विविधमुपक्रमस्तस्य कुर्यात्तत्तत्समुद्भवे। (सु.सू. 2/12)
3. ० दुष्टेन वेगवत् विशुद्धेन सुखम्य। (अ.हृ.सू. 3/24)
4. तेषां प्रदोषात् स्थानसंश्रयात् विकारः सम्प्राप्तेः कारणम्। (च.वि. 5/6)
(च.वि. 5/9)

focal point) होता है उस स्थान पर दोष पहुंचकर संबंधित लक्षणावली का प्राग रूप के पश्चात् व्याधि को उत्पन्न करते हैं[1]।

3. प्रकुपित दोष स्रोतस् में प्रवेशकर स्रोतो दुष्टि करते हैं। यह अवस्था स्थानसंश्रय कहलाती है। स्रोतस् दुष्ट होकर न केवल धातुओं को दूषित करते हैं वरन् अपने समीपवर्ती स्रोतस् को भी विकृत या दूषित करके तत्-तत् स्थानज रोगों को उत्पन्न करते हैं। खवैगुण्य के स्थान पर ही विकृत दोष व दूष्य की सम्मूर्च्छना (मिलना) होता है। अतः स्रोतो दुष्टि होने पर ही व्याधि के पूर्वरूप प्रकट होते हैं[2]।

स्रोतस् का व्याधि चिकित्सा में महत्व

1. रोग निदान व चिकित्सा में स्रोतस् का बहुत महत्व है। स्रोतो दुष्टि के लक्षणों के आधार पर ही किसी रोग की विशिष्ट सम्प्राप्ति का ज्ञान होता है तथा उसी आधार पर चिकित्सक सम्प्राप्ति का विघटन करके चिकित्सा कार्य सम्पादित करता है, क्योंकि सम्प्राप्ति विघटन ही चिकित्सा है।
2. अतिसार होने पर अतिप्रवृत्ति को देखकर पुरीषवह स्रोतस् की दुष्टि का ज्ञान होता है तथा चिकित्सक उस अतिप्रवृत्ति को रोकने के लिए संग्राही, दोषनाशक एवं पाचनीय औषध प्रयोग द्वारा उपचार करता है। इसी प्रकार आनाह, विबंध आदि होने पर पुरीषवह स्रोतस् में संग का ज्ञान होता है एवं उस संग को दूर करने के उपाय किए जाते हैं। यथा-विरेचन कर्म इत्यादि।
3. दोषों की अति प्रवृत्ति होने पर संग (रोकने) के उपाय तथा धातुओं का संग (अवरोध) होने पर अति प्रवृत्ति करने के उपाय किये जाते हैं।
4. इसी प्रकार अन्य स्रोतो दुष्टि के लक्षण विशेष ज्ञात होने पर यथा-अम्लपित्त में पुरीषवह स्रोतस् से पित्त का निष्कासन होता है। अतः प्रतिलोम गति को प्राप्त हुए पित्त की गति अनुलोम करना ही चिकित्सा है। यथा-वमन कर्म द्वारा अधोग पित्त को ऊर्ध्व भाग से निकालकर उसकी गति अनुलोम करना ही चिकित्सा का महत्वपूर्ण सिद्धांत है।
5. रसोतो दुष्टि का एक गम्भीर लक्षण सिरा ग्रंथि है। इसमें संबंधित स्रोतस् में ग्रंथि बन जाने से अवरोध होने पर ग्रंथि विलयित करने के उपाय (लेखनीय द्रव्य, छेदनीय द्रव्य प्रयोग) करने चाहिए। किंतु लाभ न होने पर शस्त्र चिकित्सा द्वारा ग्रंथि निष्कासना ही श्रेष्ठ उपाय होता है।

अतः व्याधि स्रोतस् एवं उसके दुष्टि लक्षणों का ज्ञान व्याधि चिकित्सा हेतु अत्यंत आवश्यक है। एक बुद्धिमान एवं उत्तम चिकित्सक को रोग चिकित्सा की सफलता हेतु इनका ज्ञान अनिवार्य रूप से होना चाहिए।

1. दुष्टिलक्षणं हि येषां शरीरे परिदृश्यते। तत्र खवैगुण्यं व्याधिविशेषजानीयात्॥ (सु.सू. 24/10)
2. एवं प्रकुपितं शारीरं ——— । ——— तं प्रतिलोमं वहन्तः॥ (च.सू. 21/33)

Scanned with CamScanner

पंचम अध्याय

काय चिकित्सा विवेचन

काय शब्द की निरुक्ति

काय शब्द को विभिन्न अर्थों में ग्रहण किया गया है। 'काय' शब्द की निरुक्ति आचार्यों ने निम्न प्रकार से की है-

1. "चीयतेऽन्नादिभिरिति कायः" अर्थात् अन्नादि से जिसका पोषण होता है उसे 'काय' कहते हैं। 'काय' शब्द की निष्पत्ति "चिञ्-चयने" धातु में 'घञ्' प्रत्यय लगाने से होती है। इसका अर्थ है 'देह"।

   'देह' शब्द 'दिह्-उपचये वर्धने' धातु से 'घञ्' प्रत्यय लगाने से बना है। सृष्टि के क्रम ही अन्नादि के सेवन से शरीर उपचित होता रहता है एवं इसका वर्धन भी होता रहता है, व स्थिति सुदृढ़ रहती है, अतः इसे 'देह' कहते हैं।

2. 'काय' का एक अर्थ 'शरीर' भी है। 'शरीर' शब्द 'शृ-हिंसायाम्' धातु में 'इत्' प्रत्यय लगाने से बना है। "शृणाति शीर्यते या-शरीरम्" अर्थात् श्वास, आलोचन, क्रमण, चिन्तन, मलोत्सर्ग व अनेक बाह्य व आभ्यन्तर क्रियाओं से एवं काल स्वभाव से इसका प्रतिक्षण नाश होता रहता है। अतः इसे 'शरीर' कहते हैं।

3. 'कायति शब्दायते इति कायः।' निरुक्ति से 'काय' का एक अर्थ 'मन' भी है। 'कायतीति कायः' के अनुसार 'काय' का अर्थ 'हृदय' भी किया जाता है। हृदय से रक्त वमन करते समय रक्तष्ठ (धुक्-धुक्) स्फुरण भी होता है। यही रक्तष्ठ स्फुरण अथवा धुक्-धुक् शब्द जो हृदय का द्योतक है, से 'काय' पद का ग्रहण किया जाता है। हृदय गति या हृदय गति जन्य शब्द को 'काय' है तथा हृदय गति बनाये रखना ही काय चिकित्सा है।

4. काय का एक अर्थ 'जठराग्नि' भी किया गया है। शरीर, बल, आरोग्य, आयु एवं प्राण ये सभी जठराग्नि के अधीन हैं। अग्नि को जीवन का मूल आधार

(च.चि. 15/3)

बताते हुए आचार्य चरक ने स्पष्ट किया है कि अग्नि के नष्ट हो जाने पर पुरुष की मृत्यु हो जाती है, अग्नि के साथ रहने पर व्यक्ति जीवित रहता है तथा निश्चित समय तक जीवित रहता है। अग्नि के विकृत हो जाने पर व्याधि होती हो जाता है'।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान से काय का सामंजस्य

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में निर्माण की प्रक्रिया को Anabolism तथा विनाश की प्रक्रिया को Katabolism तथा दोनों के सामंजस्य से बनी रहने वाली स्थिति को Metabolism कहते हैं। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर 'काय' शब्द से Anabolism (चीयतेऽन्नादिभिरिति कायः), 'शरीर' शब्द से Katabolism (शीर्यते इति शरीरम्), तथा 'देह' शब्द से Metabolism का बोध होता है।

काय	-	चीयतेऽन्नादिभिरिति कायः	= Anabolism
शरीर	-	शीर्यते इति शरीरम्	= Katabolism
देह	-	दिह्-उपचये-वर्धने	= Metabolism

शरीर में हर समय उसके धारक तत्वों का क्षय होना व संहार होना (Wear & Tear phenomenon) जीवन की एक स्वभाविक प्रक्रिया है। आयुर्वेद में इसे ही 'धातु पाक' संज्ञा से वर्णित किया गया है। अन्य दृष्टि से जब शरीर में उपयुक्त आहार द्रव्य का जाठराग्नि द्वारा पाक होकर नवीन शरीर घटक द्रव्यों का निर्माण होता है तब इस अवस्था को 'प्रसाद पाक' (Anabolism) एवं, इसके विपरीत शरीर में विघटन या तोड़-फोड़ करके शरीर के घटक द्रव्यों के उपयोग व मलों की उत्सर्ग की क्रिया होती है तो उस अवस्था को 'मल पाक' (Katabolism) कहा जाता है। 'प्रसाद पाक' व 'मल पाक' को सम्पूर्णतः 'धातु पाक' (Metabolism) कहते हैं। शरीर की यथास्थिति व सक्रियता का यही आधार है।

काय शब्द के पर्याय[1]

'अमरकोश' में काय शब्द के निम्न पर्याय बताये गये हैं-कलेवर, गात्र, वपु, शरीर, वर्ष्म, विग्रह, काय, देह, मूर्ति, तनु एवं तनू-ये समस्त पर्याय एकार्थवाची हैं, इनसे 'काय' का ही बोध होता है।

1. कलेवर—'कले शुक्रे मधुराव्यक्तध्वनौ वा वरेण्ठे इति कलेवरम्।' (अरुण दत्त) अर्थात् जो मधुर अव्यक्त ध्वनि करे व शुक्र का श्रेष्ठ परिणाम हो उसे कलेवर कहते हैं।

---

1. त्रिपाठी रामकीर्ति - देह।
2. आयुर्वेदसर्वस्वमायुस्तस्याश्रयत्वेन प्रभुः।
   तौ यावद्देहसंयोगं प्राणास्तावदिति स्थितिः॥

(च.चि. 15/3)

1. ज्ञानेऽग्नौ शिरसि, पुंसि नित्यं चीयतेऽन्नमयः। रोगे स्यादधिकृते, मूलार्थदृक्तमन्तीतरच्छौ॥ (च.चि. 15/4)
   ..... अमरकोशः।
   कार्यं वपुः संहननं शरीरं वर्ष्म विग्रहः।
   कायो देहः कलेवरं पुंसि मूर्तिस्तनुस्तनूः॥

(अमरकोश 2/26/70-71 उत्तरार्ध)

2. **शव**—'शवु गतौ' धातु में 'घञ्' प्रत्यय लगाने पर 'शव' शब्द बनता। जिसका अर्थ है जो गतिशील या परिवर्तनशील होता है वह 'शव' है।

3. **वसु**—'वसन्ति तत्रेति वसवः'-जहाँ रहते हैं, 'वसि' प्रत्यय लगाने पर 'वसु' का निर्माण होता है। अर्थात् देहान्तर में उत्पत्तिरूप जन्मों के बीजों का जिसमें अन्तर्निहित किया जाता है या दूसरे जन्म में प्रथम कृत कर्मों का जो वस्त्र धारित है उसे 'वसु' कहते हैं।

4. **संहनन**—'सहन्ति संहन्यते वा।' जिसमें पंच महाभूतों का समुचित संयोग हो या जिसका सतत संहनन, घनत्वरूप होता हो उसे संहनन कहते हैं।

5. **शरीर**—'शृणाति शीर्यते वा' अर्थात् जो क्षण प्रतिक्षण क्षीण होता है उसे 'शरीर' कहते हैं।

6. **धर्म**—'धनु गतौ' धातु में धृञ्धारणे वा, मनिन् प्रत्यय। अर्थात् जिसमें प्रकृति स्वभावों को उसे 'धर्म' कहते हैं।

7. **विग्रह**—'विविधं गुणादि ग्रहणाति विविधैः व्याधिभिर्गृह्यते वा।' 'ग्रह' प्रत्यय लगने से विग्रह शब्द बनता है। इसका अर्थ सुख-दुख को ग्रहण करने वाला, विभिन्न रोगों से ग्रसित होने वाला है।

8. **काय**—'भीयते:क्षादिभिरिति कायः।' अर्थात् अन्नादि आहार से जिसका पोषण होता हो उसे 'काय' कहते हैं।

9. **देह**—दिह-उपचये-दिह्यते, अर्थात् जिसका क्रमशः संवर्धन हो उसे 'देह' कहते हैं।

10. **मूर्ति**—'मूर्त पुरुषस्य पृथ्वी मूर्तिः।' (च.शा.) 'मूर्च्छा मोह समुच्छ्रायमोः।' जो आकृतियुक्त हो उसे मूर्ति कहते हैं।

11. **तनु**—'तनु विस्तारे।' जिसका विस्तार या प्रसारण हो उसे 'तनु' कहते हैं।

12. **तनु**—'तनोति तन्यते वा।' जो फैले या बढ़े या जो आकार आदि रोपण प्राप्त कर बढ़ती हो या जिसमें आकार से भिन्न नव निर्माण द्वारा परिवर्धन हो उसे 'तनु' कहते हैं।

काय के विभिन्न भेद

'काय' के निम्न आधार पर भेद किए गए हैं-

1. मन (सत्व) के अनुसार
2. सार के अनुसार
3. प्रकृति के अनुसार

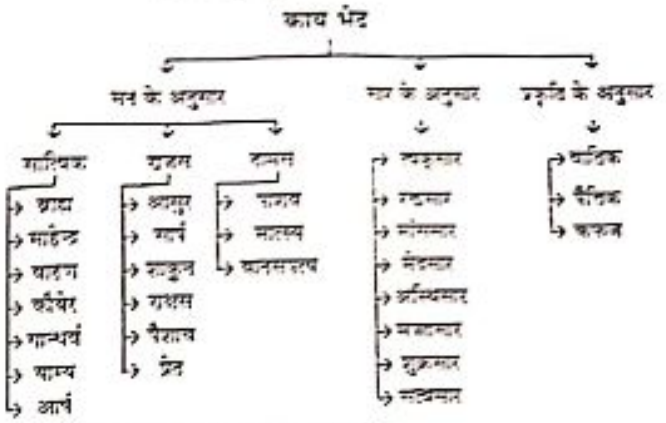

1. मन (सत्व) के अनुसार काय के भेद

'काय' के भेद काय में रहने वाले सत्व (मन) की वृत्तियों के अनुसार किए जाते हैं। रोग चाहे शारीरिक हों या मानसिक, उसकी चिकित्सा के पूर्व शरीर का ही नहीं, मन (अंतःस्थल) का भी परीक्षण आवश्यक है।

मन शब्दादि विषयों, इंद्रियों एवं प्राणों के कारण काय में सत्व, रजस्, व तामस वृत्तियों का उदय होता है। सत्व गुण प्रकाशक, स्थिर एवं शांत होता है तथा उसका स्वभाव शांति व जितेन्द्रियता है। रजो गुण बुद्धि का कारण है, तथा इसका स्वभाव आसक्ति व प्रवृत्ति है। तमोगुण अज्ञानता का कारण है तथा उसका स्वभाव आलस्य एवं बुद्धि की मूढ़ता है।

आयुर्वेद में निम्न तीन प्रकार के कायों का वर्णन है-

1. सात्विक काय - 7 भेद
2. राजसिक काय - 6 भेद
3. तामस काय - 3 भेद

इसमें शुद्ध सात्विक काय को कल्याणांश की बहुलता होने से अदोष (दोष रहित) कहा है। दोषांश के आधिक्य के कारण राजस शरीर को सदोष कहा गया है तथा मोहांश के अधिक होने से तामस शरीर को भी सदोष कहा गया है। इस विषय में आचार्य चरक ने सात्विक काय को 'दैव शरीर' राजस काय को 'मानव शरीर' तथा तामस काय को 'पशु शरीर' की संज्ञा दी है[1]।

1. त्रिविधं खलु सत्त्वं-शुद्धं राजसं तामसमिति। तत्र शुद्धमदोषमात्रार्थं कल्याणांशत्वात्, राजसं सदोषमात्रार्थं दोषांशत्वात्, तामसमपि सदोषमात्रार्थं मोहांशत्वात्। शारीरं इति सत्त्वमनुविधीयते, सत्त्वं च शरीरं॥ (च.शा. 4/36)

Scanned with CamScanner

1. सात्विक काय के भेद एवं लक्षण

सात्विक काय के निम्न 7 भेद हैं [च.शा. 4 एवं सुश्रुत शा.4]

ब्राह्म काय	आर्ष काय	माहेन्द्र काय	याम्य काय	वारुण काय	कौबेर काय	गान्धर्व काय
शुचि सत्यवादी जितेन्द्रिय संविभागी ज्ञान-विज्ञान-सम्पन्न स्मृति, धृति, क्षमा-सम्पन्न स्मृतिवान काम रहित क्रोध रहित लोभ रहित मान रहित मोह रहित ईर्ष्या रहित सर्वप्राणियों से समभाव। आस्तिक अमर्ष रहित वेदाभ्यासी	अध्ययन प्रिय व्रत प्रिय होम प्रिय जप्य प्रिय अतिथि प्रिय सत्योपन्यास प्रिय मद रहित अभिमान रहित राग रहित द्वेष रहित मोहरहित लोभ रहित प्रतिभास रहित वचन सम्पन्न विज्ञान सम्पन्न मेधा सम्पन्न दोष रहित जप प्रिय	ऐ श्वर्यवान आदेश पालन यज्ञ करने वाला शूरवीर ओजस्वी तेजोयुक्त क्षुद्र कर्म न-करनेवाला। दूरदर्शी धर्मरत अर्थ रत कामरत महात्मा आज्ञावान सतत् शास्त्र-बुद्धि। भृत्य भरण	कार्याकार्य-अकर्तव्य मर्यादा-ज्ञान। प्राणधारी असम्प्रहारी उत्थानवान ऐ श्वर्यवान अलोभी रोगरहित ईर्ष्या रहित द्वेष रहित मोह रहित दृढ़ोत्थानवान निर्भय शुचि मद रहित	शूरवीर शुचि अशुचि द्वेषी यज्ञ में रुचि अम्भोविहार रति अधिलाष कर्म स्थान प्रसादी शीत सेवी सहिष्णु पिङ्गलाक्ष हरित केश प्रियवादी	स्थान सम्पन्न मान सम्पन्न उपभोग सम्पन्न परिवार सम्पन्न धर्म नित्य कर्म नित्य अर्थ नित्य शुचि सुखविहारी व्यक्तकोषी व्यक्त प्रसादी मध्यस्थ सहिष्णु अर्थ संचयी महाप्रसव शक्ति	नृत्य प्रिय गीत प्रिय वादित्र प्रिय स्त्रीत पाठी श्लोक कुशल इतिहास प्रिय पुराण प्रिय गंध प्रिय माल्य प्रिय अनुलेपन प्रिय वसन प्रिय स्त्रीविहार काम नित्य अनसूयक

2. राजस काय के भेद एवं लक्षण

राजस काय के निम्न छः भेद हैं[1]

आसुर काय	राक्षस काय	पैशाच काय	सार्पकाय	प्रेतकाय	शाकुन काय
शूर चण्ड असूयक ऐ श्वर्यका क्षुद्र मैथुनी रौद्र निर्दयी आत्मपूजक एकाशी बहुभोजी	अमर्षि अनुबंध कोपी छिद्र प्रहारी क्रूर आहारगत मात्र रुचि आमिष प्रिय स्वप्न प्रिय आयास बहुल एकान्त ग्राही रौद्र व ईर्ष्यालु असूयक धर्मलाघ्न तत्पर भूशमात्र तमोगुणी	महाशी स्त्रैण स्त्रीरहस्कामी अशुचि शुचिद्वेषी भीरु भीषणिका विकृताहारशील विकृतविहारशील उच्छिष्टाहारी क्षीण साहसप्रिय स्त्रीलोलुप निर्लज्ज	क्रोधी शूर अक्रुद्ध भीरु क्षीण आयासबहुल संत्रस्त गोचर आहारप्रिय विहार प्रिय चण्ड, मायावी विहारपरास्त आचार चपल	आहारकामी अतिदुःखशील असूयक असंविभागी अतिलोलुप अकर्मशील आलसी अदाता	अनुसृत कर्मा अजस्रहारप्रिय अनवस्थित (चंचल) अमर्षी असंगची प्रवृद्ध काम सेवी

1. "ऐ श्वर्यमत्त ..... चैते राजस काया।" सु.श. 4/62-63(पू.श.)

Scanned with CamScanner

3. तामसकाय—तामस काय के निम्न तीन भेद हैं[1] (च.शा.4/39) एवं सु.शा. 93-96)

तामस काय के भेद एवं लक्षण

पाशव काय	मात्स्य काय	वानस्पत्य काय
क्रियारुचि	भीरु	आलसी
अमेधस	अबुध	केवलाभिनिविष्टाहारी
बुभुक्षितचारी	अनवस्थित	सर्वबुद्धिसंग्रहहीन
बुभुक्षितहारी	आहारलोभी	एक स्थान रति
मैथुन प्रिय	अनुबद्ध काम	सत्व वर्जित
स्वप्नशील	अनुबद्ध क्रोध	धर्म वर्जित
दुर्मेध	सत्यशील (मायाप्रिय)	काम वर्जित
मन्द	शोच हानी	अर्थ वर्जित
	मूर्ख	
	परस्परभिमर्द	

एक कुशल चिकित्सक के लिये इन विविध कायों का ज्ञान परमआवश्यक है, क्योंकि आयुर्वेद में शरीर-इन्द्रिय-सत्व (मन) एवं आत्मा के संयोग को ही आयु कहा गया है एवं चिकित्सा सिद्धान्त भी इन्हीं के अनुसार निर्धारित किये जाते हैं।

2. सार के अनुसार काय के भेद[2]

सार के अनुसार अर्थात् शरीर में उत्कृष्ट धातुओं की स्थिति के आधार पर काय के निम्न आठ भेद होते हैं—

1. त्वक् सार
2. रक्त सार
3. मांस सार
4. मेद सार
5. अस्थि सार
6. मज्जा सार
7. शुक्र सार
8. सत्व सार

1. तत्रासंहतेषु दोषेषु ..... विविधः कायः प्रेत्य चेह च समश्नुते॥ (सु.शा. 4/93-96)
2. सारतोऽष्टौ सत्त्वसंज्ञानां पुरुषाणां बलमार्तवौजोवज्रसारधातुप्रतिष्ठत्वात्; तद्यथा-त्वक्सारो रक्तसारो मांससारो मेदोसारोऽस्थिसारो मज्जसारः शुक्रसारः सत्त्वसारश्चेति। (च.वि. 8/102)

विभिन्न सार एवं उनके लक्षण

क्र.	सार	शारीरिक लक्षण	मानसिक लक्षण
1.	त्वक्सार	त्वचा स्निग्ध, श्लक्ष्ण, कोमल, प्रसन्न, पतली, सरल, सुकुमार, रोमयुक्त व चमकदार होती है।	सुख, सौभाग्य, ऐश्वर्य, उपभोग, वृद्धि, विद्या, आरोग्य प्रसन्नता एवं दीर्घायु का सूचक है।
2.	रक्तसार[1]	कान, नेत्र, आँख, मुख, जिह्वा, नासिका, ओष्ठ, हाथ पैर के तलवे तालवा एवं मूत्रेन्द्रिय स्निग्ध, रक्त वर्ण की चमकदार होती है।	सुख, पराक्रमशीलता, मनस्विता, सुकुमारता, अधिक बल, ओजस मल, व गर्मी को सहन करने वाला होता है।
3.	मांससार[2]	शंख प्रदेश, ललाट, ग्रीवाका पश्चात्-भाग, नेत्र, गाल, हनु, गर्दन, कन्धा, उदर, छाती, हाथ पैर की संधियां मांसी, स्थिर व मांस से भरी दृढ़ होती हैं।	सहनशील, धीरता, अलोभी, धन, विद्या, सुख, सरलता, आरोग्य बल व दीर्घायु का सूचक है।
4.	मेदसार[3]	स्वर, नेत्र, केश, रोम, वक्ष, दंत, ओठ, मूत्र एवं मल में स्निग्धता मिलती है।	धन, ऐश्वर्य, सुख उपभोग, क्षमाशीलता, सरलता, कोमलता व सेवाभाव का सूचक है।
5.	अस्थिसार[4]	एड़ी, गुल्फ, जानु, जंघा, विधुक, सिर, शरीर की संधियां, अस्थि, नख व दंत सुदृढ़ व स्थूल होते है।	अति उत्साही, अधिकबाय शील, क्लेशसह, दृढ़ शरीर वाले व दीर्घायु होते हैं।
6.	मज्जासार[5]	बलवान, वर्ण व स्वर कोमल व स्निग्ध, संधियां मोटी	ज्ञानविज्ञान सम्पन्न, विज्ञानसम्पन्न, धनी, सन्तान युक्त

1. तत्र स्निग्धश्लक्ष्णसुकुमारप्रसन्नौजस्कत्वङ्मांसोपगूढसन्धिबन्धनः स्थिरसंहतसुविभक्तगात्रः सुप्रमाणसंहननो रक्तसारः। सा खलु सुखसौभाग्यैश्वर्योपभोगवृद्धिविद्यारोग्यप्रसादकर्षणमाद्यायुषां भवति॥ (च.वि. 8/103)
2. कर्णौष्ठगुह्यनिर्द्धारणेक्षणशिरः शङ्ख-ललाटग्रीवेक्षणस्निग्धश्लक्ष्णदीर्घबाहुजङ्घोरुवृषणसन्धिबन्धनः स्थिरसंहतसुविभक्तमांसोपचितगात्रः सुप्रमाणसंहननो मांससारः। सा खलु सुखसौम्यैश्वर्यसहिष्णुताक्लेशसहिष्णुत्वदीर्घायुष्कत्वकर्षणमाद्यायुषां भवति॥ (च.वि. 8/104)
3. शंखललाटपृष्ठग्रीवाकक्षोरुजङ्घाबाहुपृष्ठोदरकटीवक्षःस्थलेषु प्रभूतस्निग्धसंहतसुविभक्तमांसोपचितगात्रः स्निग्धसुखश्लक्ष्णसौम्यसंहतसुविभक्तमांसस्नायुः। सा खलु सर्वां पुष्टिमतीव्रं वित्तं विद्यां सुखमार्यत्वमारोग्यं बलमायुश्च दीर्घमाधत्ते॥ (च.वि. 8/105)
4. वर्णस्वरनेत्रकेशरोमवक्षदन्तौष्ठमूत्रपुरीषेषु स्निग्धः स्नेहोपेतः सस्नायुः। स खलु सर्वां क्रियां सुखोपलभ्यतामार्यतां संसुखयत्यारोग्यायुषां भाजनं भवति॥ (च.वि. 8/106)
5. परिणतस्निग्धश्लक्ष्णसुविभक्तदीर्घस्थूलः स्थूलास्थि नखदन्तजठरशिरसां सारः। ते महोत्साहाः क्रियाक्षमाः क्लेशसहाः सहास्थिसंहतयो भवन्त्यायुष्मन्तः॥ (च.वि. 8/107)
6. मृदुस्निग्धश्लक्ष्णवर्णस्वरः स्थूलदीर्घसुसंहतसन्धिः सत्त्वसारः। ते दीर्घायुषो बलवन्तः सुविभक्तविज्ञानसंज्ञानसंपन्नाश्च भवन्ति॥ (च.वि. 8/108)

Scanned with CamScanner

7. शुक्रसार[1]	सौम्य दृष्टि एवं प्रकृति वाले, नेत्र दुग्धपूरित, श्वेत वर्ण, दांत चिकने व गोलाकार, दृढ़, समानाकार, ठोस, व अग्रभाग बराबर, शरीर का वर्ण व स्वर निर्मल व स्निग्ध एवं चमकदार होता है। स्त्रियों के प्रिय होते हैं।	दयालु, प्रसन्नचित्त, बलवान, सुख, ऐश्वर्य आरोग्य, धन, आदर, एवं अधिक संतान के पात्र होते हैं। सुखी, स्वस्थ एवं संतान युक्त होते हैं।
8. सत्वसार[2]	इनकी गतियां स्थिर होती हैं।	अति उत्साही, पवित्र, बुद्धिमान, चतुर, धीर, पराक्रमी, गम्भीर चेष्टा युक्त, निरन्तर कल्याण की कामना युक्त, विषाद रहित होते हैं।

3. प्रकृति के अनुसार काय के भेद

प्रकृति के अनुसार काय के निम्न 7 भेद हैं—

1. वातिक प्रकृति
2. पैत्तिक प्रकृति
3. कफज प्रकृति

4,5,6. द्वन्दज प्रकृति

7. सम प्रकृति

विभिन्न प्रकृति एवं उनके लक्षण

क्र.स.	प्रकृति	लक्षण
1.	वात प्रकृति[1]	अल्प केश युक्त, कृश, रुक्षशरीर वाला, अधिक बोलने वाला, रुक्ष स्वर, गति, चेष्टा एवं आहार लघु एवं चंचल होता है। शरीर में कण्डरा एवं सिरायें अधिक दिखती हैं। शीघ्र ही कार्य को आरंभ करने वाले तथा शीघ्र ही दुःखी होने वाले होते हैं। किसी बात को शीघ्रग्रहण करते हैं व शीघ्र भूल जाते हैं। अंग

1. सौम्यः सौम्यदृष्टिः शीघ्रपूर्णसौष्ठव इव प्रकर्षबहुलः स्निग्ध वृत्तदासमसंहत सितिदन्तोष्ठः प्रसन्नस्निग्धवर्ण स्वर आकारायां स्वकान्तिमा सुकुमारः।
दे सर्व प्रियेभ्यो बलवान् सुतैश्वर्यारोग्यधनाढ्यबन्धुसत्कारश्च भवति॥ (च.वि. 8/109)
2. स्मृतिमन्तो धृतिमन्तः कृतज्ञाः प्राज्ञाः शुचयो व्यवसायिनो दक्षा धीराः समाधिप्रज्ञाचेष्टोपपन्नवाक्यविषादाः
सत्वसमुत्थानगुणविशेषैः चेष्टाः बलवत्सात्मिकैश्चेष्टाभिश्च सत्वसाराः।
तेषां बलवत्तरोत्थ गुणाः व्याख्याताः॥
3. i) अल्पकेशः कृशो रूक्षो वाचालश्चपलश्चलः। (च.वि. 8/110)
आरब्धकर्मा स्वल्पेषु वातप्रकृतिको नरः॥
ii) बलवत् स्वल्पयु ..... भवन्ति। (शा.स.पू.ख. 6/20)
(च.वि. 8/98)

		फटे हुये, चलते समय संधियों से आवाज आती है। नख, दंत, केश, लोम, श्मश्रु खुरदुरे होते हैं। अल्पायु व अल्पसंतान वाले होते हैं।
2.	पित्त प्रकृति[1]	अकाल में बाल सफेद होना, बुद्धिनाश, अतिस्वेद आना, शीघ्र ही क्रोध आना, सौम्य प्रिय, पित्तयुक्त, व्यङ्ग, तिल एवं पिड़िकायें अधिक होती हैं। शीघ्र ही इन्द्रियां चलती हैं एवं खालित्य होता है। शरीर के रोम, केश, श्मश्रु कपिल वर्ण के होते हैं। मल, मूत्र एवं स्वेद अधिक एवं दुर्गन्ध युक्त होता है। अल्प शुक्र, अल्पमैथुनशक्ति व अल्प संतान वाले होते हैं।
3.	कफ प्रकृति[2]	गंभीर बुद्धि, स्थूलाङ्ग, सुकुमार, गौर वर्ण, गंभीर केश युक्त, अधिक शुक्र युक्त, अधिक मैथुनशील, अधिक संतान वाले, सुसंगठित शरीर वाले, अंग पुष्ट एवं परिपूर्ण होते हैं। मंद चेष्टा व अल्प आहार-विहार करने वाले, कार्य को शीघ्र न करने वाले, आलस्य युक्त, दृढ़ व स्थिर गति युक्त, भूख, प्यास, ताप व पसीने से कष्ट नहीं होता, संधिबंधन दृढ़, दृष्टि, मुख, वर्ण, स्वर, प्रसन्न एवं स्निग्ध होते हैं।
4,5,6.	द्वन्दज प्रकृति[3]-	द्वन्दज प्रकृति पुरुष में दोनों दोषों के मिश्रित लक्षण मिलते हैं- (वात-पैत्तिक) (वात-श्लैष्मिक) (पित्त-श्लैष्मिक)
7.	सम प्रकृति[4]-	उपरोक्त वर्णित तीनों प्रकृतियों के सम्मिलित लक्षण पाए जाते हैं।

चिकित्सा निरुक्ति-व्युत्पत्ति-परिभाषा

व्युत्पत्ति—आचार्यों ने चिकित्सा की व्युत्पत्ति निम्नानुसार की है—

1. "चिकित्सा रुक् प्रतिक्रिया।" (अमर कोश) अर्थात् रोग के प्रतिकार करने को ही चिकित्सा कहते हैं।

1. i) अपरूपलिप्तोष्मोष्मा स्वेदो च शोणः।
स्वल्पेषु ज्योतिषां द्वेषः पित्तप्रकृतिको नरः॥ (शा.स.पू.ख. 6/21)
ii) पित्तमुष्णं तीक्ष्णं ..... भवन्ति॥ (च.वि. 8/97)
2. i) गंभीरबुद्धिः स्थूलाङ्गः स्निग्धकेशो महाबलः।
स्वप्नेषु जलाशयलोकी श्लेष्मप्रकृतिको नरः॥ (शा.स.पू.ख. 6/22)
ii) श्लेष्मा हि स्निग्ध..... भवन्ति। (च.वि. 8/96)
3. संसर्गात् संसृष्टलक्षणः। (च.वि. 8/99)
4. सर्वगुणसमुदितस्तु समधातुः।
इत्येवं प्रकृतिः परीक्षेत॥ (च.वि. 8/100)

Scanned with CamScanner

2. चिकित्सा शब्द "कित् रोगापनयने" धातु में "सन्" प्रत्यय लगाने से बनता हुआ है। व्याकरण ग्रंथों में "कित्" धातु का प्रयोग रोग को दूर करने के अर्थों में प्रयुक्त होता है।

3. "कित्-चित्-सन्-अ केतितुमिच्छा चिकित्सा।" इस शब्द का अर्थ होता है- रोग का दूरीकरण।

4. वार्डिकर ने लिखा है कि "कित्" धातु का प्रयोग व्याधि के प्रतिरोध, निग्रह, अपनयन तथा नाशन में होता है। फलतः इस धातु से बने हुए "चिकित्सा" का भी इन्हीं अर्थों में व्यवहार होता है।

विवृत्ति

विभिन्न ग्रंथों में चिकित्सा की निम्न विवृत्ति वर्णित की गई हैं—

1. "केतितुन् इच्छति इति चिकित्सति, चिकित्सति इति चिकित्सा।"
2. "या क्रिया व्याधिहरणी सा चिकित्सा निगद्यते॥" (भाव प्रकाश)
3. "चिकित्सा रोगनिदानप्रतिकारे।" (वैद्यक शब्द सिन्धु)
4. "चिकित्सा रक् प्रतिक्रियाः रुजः प्रतिक्रिया निरसनम्॥"

(अमरकोश 2/6/50 रमाश्रमे)

5. "चिकित्सा तत् प्रतीकारः।" (राज निघण्टु)

चिकित्सा की परिभाषा

1. व्याधि के हरण (नाश) करने की क्रिया को चिकित्सा कहते हैं[1]।
2. रोग के उत्पादक कारण को दूर करना चिकित्सा है[2]।
3. रोग का प्रतिकार करना ही चिकित्सा है[3]।
4. चिकित्सक, औषधि, परिचारक एवं रोगी (चिकित्सा के चतुष्पाद) के प्रसन्न रहने पर धातुओं के वैकृत हो जाने पर धातु साम्य पुनः स्थापित करने के लिये जो प्रवृत्ति होती है उसे 'चिकित्सा' कहते हैं[4]।
5. शरीर में विषम हुये दोष, धातु एवं मल जिस क्रिया द्वारा शरीर में साम्यावस्था को प्राप्त होते हैं उसे चिकित्सा कहते हैं। इसे ही 'वैद्यकर्म' नाम से भी जाना जाता है[5]।

---

1. या क्रिया व्याधिहरणी सा चिकित्सा निगद्यते। (भा.प्र.)
2. चिकित्सा रोगोत्पादकहेतोः। (वैद्यकशब्दसिन्धु)
3. चिकित्सा रुजः प्रतीकारः। (राज निघण्टु)
4. चतुर्षु भिषगादिषु प्रकृतिकोपे धातुसाम्यकरी प्रवृत्तिरुच्यते।
5. प्रकृतिभूतानां दोषधातुमलानां विकृतानां यया क्रियया शरीरे साम्यमापद्यते सा चिकित्सा। (च.सू. 9/1)
6. दोषाः किलाधिभावेन हरति धातवः समाः।
7. या चिकित्सा विषमाणां कर्म तद् भिषजां स्मृतम्। (च.सू. 16/3)

6. दोष-धातुओं की विषमता ही रोग है एवं इसकी साम्यावस्था आरोग्य है। रोगावस्था में विषम हुए दोष धातुओं को साम्यावस्था में लाने के लिये की जाने वाली क्रिया चिकित्सा कहलाती है।
7. जिस क्रिया के द्वारा रोग का नाश हो तथा जो क्रिया शरीर के घातक दोष-धातु-मल के अत्यधिकर वैषम्य को दूर कर उन्हें सम्यक्कर प्रमाण में लाकर धातु साम्य स्थापित कर रोग दूर करे वह चिकित्सा है[6]।
8. व्याधि या रोग का सम्यक्ज्ञान करके पीड़ा को दूर करना ही वैद्य का वैद्यत्व या वैद्यकर्म या चिकित्सा है[7]।
9. In modern Science-Treatment is a manner of applying remedies or it is the care and management of a patient to combat disease / diseases.

चिकित्सा के पर्याय

प्राचीन ग्रंथों में चिकित्सा पद के कई पर्याय मिलते हैं यथा— क्रिया, कर्म, चातु, वैकरण, प्रतिकर्म, भिषक्कर्म, वैद्यक कर्म, भिषग्जित, प्रतिषेध, प्रतीकार, कर्म, चेष्टा, प्रशमन, प्रकृति, शमन, रोगापनयन, व्याधिहर, प्रायश्चित्त, चिकित्सित, पथ्य, साधन, औषध, प्रकृति स्थापन, विग्रह, उपक्रम तथा उपचार आदि[8]।

1. व्याधिहर—"व्याधि हरति", जो रोग दूर करे।
2. पथ्य—"पथि स्रोतसि हितम्", जो स्रोतस् के लिये हितकर हो।
3. साधन—"साधयति स्वस्थतां यस्मात्", जिससे शरीर स्वस्थ हो जावे।
4. औषधम्—"औषधो रिदम्", अर्थात् औषधि द्रव्यों के सम्मिश्रण से बनाया हुआ।
5. प्रायश्चित्त—"प्रायः पापे विनाशेच्चात् चित्तं तस्य विशोधनम्।", अधर्मजन्य रोग संहारक।
6. प्रशमन—"उदीरयमान नानाविधव्याधिप्रशमनत्वात्।" रोगों को शांत करने वाला।
7. प्रकृतिस्थापन—"तत् निदानबलाधिक्यनिजशरीरधातूनां समताऽऽपादनात्।", धातु साम्य को स्थापित करने वाला।
8. हित—रोगों को पीड़ा नष्ट कर शरीर का पोषण करने वाला। (च. चि 1/1/3 पर चक्रपाणि टीका)

---

1. रोगस्तु दोषवैषम्यं दोषसाम्यमरोगता॥ (अ.हृ.सू. 1/20)
2. या क्रिया व्याधिहरणी सा चिकित्सा निगद्यते।
   दोषधातुमलानां यः साम्यकृत् सैव रोगहृत्॥ (भा.प्र.पू.ख. 6/11)
3. व्याधेर्हरणं चारितां वेदनाया भिषजः।
   एतद् वैद्यस्य वैद्यत्वं न वैद्य प्रभुणुत्वः॥ (ब्रह्म वैवर्त पुराण)
4. चिकित्सितं व्याधिहरं पथ्यं साधनमौषधम्।
   प्रकृतिस्थापनं प्रायश्चित्तं हितम्॥ (च.चि. 1/3)

Scanned with CamScanner

9. प्रवृत्ति—"प्रवृत्तिस्तु खलु चेष्टा कार्यार्था।" कार्य प्रारंभ करने की चेष्टा। (च. वि. 8/77)
10. प्रतिकर्म—"प्रवृत्तिस्तु प्रतिकर्म समारम्भः।" रोग शमनार्थ कार्य प्रारंभ करना। (च.वि. 8/133)
11. अगद—"न गदोऽस्मात्।" जिसके प्रयोग से रोग न रहे।
12. जायु—"जयति रोगान्।" जो रोग को जीत ले। (अमरकोश, 2/6/32 रामाश्रमी)
13. भेषज—"रोगं भयं जयति।" रोग के भय को जीतने वाला।
14. भैषज्य—"भेषजमेव औषधम्।" रोग भय विनाशक।
15. भिषग्जित—"भिषग्जितं चतुष्पादम्।" चिकित्सा के चतुष्पाद को भिषग्जित कहा है।
16. निग्रह—"अयमेव विकाराणां सर्वेषामपि निग्रहे।" विकार को दूर करना। (च. वि. 7/34)

चिकित्सा के भेद

आचार्य चरक के मतानुसार रोग वर्ण, समुत्थान आदि भेद से असंख्य होते हैं उसी प्रकार चिकित्सा के भी अनगिनत प्रकार हैं[1]। परन्तु व्यवहार में चिकित्सा के जिन भेदों का प्रयोग चिकित्सार्थ किया जाता है उनका वर्णन यहां किया जा रहा है-

1. एकविध चिकित्सा
   (i) निदान परिवर्जन
2. द्विविध चिकित्सा—इसके निम्न 7 भेद हैं—
   - i (i) शीत, (ii) ऊष्ण — व्यतिक्रम या विपरीत चिकित्सा
   - ii (i) संतर्पण (बृंहण) (ii) अपतर्पण (लंघन)
   - iii (i) शोधन (ii) शमन
   - iv (i) ऊर्जस्कर (ii) रोगघ्न
   - v (i) रसायन (ii) वाजीकरण
   - vi (i) रोग प्रशमन (ii) अपुनर्भव
   - vii (i) द्रव्यभूत (ii) अद्रव्यभूत

1. प्रभावसंख्ये पुरुषे-व्याधेरागन्तवादेश्चानन्त्यमुक्तमतोऽनन्ता भेषजाहुपदेशाः। (च.वि. 6/3)

3. विविध चिकित्सा—इसके निम्न 7 भेद हैं—
   - i (i) युक्ति व्यपाश्रय (ii) दैव व्यपाश्रय (iii) सत्त्वावजय
   - ii (i) अंतः परिमार्जन (ii) बहिःपरिमार्जन (iii) शस्त्र प्रणिधान
   - iii (i) आसुरी (ii) मानुषी (iii) दैवी
   - iv (i) भौम (ii) औद्भिद् (iii) जांगम
   - v (i) अपकर्षण (ii) प्रकृतिविघात (iii) निदान परिवर्जन
   - vi (i) लंघन (ii) लंघन पाचन (iii) दोषावसेचन
   - vii (i) हेतु विपरीत (ii) व्याधि विपरीत (iii) उभयार्थकारी
4. चतुर्विध चिकित्सा—इसे निम्न 3 वर्गों में विभक्त किया जा सकता है— (सु.चि. 33/3)
   - i (i) क्षीण दोषों को बढ़ाना।
     (ii) बढ़े हुये दोषों को घटाना।
     (iii) प्रकुपित दोषों का शमन करना।
     (iv) समदोषों का पालन करना।
   - ii औद्भिद द्रव्यों के पुनः 4 भेद होते हैं—
     (i) वनस्पति (ii) वानस्पत्य
     (iii) वीरुध (iv) औषध
   - iii (i) संशोधन (ii) संशमन
     (iii) आहार (iv) आचार
5. पंचविध चिकित्सा—संशोधन चिकित्सा के निम्न 5 भेद हैं— (अ.हृ.सू. 14/5)
   (i) वमन (ii) विरेचन
   (iii) बस्ति (iv) नस्य (v) रक्त मोक्षण
6. षड्विध चिकित्सा—इन्हें षडुपक्रम भी कहते हैं, जो निम्न हैं— (च.सू. 22/9-11)
   (i) लंघन (ii) बृंहण (iii) रूक्षण
   (iv) स्नेहन (v) स्वेदन (vi) स्तम्भन
7. सप्तविध चिकित्सा—शमन चिकित्सा के निम्न 7 प्रकार कहे हैं— (अ.हृ.सू. 14/7)
   (i) पाचन (ii) दीपन (iii) क्षुधा
   (iv) तृषा (v) व्यायाम (vi) आतप सेवन
   (vii) मारुत सेवन
8. शल्य तंत्रीय चिकित्सा के भेदः—शल्य तंत्र में 8 प्रकार के शस्त्रकर्मों का

Scanned with CamScanner

वर्णन किया गया है जो निम्न हैं—

(सु.सू. 15)

(i) छेदन	(ii) भेदन	(iii) लेखन
(iv) बेधन	(v) एषण	(vi) आहरण
(vii) विस्रावण	(viii) सीवन	

9. **दशविध भेद**—लंघन चिकित्सा के निम्न 10 भेद बताये गए हैं—

(च.सू. 22/13)

(i) वमन	(ii) विरेचन	(iii) निरूह बस्ति
(iv) नस्य	(v) पिपासा	(vi) वायु सेवन
(vii) आतप सेवन	(viii) पाचन	(ix) उपवास
(x) व्यायाम		

10. **त्रयोदश भेद**—आचार्य वाग्भट ने निम्न 13 प्रकार के शस्त्र कर्मों का वर्णन किया है—

(अ.हृ.सू. 25)

(i) छेदन	(ii) भेदन	(iii) बेधन
(iv) लेखन	(v) ऐषण	(vi) आहरण
(vii) विस्रावण	(viii) सीवन	(ix) उत्पाटन
(x) कुट्टन	(xi) मन्थन	(xii) ग्रहण
(xiii) दहनकर्म		

11. **अष्टादश भेद**—उपशय चिकित्सा के 18 भेद कहे हैं जो निम्न हैं—

(च.नि. 1/10 पर चक्रपाणि) (मा.नि. 1/8 पर टीका)

(i) हेतुविपरीत औषध
(ii) हेतुविपरीत अन्न
(iii) हेतुविपरीत विहार
(iv) व्याधिविपरीत औषध
(v) व्याधिविपरीत अन्न
(vi) व्याधिविपरीत विहार
(vii) उभय (हेतु-व्याधि) विपरीत औषध
(viii) उभय (हेतु-व्याधि) विपरीत अन्न
(ix) उभय (हेतु-व्याधि) विपरीत विहार
(x) हेतु विपरीतार्थकारी औषध
(xi) हेतु विपरीतार्थकारी अन्न

(xii) हेतु विपरीतार्थकारी विहार
(xiii) व्याधि विपरीतार्थकारी औषध
(xiv) व्याधि विपरीतार्थकारी अन्न
(xv) व्याधि विपरीतार्थकारी विहार
(xvi) उभय (हेतु-व्याधि) विपरीतार्थकारी औषध
(xvii) उभय (हेतु-व्याधि) विपरीतार्थकारी अन्न
(xviii) उभय (हेतु-व्याधि) विपरीतार्थकारी विहार

12. **षष्टि उपक्रम**—आचार्य सुश्रुत ने क्रम चिकित्सा के निम्न षष्ट प्रकार के कर्म बताये हैं—

(सु.चि. 1/8)

1. अपतर्पन	21. नस्यन
2. आलेप	22. संधान
3. परिषेक	23. पीडन
4. अभ्यंग	24. शोणितस्थापन
5. स्वेद	25. विस्रावण
6. विम्लापन	26. उत्कारिका
7. उपनाह	27. कवाल
8. पाचन	28. वर्ति
9. विस्रावण	29. कल्क
10. स्नेहन	30. सर्पि
11. वमन	31. तैल
12. विरेचन	32. रसक्रिया
13. छेदन	33. अवघूर्णन
14. भेदन	34. प्रघट्टन
15. दारण	35. उत्सादन
16. लेखन	36. अवसादन
17. एषण	37. मृदुकर्म
18. आहरण	38. दारुणकर्म
19. व्यधन	39. क्षारकर्म
20. विस्रावण	40. अग्निकर्म

Scanned with CamScanner

41. कृष्णकर्म
42. पाण्डुकर्म
43. प्रतिसारण
44. रोमसंजनन
45. लोमापहरण
46. बस्ति
47. उत्तरबस्ति
48. बन्ध
49. पत्रदान
50. कृमिघ्न
51. बृंहण
52. विषघ्न
53. शिरोविरेचन
54. नस्य
55. कवल धारण
56. धूम
57. मधु सर्पि
58. यन्त्र
59. आहार
60. रक्षा विधान

विभिन्न प्रकार की चिकित्साओं का वर्णन शास्त्रानुसार प्रस्तुत किया जा रहा है—

1. एकविध चिकित्सा

निदान परिवर्जन—जिन कारणों से रोग उत्पन्न हुआ हो उनका त्याग कर चिकित्सा का एक महत्वपूर्ण भेद है।

रोगानुकर पथ्य का सेवन करना भी चिकित्सा का एक प्रकार है। इसी संदर्भ में आचार्य सुश्रुत ने निर्देश दिया है— "संक्षेपतः क्रिया योगो निदानपरिवर्जनम्।"

(सु.उ. 1/25)

2. द्विविध चिकित्सा

व्यतिक्रम चिकित्सा[1]—इस सिद्धान्त के अनुसार विपरीत चिकित्सा का विधान किया जाता है।

I) (i) शीत चिकित्सा—ऊष्णता जनित कारणों से उत्पन्न रोगों में शीत उपचार करना।

(ii) ऊष्ण चिकित्सा—शीत जन्य कारणों से उत्पन्न रोगों में ऊष्ण उपचार किया जाना लाभदायक होता है।

II)[2] (i) संतर्पण (बृंहण) चिकित्सा—कृश पुरुष को लघु गुण युक्त पुष्टिकारक आहार देकर चिकित्सा करना।

(ii) अपतर्पण (लंघन) चिकित्सा—स्थूल पुरुष को गुरु गुण युक्त लंघन कराने वाला आहार देकर चिकित्सा व्यवस्था करना।

(च.वि. 3/41)
(अ.हृ.सू 24/2)

1. संशोधनसंशमनरूपा चिकित्सा। ये हि शीतकृता रोगास्तेषामुष्णं चिकित्सितम्॥
2. संतर्पणापतर्पणरूपा द्विविधा चिकित्सा।

III)[1] (i) शोधन चिकित्सा (Biopurification Therapy)—बलवान व बहुदोष वाले रोगी में शोधन चिकित्सा।

(ii) शमन चिकित्सा (Palliative Therapy)—बलहीन व क्षीण दोष वाले रोगी में शमन चिकित्सा।

IV)[2] (i) उर्जस्कर चिकित्सा—स्वस्थ पुरुष के बल, वीर्य, वर्ण व ओज की पुष्टि व जरा व्याधि नाशक चिकित्सा।

(ii) रोगघ्न चिकित्सा—विशिष्ट व्याधि को दूर करने वाली चिकित्सा।

V)[3] (i) द्रव्यभूत चिकित्सा—औषध प्रयोग द्वारा की जाने वाली चिकित्सा।

(ii) अद्रव्यभूत चिकित्सा—मंत्र, मणि, होम, जप आदि द्वारा की जाने वाली चिकित्सा। इस चिकित्सा में रोगी में औषध प्रयोग नहीं किया जाता है।

VI)[4] (i) रसायन चिकित्सा—आयु, बल, वर्ण, बुद्धि व रोग शमनार्थ प्रयुक्त की जाने वाली चिकित्सा।

(ii) वाजीकरण चिकित्सा—पौरुष शक्ति, हर्ष, शुक्र संवर्धन एवं सन्तानोत्पत्ति के लिये की जाने वाली चिकित्सा।

VII)[5] (i) रोग प्रशमन चिकित्सा—केवल रोग के शमन के लिये की जाने वाली चिकित्सा, कालान्तर में रोग की पुनः उत्पत्ति हो सकती है। यथा-संशमन चिकित्सा।

(ii) अपुनर्भव चिकित्सा—इस चिकित्सा द्वारा रोग की पुनः उत्पत्ति नहीं होती। यथा-संशोधन चिकित्सा।

3. त्रिविध चिकित्सा

आचार्य चरक ने सूत्रस्थान में पुन चिकित्सा के तीन भेद वर्णित किए हैं। अन्य स्थानों पर विभिन्न आचार्यों ने भी चिकित्सा के 3 भेद बताए हैं जो निम्न प्रकार हैं—

I)[6] (i) दैवव्यपाश्रय चिकित्सा (Devine Therapy)—मंत्र, जप, तप, मणिधारण, मंगलपाठ स्तुति, औषधधारण, देवदर्शन आदि से की जाने वाली चिकित्सा।

1. शोधनं शमनं चेति द्वयमादौषधं द्विधा। (अ.हृ.सू 1/25)
2. द्विविधस्तौषधसूर्जस्करो रोगहरश्च। (अ.हृ.सू 12/2)
3. द्रव्यभूतोऽद्रव्यभूतश्चेत्यादौ द्विविधे द्रव्यभूते अद्रव्यभूते च। (च.वि. 8/87)
4. रसायनकरो द्विविधः रसायनं वाजीकरणं च। (अ.हृ.सू 12/2)
5. रोगप्रशमनं द्विविधम् रोगस्य प्रशमनं अनुत्पत्तिकरो च। (अ.हृ.सू 12/2)
6. त्रिविधमौषधमिति-दैवव्यपाश्रयं, युक्तिव्यपाश्रयं सत्त्वावजयश्च। (च.सू. 11/54)

Scanned with CamScanner

(ii) युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा (Rational Therapy)—दोष, प्रकृति, देश, काल आदि के बारे में विचार कर सत्-पथाश्रित औषध प्रयोग करके की जाने वाली चिकित्सा।

(iii) सत्त्वावजय चिकित्सा (Psycho Therapy)—अहितकर विषयों से मन को हटाकर की जाने वाली चिकित्सा। इसे आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में Psycho Therapy भी कहते हैं।

ii)[1] (i) अंतः परिमार्जन—शरीर के अन्दर औषध, पथ्य इत्यादि प्रविष्ट कर रोग दूर करने वाली चिकित्सा।

(ii) बहिःपरिमार्जन—औषध का बाह्य प्रयोग (अभ्यंग, स्वेद, लेपादि) करके की जाने वाली चिकित्सा।

(iii) शस्त्रप्रणिधान—छेदन, भेदनादि शस्त्र प्रयोग करके की जाने वाली चिकित्सा। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में इसे Surgery कहते हैं।

iii)[2] (i) आसुरी—शस्त्र प्रयोग द्वारा की जाने वाली चिकित्सा।

(ii) दैवी—रस-रसायन द्वारा की जाने वाली चिकित्सा।

(iii) मानुषी—कषाय, चूर्ण, वटी आदि अनेक कल्पनाओं के द्वारा की जाने वाली चिकित्सा।

iv)[3] (i) भौम द्रव्य—स्वर्ण, रजतादि धातुओं एवं लवणादि द्रव्यों से की जाने वाली चिकित्सा।

(ii) औद्भिद द्रव्य—इसके भी निम्न चार भेद हैं—

(अ) वनस्पति—इसमें केवल फल होता है फूल नहीं। यथा-गूलर, वट, पाकड़ आदि।

(ब) वानस्पत्य—इसमें फल व फूल दोनों होते हैं। यथा-आम

(स) वीरुध—फैलने वाली लताओं को वीरुध कहते हैं यथा-गुडूची

(द) ओषध—जिनमें पकने के बाद पौधे नष्ट हो जाते हैं। यथा-दूर्वा, गेंहू, धान आदि।

1. शारीरदोषकोपे खलु शरीरमेवाश्रित्य प्रायशोऽधिष्ठायौषधीर्यथोक्तानि-अन्तः परिमार्जनं, बहिः परिमार्जनं शस्त्रप्रणिधानं चेति। (च.सू. 11/51)
2. आसुरी मानुषी दैवी चिकित्सा त्रिविधा मता।
शस्त्रैः कषायैर्लेहाद्यैः क्रमेणैतास्तु योजिताः॥ (चै.द.अ. 3/3)
3. औद्भिदं तु चतुर्विधम्, वनस्पतिर्वीरुध ओषधयो वानस्पत्यानामौषधिः। (च.सू. 1/72)

(iii) जांगम द्रव्य—दोष-जन्तुओं से प्राप्त द्रव्यों द्वारा की जाने वाली चिकित्सा। यथा-घृत, मधु, रोमरज्जु, प्रवाल, शुक्ति इत्यादि।

v)[1] (i) अपकर्षण—अपकर्षण के भी दो भेद हैं—

(क) बाह्य अपकर्षण—कृमि, कण्टक, शल्य, अर्युद आदि शल्य को शस्त्र, यंत्र या उपयंत्र से खींचकर निकालना।

(ख) आभ्यन्तर अपकर्षण—वमनादि पंचकर्मों के द्वारा शरीरस्थ दोषों को बाहर निकालना।

(ii) प्रकृति विघात—इसके भी दो भेद हैं—

(क) बाह्य—रोगोत्पादक कारणों के विपरीत प्रकृति के लेप, उपलेप आदि के प्रयोग।

(ख) आभ्यन्तर—रोगोत्पादक निदानों के विपरीत प्रकृति के दीपन-पाचन, संशमन आदि औषध का आभ्यन्तर प्रयोग।

(iii) निदान परिवर्जन—रोगोत्पादक कारणों (आहार-विहार) का परित्याग कर पथ्य सेवन करना।

vi)[2] (i) हेतु विपरीत चिकित्सा—रोगोत्पादक निदान गुरु, स्निग्ध, शीतादि के विपरीत लघु, रुक्ष, उष्णादि औषध द्रव्यों तथा आहार द्रव्यों का सेवन।

(ii) व्याधि विपरीत चिकित्सा—रोग के विपरीत चिकित्सा यथा अतिसार या रक्तस्राव रोकने के लिये स्तम्भन चिकित्सा।

(iii) उभय विपरीत चिकित्सा—जो रोग व निदान दोनों के ही विपरीत गुण वाला है। यथा-वातिक शोथ में शोथहर व वातनाशक दशमूल क्वाथ का प्रयोग।

vii) अपतर्पण चिकित्सा के भी तीन भेद हैं[3]—

(i) लंघन—जब रोगी अल्पबल व अल्प दोष युक्त हो तो लंघन कराने से जठराग्नि प्रदीप्त हो जाती है एवं लंघन से धातुवृद्धि होकर दोष शमन हो जाता है।

(ii) लंघन पाचन—मध्य बल व मध्य दोष रोगी को लंघन कराने के साथ-साथ उसके दोष पाचनार्थ औषध का भी प्रयोग किया जाता है।

1. पुनरपि च त्रिविधम्-अपकर्षणं, प्रकृतिविघातो, विपरीतार्थता।
तत्र पुनरपकर्षणमाद्ये..... बाह्यं निष्पावशाल्वकल्कवत्। आभ्यन्तरं वमनादि। (अ.स.सू. 12/3-4)
2. पुनरपि त्रिविधम् हेतुविपरीतं व्याधिविपरीतमुभयार्थकरी च।
तत्रहेतु..... व्याधिविपरीतेषु। (अ.स.सू. 12/5)
3. अपतर्पणमपि च त्रिविधं-संशुद्धं, संशुद्धलक्षणं, दोषसंशमनं चेति।
तत्र..... संशुद्धेषु लंघनम्। (च.वि. 3/43-44)

Scanned with CamScanner

(iii) दोषावसेचन—जब दोष बहुत अधिक बढ़े हों व रोगी बलवान् है तो उसके प्रवृद्ध दोषों को संशोधन द्वारा बाहर निकालना चाहिये।

4. चतुर्विध चिकित्सा

I) आचार्य सुश्रुत ने चिकित्सा स्थान में चार प्रकार की चिकित्सा बताई है[1]—
(i) क्षीण दोषों को बढ़ाना।
(ii) बढ़े हुये दोषों को घटाना।
(iii) प्रकुपित दोषों का शमन करना।
(iv) समदोषों का पालन करना।
यही 'आदर्श चिकित्सा' कहलाती है।

II) पुनः आचार्य सुश्रुत ने चिकित्सा के चार प्रकार कहे हैं[2]—
(i) संशोधन चिकित्सा—इसके दो भेद हैं—
(1) अन्तराश्रय—इसके पुनः पांच भेद हैं—
(अ) वमन (ब) विरेचन (स) बस्ति (द) नस्य
(ह) रक्त मोक्षण
(2) बहिराश्रय—इसके पुनः चार भेद हैं—
(अ) शस्त्र (ब) क्षार (स) अग्नि (द) प्रलेप
(ii) संशमन चिकित्सा—इसके भी पुनः दो भेद हैं—
(1) बाह्य—इसके पुनः निम्न भेद हैं—
(अ) आलेप (ब) परिषेक (स) अवगाह
(द) अभ्यंग (ह) शिरोबस्ति (फ) गण्डूष
(भ) कवल
(2) आभ्यन्तर—इसके पुनः निम्न भेद हैं—
(अ) पाचन (ब) लेखन (स) बृंहण
(द) रसायन (ह) वाजीकरण (फ) विषशमन

(III) आहार—इसके चार भेद हैं—
(i) पेय—पीने योग्य।
(ii) लेह्य—चाटने योग्य।
(iii) भक्ष्य—भक्षण करने योग्य।
(iv) खाद्य—खाने योग्य।

1. दोषाः क्षीणाः समुद्रिक्ताः कुपिताः प्रशमंयेत्सदा:, पुनः सिद्धिरिष्टा:, समः चेष्टासया इति सिद्धान्तः ॥ (सु.चि. 33/3)
2. दोषसंशोधनसंशमनाहाराः सम्यङ्मिथ्योपयुक्ता विरोगकराः। (सु.सू. 1/27)

(IV) आहार—इसके पुनः तीन भेद हैं—
(1) कायिक—इसके निम्न तीन प्रकार हैं—
(अ) उत्क्षेपण (ब) प्रक्षेपण (स) प्रक्षेपण
(2) वाचिक—इसके निम्न दो भेद हैं—
(अ) पाठ (ब) स्वाध्याय
(3) मानसिक—इसके पुनः पांच भेद हैं—
(अ) चिन्ता (ब) विचार (स) ऊह
(द) ऐक्य (ह) संकल्प

5. पंचविध चिकित्सा

इसे संशोधन चिकित्सा भी कहा जाता है। इसके पांच भेद हैं। आचार्य चरक मतानुसार संशोधन चिकित्सा के निम्न पांच भेद हैं[1]—
(i) वमन (ii) विरेचन (iii) अनुवासन बस्ति
(iv) निरूह बस्ति (v) नस्य
आचार्य सुश्रुत मतानुसार संशोधन चिकित्सा के निम्न पांच भेद हैं-
(i) वमन (ii) विरेचन (iii) बस्ति
(iv) नस्य (v) रक्तमोक्षण

(i) वमन (Emesis)—ऊर्ध्व मार्ग से दोषों को निकालना। यह चिकित्सा कफज रोगों में विशेष लाभकारी है।

(ii) विरेचन (Purgation)—अधोमार्ग से दोषों को निकालना। यह चिकित्सा पित्तज रोगों में विशेष लाभकारी है।

(iii) बस्ति (Enemata)—अधोमार्ग (गुदा मार्ग-मूत्र मार्ग) से दोषों को निकालना। वातज रोगों में विशेष लाभकारी है।

(iv) नस्य (Errhines / Nasal Insufflation)—नासामार्ग से औषध प्रयोग कर ऊर्ध्व जत्रुगत रोगों में कफ दोष को मुख मार्ग से निकालना।

(v) रक्तमोक्षण—शृंग, अलाबु, जलौका एवं प्रच्छान के प्रयोग से दूषित रक्त का निर्हरण करना।

6. षड्विध चिकित्सा—

आचार्य चरक के अनुसार निम्न षड्उपक्रमों को जो चिकित्सक जानता है वह उत्तम चिकित्सक है[2]—

(I) लंघन[3]—जो शरीर में लघुता उत्पन्न करे।

1. यदोषेष्वदूषितेषु रक्तं संशमनं च तत्। विस्रावो वमनं काय चिकित्सेत्यभिधीयते ॥ (अ.हृ.सू. 14/5)
2. लङ्घनं बृंहणं कालो दहनं शोधनं तथा। संशमनं समस्तानां षण्णामाहुर्भिषग्जितम् ॥ (च.सू. 22/4)
3. भविष्यद्विकारापनयनं प्रति लङ्घनं प्रशस्तम्।

Scanned with CamScanner

(ii) बृंहण[1]—जो शरीर में गुरुता उत्पन्न करे।

(iii) रूक्षण[2]—जो शरीर में रूक्षता उत्पन्न करे।

(vi) स्नेहन[3]—जो शरीर में स्निग्धता उत्पन्न करे।

(v) स्वेदन[4]—जो शरीर में स्तब्धता, गुरुता एवं शैत्य को नष्ट करे।

(vi) स्तम्भन[5]—जो चलायमान दोषों की गति रोकने में समर्थ हो।

7. सप्तविध चिकित्सा[6]—शमन चिकित्सा के सात प्रकार हैं[7]—

(i) पाचन—आमदोष का पाचन करना।

(ii) दीपन—जाठराग्नि को प्रदीप्त करना।

(iii) क्षुधा—भूखा रहना या बहुत कम खाना।

(iv) तृषा—प्यासा रहना या कम मात्रा में पानी पीना।

(v) व्यायाम—शरीर को परिश्रम कराने वाले कर्म करना।

(vi) आतप सेवन—धूप को तापना या धूप में रहना।

(vii) मारुत सेवन—खुले स्थान में स्वच्छ वायु सेवन करना।

8. अष्टविध शस्त्रकर्म[8]—यह शल्यतंत्र का विषय है परंतु चिकित्सा का ही भेद होने के कारण यहां वर्णित किया जा रहा है-

(i) छेदन (Excision)—काटकर हटा देना। यथा- अर्श, भगन्दर आदि में।

(ii) भेदन (Incision)—चीर-फाड़ करना। यथा- व्रण में चीरा लगाना।

(iii) लेखन (Scrapping)—खुरचना। यथा- रोहिणी, किलास आदि में।

(iv) वेधन (Puncturing)—छेद करना। यथा- सिरावेध में शिरा का वेधन किया जाता है।

(v) एषण (Probing)—खोजना। यथा- शलाका द्वारा नाड़ीव्रण का पथ खोजना।

(vi) आहरण (Extraction)—खींचकर निकालना। यथा- मूढ़गर्भ या कृमिग्रंथि को निकालना।

1. बृंहणं शरीरस्योपचयकरं द्रव्यं कर्म वा।
2. रौक्ष्यं खरत्वं रौक्षकरं द्रव्यगुणकर्मसमूहम्।
3. स्नेहनं स्नेह स्निग्धत्वं स्नेहकरं द्रव्यगुणकर्मसमूहम्।
4. स्तब्धगौरव शैत्यहरं स्वेदनं स्वेदकारकम्
5. स्तम्भनं स्तम्भकरं यद् गतिरोधनं यत्तत् धृतम्।
6. न शोधयति यद्दोषान् शमयत्येतानि तानि च। सप्तविधं विजानीयात् शमनं वैद्य सत्तमाः॥ (च.सू. 22/ 12)
7. पाचनं दीपनं क्षुद्रुट् व्यायामातपमारुतः। कृत्स्नं शमनं नाम सप्तधा: स्यात्तिरोहितम् च॥ (अ.हृ.सू. 14/8)
8. तत्र शस्त्रकर्माऽष्टविधम् छेद्यम्, भेद्यं, लेख्यं, वेध्यं, एष्यम्, आहार्यम्, विस्राव्यं, सीव्यमिति॥ (सु.सू. 5/5)

(vii) विस्रावण (Drainage)—बहाना। यथा- पूय, दूषित रक्त को बाहर निकालना।

(viii) सीवन (Stiching)—टांके लगाना। यथा-भेदकर्म पश्चात् पुनः यथास्थिति में लाकर सिलना।

9. दशविध चिकित्सा[1]—शमन चिकित्सा के दस भेद बताये हैं। इनमें चार प्रकार के संशोधन कर्म तथा छः प्रकार के अद्रव्य भूत चिकित्सा का समावेश किया जाता है।

(1) संशोधन कर्म

(i) वमन (ii) विरेचन (iii) निरूह (iv) नस्य

(2) अद्रव्यभूत चिकित्सा

(v) पिपासा (vi) मारुत (vii) आतप (viii) लंघन

(ix) उपवास (x) व्यायाम

11. अष्टादश भेद—औषध, अन्न एवं विहार के सुखकारक प्रयोग को उपशय कहा जाता है[2]। इसे Therapeutic Test भी कहते हैं। इसके लिए 18 भेद हैं—

(i) हेतु विपरीत

(अ) औषध—वात कफज ज्वर में ऊष्ण औषध प्रयोग।

(ब) अन्न—वातज ज्वर में मांसरस।

(स) विहार—क्रमज ज्वर में विश्राम।

(ii) व्याधि विपरीत

(अ) औषध—वात व्याधि में गुग्गुलु व रास्ना का प्रयोग।

(ब) अन्न—स्थौल्य में कर्षणार्थ व लेखनार्थ यव का प्रयोग।

(स) विहार—प्रमेह में चंक्रमण।

(iii) उभय विपरीत (हेतु-व्याधि-उभय विपरीत)

(अ) औषध—वातिक शोथ में शोथहर व वातहर दशमूल प्रयोग।

(ब) अन्न—शीतवीर्य वातिक ज्वर में पेया।

(स) विहार—स्निग्धाहार व दिवास्वप्न से उत्पन्न तन्द्रा में रूक्ष रात्रि जागरण।

(iv) हेतु विपरीतार्थकारी

(अ) औषध—पित्तज व्रण पर ऊष्ण उपनाह प्रयोग।

(ब) अन्न—कामला में ऊष्ण-तीक्ष्ण पदार्थ का सेवन।

(स) विहार—वातज उन्माद में भय दिखाना।

1. चतुष्प्रकारा संशुद्धिः षड्विधमलसाधनैः। पापकर्मक्षयकरी प्रायश्चित्तेति सप्तधा॥ (च.सू. 22/18)
2. औषधादिभिरन्नस्य सुखानुबंध उपशयः। (च.वि. 8 का शेषांश)

Scanned with CamScanner

(v) व्याधि विपरीतार्थकारी
- (अ) औषध—छर्दि में मदनफल प्रयोग।
- (ब) अन्न—अतिसार में क्षीर प्रयोग।
- (स) विहार—छर्दि में प्रवाहण।

(vi) उभय विपरीतार्थकारी (हेतु-व्याधि-उभय विपरीतार्थकारी)
- (अ) औषध—स्थावर विष की चिकित्सा में जांगम विष का प्रयोग।
- (ब) अन्न—मदात्यय में मद्य सेवन।
- (स) विहार—उरस्तम्भ में जल में तैरना।

उत्तम चिकित्सक के कर्त्तव्य

एक उत्तम चिकित्सक के क्या कर्तव्य हैं तथा चिकित्सा में प्रवृत्त चिकित्सक के ध्यान में रखने वाले सूत्र कौन-कौन से हैं? इनका वर्णन करने के पूर्व एक रोगी के कर्तव्य पर भी विचार करना आवश्यक है।

धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष इन पुरुषार्थ चतुष्टय की साधना से आयु को इच्छा रखनेवाले पुरुष को आयुर्वेद के विभिन्न अंगों में दिए हुए उपदेशों में पूर्ण श्रद्धा रखनी चाहिए[1]।

चिकित्सक के कर्त्तव्य

1. चिकित्सक का परम कर्तव्य है कि वह चिकित्सा कार्य को धर्म मानकर प्रयत्नपूर्वक रोगियों को रोग से बचाए[2] व रोगी को पुत्रवत् मानकर उसकी चिकित्सा करे।
2. चिकित्सक को केवल प्राणिमात्र पर दया की भावना से द्रवित होकर चिकित्सा कार्य में प्रवृत्त होना चाहिए व उसे रोगी से धन लेना या अन्य कोई लाभ की आकांक्षा नहीं होनी चाहिए, क्योंकि जीवन दान से बढ़कर कोई दान नहीं है[3]।
3. किसी रोगी की चिकित्सा प्रारंभ करने के पूर्व उसकी आयु की परीक्षा करनी चाहिए, क्योंकि आयु के शेष रहने पर ही चिकित्सा सफल होती है। साथ ही चिकित्सक को अरिष्ट लक्षणों पर अवश्य विचार करना चाहिए[4]।

1. आयुः कामयमानेन धर्मार्थौ सुखसाधनम्।
   आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः॥ (अ.हृ.सू. 1/2)
2. भिषग्व्याधितुरम् सर्वान् स्वस्थमातुरमेव वा।
   आत्मोपमो हि संप्रेक्ष्य पर्यवृत्तत्वम्॥ (च.वि. 1/4/16)
3. नार्थार्थं नापि कामार्थमथ भूतदयां प्रति।
   वर्तते चिकित्सायां तु सर्वमित्यवधारय॥
4. भिषगातुरे पार्श्वेऽप्यायुः प्रच्छेत्। (च.वि. 1/4/58)
   तत आयुषि विज्ञातेऽर्थी चिकित्सां समारभेत॥ (अ.हृ.पू.स. 6/54)

4. कोई भी प्राणी इस संसार में अमर नहीं है, उसकी मृत्यु निश्चित है परंतु आयु के शेष रहने पर उत्पन्न रोग की चिकित्सा अवश्य करनी चाहिए। अतः जब तक रोगी के कण्ठ में प्राण रहे तब तक चिकित्सा करना चिकित्सक का कर्तव्य है[1]।
5. रोगी का जन्म या मरण ईश्वर के अधीन है, केवल रोग जन्य वेदना को ठीक करना चिकित्सक का कर्तव्य है[2]।
6. जिनकी आयु अवशिष्ट है उन रोगियों को भी तब तक चिकित्सा करनी चाहिए जब तक रोगी में श्वास-प्रश्वास प्रक्रिया हो, क्योंकि कभी-कभी अरिष्ट लक्षण होने पर भी दैवयोग से रोगी बच जाता है[3]।

चिकित्सक के उपरोक्त कर्तव्यों के अतिरिक्त कुछ अन्य महत्वपूर्ण सूत्र भी हैं जिन्हें चिकित्सक को ध्यान में रखना अत्यन्त आवश्यक है। वह सूत्र निम्न हैं—

1. रोग तथा सर्वदंशादि से पीड़ित मनुष्य यदि आयु पूर्ण कर चुका है तो स्वयं भगवान धन्वन्तरि भी उसे स्वस्थ नहीं कर सकते तथा काल प्राप्त मनुष्य को मंत्र, जप, होम इत्यादि में से कोई भी कर्म नहीं बचा सकता[4]।

   अतः चिकित्सक के पूर्ण प्रयास करने के बाद भी यदि रोगी मृत्यु को प्राप्त होता है तब चिकित्सक को विचलित नहीं होना चाहिए।
2. आयु रहने पर भी चिकित्सा न करने पर रोग वृद्धि हो जाने पर रोगी उसी प्रकार मर जाता है जैसे दीपक में तैल व बाती रहने पर भी हवा के झोंके से सुरक्षा न करने पर दीपक बुझ जाता है[5]।
3. आयु रहने पर भी यदि चिकित्सा न की जाय तब भी रोगी रोग मुक्त होकर नहीं उठ सकता। अर्थात् आयु शेष रहने पर भी चिकित्सा तो करनी ही पड़ेगी अन्यथा रोगी को स्वास्थ्य लाभ नहीं हो सकता। जिस प्रकार कीचड़ में फंसे हाथी को बिना उपाय किये नहीं निकाला जा सकता[6]।
4. उचित काल पर चिकित्सा न करने पर साध्य रोग भी असाध्य हो जाते हैं एवं जीवन को अकाल ही नष्ट कर देते हैं[7]।

1. न जनुः कस्यचिन्नाथः पृथिव्यामेव जायते। अतो मृत्युरवार्यः स्यात् किंतु रोगा निवार्यते॥
   यावद् व्याप्तावतः प्राणाश्चरन्ति विविधैः॥ (चै.र. 3/9-18)
2. यथादिष्टं भिषग्भिस्तु शक्यं चिकित्सितुम्। आयुर्वेदकलं स्वास्थ्यमेतावत्तेन रक्षितव्यम्॥ (अ.हृ.नि. 23)
3. यावत् प्रतिक्रिया कार्या तावत् कुर्वीत भिषक्। कदाचिद्दैवयोगेन म्रियमाणोऽपि जीवति॥ (अ.हृ.पू.स. 6/13)
4. आयुषो क्षयेण दीपो दीप्तोऽर्थं इवाशु तत्। नैवमादि न संरक्ष्यं न होया न पुनर्वपुः॥
   जायते मृत्युरोगैर्वा यदया याति भावताम्॥ (ब्रह्मवैवर्त पुराण)
5. यदि चायुषि नष्टः स्यादाशयैर्वाप्यकिंचिद्भिः। तथा सत्यपि तैलाद्यै दीपो निर्वाति वायवा॥ (अ.हृ. 6/11)
6. यदि चायुषि शेषार्थं क्रियाकार्यं कथं हरो। दृष्टोऽन्धकार दुष्टात्मा चक्रुमग्नो यथा गजः॥ (अ.हृ.स. 6/10)
7. [illegible] (अ.हृ.पू. 6/12)

Scanned with CamScanner

श्रेष्ठ चिकित्सा

उत्तम चिकित्सा वही होती है जो उत्पन्न हुए रोग को पूर्णतः शमन करे, व उसका स्वरूप किसी अन्य रोग को उत्पन्न न करे[1]। आयुर्वेदीय चिकित्सा इसी प्रकार की चिकित्सा है।

इसके विपरीत जो चिकित्सा वर्तमान रोग को तो शांत करे परंतु भविष्यकाल में किसी अन्य रोग को उत्पन्न कर दे वह उत्तम चिकित्सा नहीं है।

आयुर्वेद में उपद्रव रहित चिकित्सा का वर्णन है। जबकि Modern Treatment (Allopathic Medicines) से रोग की शीघ्र एवं त्वरित चिकित्सा तो संभव है किंतु उसमें प्रयुक्त अधिकांश औषधियों के विषाक्त प्रभाव (Side effects/toxic effects) से अनेक उपद्रव भी प्रायः उत्पन्न हो सकते हैं। प्रायः Allopathic Treatment में मूल व्याधि की चिकित्सा के साथ ही औषधजन्य विषाक्त प्रभावों के उपद्रवों को रोकने के लिए भी चिकित्सा करनी पड़ती है। आयुर्वेदिक चिकित्सा निरापद होने से श्रेष्ठ चिकित्सा है। आयुर्वेदिक काष्ठौषधियां तुलनात्मक रूप से धीरे-धीरे शरीर में चिकित्सात्मक प्रभाव पैदा करती हैं परंतु विभिन्न रसौषधियां तेजी से शरीर में अपना प्रभाव पैदा कर रोग शमन में सहायक होती हैं। शास्त्रोक्त विधि से निर्मित अधिकांश आयुर्वेदिक औषधियां निरापद एवं पूर्ण रूप से सुरक्षित होती हैं।

चिकित्सा से लाभ

आचार्यों ने चिकित्सा की फलश्रुति का वर्णन बहुत ही सटीक किया है।

1. प्राणि दया को ही सर्वोत्तम धर्म मानकर जो चिकित्सक चिकित्सा कार्य करता है उसे आरोग्य, पूर्णकाम, सिद्धार्थ व अत्यन्त सुख की प्राप्ति होती है[2]। अर्थात् प्राणियों पर दया करना ही श्रेष्ठ धर्म है। यह जानकर चिकित्सा करने वाले चिकित्सक को सर्व मनोरथ सिद्धि एवं सुख की प्राप्ति होती है।
2. करोड़ों स्वर्णधेनु गायों को दान करने से जो पुण्य प्राप्त होता है उससे भी करोड़ों गुना अधिक पुण्य एक रोगी की चिकित्सा कर उसे आरोग्य लाभ प्रदान करने से मिलता है[3]।
3. जो रोगी निरोगी होने पर चिकित्सा का मूल्य नहीं चुकाता उसके समस्त सत्कर्मों का पुण्य भी चिकित्सक को प्राप्त होता है[4]।
4. चिकित्सक को भी कभी रोगी से धन लाभ मिलता है तो कभी मित्रता की भावना बढ़ती है। कहीं पुण्य मिलता है तो कहीं यश की प्राप्ति होती है। यदि

1. या कृत्स्नकर्म शमयेत् न च व्यापयेत् कांतिं च। सा क्रिया, न तु या व्यापयेत् इतरव्याधुपद्रवेण॥ (सु.सू. 35/23)
2. यतो मूलम् "अयं हंत भला चिकित्सायाम्। कर्मणि यः सा सिद्धार्थः सुखमात्यन्तमश्नुते॥ (च.वि. 1/4/23)
3. कपिलाकोटिदानाद्धि यत्फलं परिकीर्तितम्। फलं कोटिगुणितमेकस्यातुरचिकित्सया॥ (भै.र.चि.प्र. 3/41)
4. चिकित्सकस्तु यो - निष्क्रीणाति दुर्गतेः। स मत्कांतिं सुकृतं तस्यै चिन्तयत्युत्तमे॥ (भै.र.चि.प्र. 3/47)

से लाभ न भी मिले तो भी चिकित्सा कौशल या अभ्यास (Experience) तो बढ़ता ही है। अतः चिकित्सा कभी भी निष्फल नहीं होती है[1]।

चिकित्सा त्रयः विवेचन

दैवव्यपाश्रय-युक्तिव्यपाश्रय-सत्त्वावजय चिकित्सा

आयुर्वेद मतानुसार दोषवैषम्य को रोग तथा दोषसाम्य को आरोग्य कहा गया है। यहाँ दोष साम्य का अभिप्राय है-तीन शारीरिक दोष, सौ मानस दोष, सात धातुओं एवं त्रिमलों की साम्यावस्था अर्थात् सम्पूर्ण शरीर की क्रियात्मक साम्यावस्था (Complete Homeostasis of all body humours)। आचार्य सुश्रुत ने केवल दोष धातु मल की साम्यावस्था को ही आरोग्य न मानकर मन, आत्मा एवं इंद्रियों की प्रसन्नता को भी स्वास्थ्य व आरोग्य का मूल लक्षण बताया है[2]।

इस प्रकार चिकित्सा का मूल उद्देश्य शरीर में धातु साम्य स्थापन एवं मानसिक-आध्यात्मिक तथा इंद्रियपरक सुखावह अवस्था उत्पन्न करना है। अतः समस्त चिकित्सा के निम्न तीन प्रमुख भेद हैं[3]-

1. दैवव्यपाश्रय चिकित्सा
2. युक्ति व्यपाश्रय चिकित्सा
3. सत्त्वावजय चिकित्सा

1. **दैवव्यपाश्रय चिकित्सा**—पूर्वजन्मकृत अशुभ कर्मों (दैवकृत) के कारण उत्पन्न रोगों (यथा-आगन्तुज उन्माद, अपस्मार, कुष्ठ, प्रमेह, बालग्रह आदि) को मंत्र, मणि, मंगलकर्म, बलि, उपहार, होम, नियम, प्रायश्चित्त, उपवास, वेदोक्त कर्म, तीर्थ गमन आदि विधियों से चिकित्सा की जाती है[4]। इसे ही दैवव्यपाश्रय चिकित्सा कहा जाता है।

उपर्युक्त चिकित्सा कर्मों से रोगी में आत्मविश्वास, मन पर नियंत्रण करने की शक्ति एवं मनोबल में वृद्धि होती है। रोगी का मानसिक तनाव कम होता है, मनोग्लानि दूर होती है तथा पापकर्मों का नाश होता है।

सामान्यतः सभी रोगी में दैवव्यपाश्रय चिकित्सा की जाती है। इस चिकित्सा में नियम (शौच-संतोष-तप-स्वाध्याय-ईश्वरप्रणिधान) का पालन करना आवश्यक है।

1. कृतिह्नाः कृतिभिस्तैस्तैः कृतिभाजः।
   कर्मभाजः कृतिभाजो चिकित्सा यांति निष्फलम्॥ (अ.हृ.उ. 50/94)
2. समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
   प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते॥ (सु.सू. 15/41)
3. त्रिविधाश्चैव व्याधयः। दैवव्यपाश्रयः, युक्तिव्यपाश्रयः, सत्त्वावजयश्च॥ (च.सू. 11/54)
4. तत्र दैवव्यपाश्रयं नाम मणिमंगलबलिहरणहोमनियमप्रायश्चित्तोपवासस्वस्त्ययनप्रणिपातगमनादि। (च.सू. 11/54)

Scanned with CamScanner

आचार्य चरक ने धर्म (अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रह) का भी पालन करना बताया है। पूर्वजन्मकृत कर्मों को दैव कर्म कहते हैं। अतः पूर्व जन्म कृत शुभ-अशुभ कर्म की शांति के लिए दैवव्यपाश्रय चिकित्सा की जाती है।

आचार्य सुश्रुतानुसार कालबल प्रवृत्त व दैवबल प्रवृत्त रोगों की चिकित्सा दैवव्यपाश्रय चिकित्सा है। शीत-उष्ण-वर्षा-वात-आतप-निशा-अंधकार आदि कारणों से जो ज्वर, वमन, आदृष्य आदि रोग या लक्षण उत्पन्न होते हैं उन्हें कालबल प्रवृत्त रोग कहा जाता है। आचार्य चरक ने इन्हीं को परिणामज रोग कहा है[1]।

आचार्य चरक ने इन रोगों को जनपदोध्वंस नाम से संबोधित किया है[2]। इन्हें ही आधुनिक भाषा में मारक रोग या Epidemics कहते हैं।

दैवबलप्रवृत्त रोग देवों, गुरुओं, सिद्धों एवं ब्राह्मणों का द्रोह या अपमान करने से उत्पन्न होते हैं। इन रोगों में ज्वर, पक्ष्मा, मसूरिका, प्रतिश्याय, कुष्ठ, उन्माद, अपस्मार, ग्रहबाध आदि प्रमुख हैं।

2. युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा

यह औषध एवं आहार द्रव्यों पर आधारित युक्तिपूर्वक की गयी चिकित्सा है[3]। युक्ति व्यपाश्रय चिकित्सा में आहार, औषध, चूर्ण, वटी, रस, भस्म आदि कल्पों की योजना (युक्ति) देश-काल-देह-दूष्य-प्रकृति-वय-सात्म्य-संहनन आदि का विचार कर की जाती है। यह चिकित्सा प्रायः दोषज रोगों में ही की जाती है। आचार्य चरक ने स्पष्ट किया है कि शारीरिक दोष या रोग दैवव्यपाश्रय व युक्ति व्यपाश्रय औषध से शान्त होते हैं[4]। युक्ति व्यपाश्रय चिकित्सा के निम्न तीन भेद वर्णित हैं[5]—

(I) अन्तः परिमार्जन चिकित्सा
(II) बाह्यः परिमार्जन चिकित्सा
(III) शस्त्रप्रणिधान चिकित्सा

1. इत्येतत् खलु कालबलप्रवृत्तयोः शीतोष्णवर्षावातातपनिशान्धकारादीनां संघातः, ग्रहोपसर्गः, परिणामश्चेति॥ (च.सू. 20/5)
2. पूर्वं पूर्वं वर्षशतं क्षीयते।
पुनश्चाल्पं पुनश्चाल्पं क्षीयते जनपदो॥ (च.वि. 3/25)
3. क) युक्तिव्यपाश्रयं पुनरौषधान्नपानानां योजना॥ (च.सू. 11/54)
ख) युक्तिव्यपाश्रयं संशोधनसंशमनार्थो चेष्टा प्रचक्षते॥ (च.वि. 8/87)
4. प्रायश्चौषधैः, पूर्वो दैवयुक्तिव्यपाश्रयौ॥ (च.सू. 1/58)
5. संशोधनसंशमने खलु शारीरेष्वेवाधिष्ठानेषु प्रायशोऽधिकृतानि अन्तःपरिमार्जनं, बाह्यः परिमार्जनं, शस्त्रप्रणिधानं चेति॥ (च.सू. 11/55)

(I) अन्तः परिमार्जन चिकित्सा[1]

जो औषध शरीर के अन्तःभाग में (महास्रोतस) में प्रविष्ट होकर दूषित आहार सेवन से उत्पन्न रोगों को नष्ट करती है उसे अन्तः परिमार्जन चिकित्सा कहते हैं। इसमें वमन-विरेचनादि संशोधन कर्म एवं दीपन-पाचन आदि संशमन कर्म सम्मिलित होते हैं।

(II) बाह्यः परिमार्जन चिकित्सा[2]

जो औषध त्वचा का आश्रय लेकर रोगों को दूर करती है उसे बाह्यः परिमार्जन चिकित्सा कहते हैं। जैसे—अभ्यङ्ग, स्वेदन, प्रदेह, परिषेक, उन्मर्दन आदि।

(III) शस्त्रप्रणिधान चिकित्सा[3]

इस चिकित्सा के अन्तर्गत रोग निवारणार्थ छेदन, भेदन, लेखन आदि अष्ट विध शस्त्रकर्म एवं क्षार-अग्नि-जलौकावचरण आदि कर्म सम्मिलित होते हैं।

आचार्य चरक ने विमानस्थान में चिकित्सा के पुनः दो भेद वर्णित किये हैं, यथा—

(अ) द्रव्यभूत चिकित्सा
(ब) अद्रव्यभूत चिकित्सा

(अ) द्रव्यभूत चिकित्सा[4]

इस चिकित्सा में द्रव्यों के प्रयोग से वमन, विरेचन, दीपन, पाचन आदि कर्मों के माध्यम से चिकित्सा की जाती है। द्रव्य की प्रकृति, गुण, प्रभाव, संस्कार, मात्रा आदि का सूक्ष्मातिसूक्ष्म निर्धारण किया जाकर युक्ति पूर्वक प्रयोग किया जाता है।

(ब) अद्रव्यभूत चिकित्सा (उपायाभिजुष्टा चिकित्सा)[5]

विभिन्न उपायों द्वारा बिना द्रव्यों के प्रयोग से जो चिकित्सा की जाती है उसे अद्रव्यभूत चिकित्सा या उपायाभिजुष्टा चिकित्सा कहा जाता है। इसमें किसी द्रव्य का साक्षात प्रयोग नहीं किया जाता है। जैसे- भय दिखाना, विस्मापन (आश्चर्य युक्त कर देना), विस्मारण (जिस बात को रोगी बार-बार स्मरण कर रोगग्रस्त होता हो उसे भुला देना) क्षोभण, हर्षण, भर्त्सना (निन्दा करना), बध (मारने को धमकी देना) बन्धन (बाँधना), स्वप्न (निद्रा सेवन), संवाहन (पैर दबाना) आदि अमूर्त क्रियाओं को उपाय कहा जाता है। यह चिकित्सा उन्माद, अपस्मार, सन्यास आदि रोगों में प्रभावकारी है।

1. तत्रान्तः परिमार्जनं यदन्तः शरीरमनुप्रविश्यौषधमाहारजमामयं प्रशमयति॥ (च.सू. 11/55)
2. यत्पुनर्बाह्यं त्वगधिष्ठानमनुप्रविश्य प्रदेहपरिषेकोन्मर्दनादिकमामयं प्रशमयति बाह्यः परिमार्जनं॥ (च.सू. 11/55)
3. शस्त्रप्रणिधानं पुनरष्टविधं शस्त्रकर्मक्षारोदकरज्जुप्रतोदाग्निजलौकोपनाहनादीनां॥ (च.सू. 11/55)
4. द्रव्यभूतं च भेषजमनेकधादि द्विविधं-द्रव्यभूतमद्रव्यभूतं च॥ (च.वि. 8/87)
5. यत्तु द्रव्यभूतं तद्वमनादिषु योजयिष्यति।
तस्योपायं परीक्षा-इदमेवं प्रयुक्तमेवंगुणमेव सुखायेति॥ (च.वि. 8/87)
6. तत्र यदद्रव्यभूतं तदुपायाभिजुष्टम्।
उपायो नाम दर्शनं विस्मापनक्षोभणं हर्षणं— इति॥ (च.वि. 8/87)

Scanned with CamScanner

3. सत्वावजय चिकित्सा

अहितकर अर्थों की अभिलाषा से मन को हटाना मनोनिग्रह है और यह मनोनिग्रह चिकित्सा कहलाती है[1]। इसकी प्राप्ति आध्यात्मिक ज्ञान, दर्शन तथा ध्यान से होती है। मानस रोगों का प्रधान हेतु 'प्रज्ञापराध' है। धी-धृति-स्मृति के विभ्रंश के प्रभाव से जिस व्यक्ति द्वारा किये गये कर्म ही प्रज्ञा का अपराध है। अतः सत्वावजय चिकित्सा में अपहृत धी-धृति-स्मृति को स्वाभाविकावस्था में लाने का प्रयास किया जाता है। यदि किसी रोगी को काम-क्रोध-भय-हर्ष-ईर्ष्या-द्वेष-लोभ आदि भावों के कारण मानस रोग उत्पन्न हुये हैं तो विपरीत मानस भावों (Replacement of Emotions) को उत्पन्न करके रोग को दूर किया जाता है। जैसे-काम को क्रोध से एवं क्रोध को काम से परस्पर प्रतिद्वन्द्व (द्वन्द्व चिकित्सा) द्वारा शान्त किया जाता है[2]।

मनोनिग्रह के लिये अष्टाङ्ग योग यथा-यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधि का भी प्रयोग किया जाता है।

मानसिकी चिकित्सा, सात्त्विकी चिकित्सा एवं आचार रसायन आदि भी सत्वावजय चिकित्सा के अन्तर्गत सम्मिलित किये जाते हैं।

आचार्य चरक ने निर्दिष्ट किया है कि मानस रोग ज्ञान, विज्ञान, धैर्य, स्मृति की समाधि से शान्त होते हैं[3]। मानस रोग उत्पन्न होने पर धर्म, अर्थ एवं काम, इन तीनों का विचार पूर्वक सम्यक् पालन करना चाहिये। आत्म ज्ञान, देशज्ञान, कुलज्ञान, कालज्ञान, बलज्ञान तथा अपनी शक्ति का ज्ञान सर्वदा रखना चाहिये[4]।

प्रज्ञापराधों का परित्याग, इन्द्रियों को वश में रखना, स्मृति जागृत रखना, देश-काल तथा आत्म ज्ञान का चिन्तन करना, सद्वृत्त व सदाचार का पालन करना एवं आप्त पुरुषों के उपदेशों को जानना आदि ये सभी उपाय आगन्तुक रोगों के उत्पन्न न होने देने का कार्य करते हैं। बुद्धिमान व्यक्ति को रोगोत्पत्ति होने से पूर्व ही ऐसे कार्य करने चाहिये जिससे अपना हित सिद्ध हो सके[5]।

मन-वचन-काय से पापमय, चुगलखोर, कलहप्रिय, मर्मभेदी उपहास करने वाले, लोभी, दूसरे की उन्नति सहन न कर सकने वाले, शठी (धूर्त), दूसरे की निन्दा करने में

1. सत्वावजयः-पुनर्विषयेभ्यः मनसो मनोनिग्रहः ॥ (च.सू. 11/54)
2. कामशोकभयक्रोधहर्षेर्ष्यादिषु मानसम्।
प्रसक्तमहितैर्दीप्तं शमनं तस्य भेषजम्। (च.वि. 6/22)
3. मानसो ज्ञानविज्ञानधैर्यस्मृतिसमाधिभिः ॥ (च.सू. 1/58)
4. मानसं प्रति यैश्चर्यं विपर्ययसमाश्रयम्।
तद्विघातोक्त विज्ञानमात्मादीनां च सर्वशः ॥ (च.सू. 11/47)
5. त्यागः ..... विज्ञानप्रशमः ॥ (च.सू. 7/53-54)

ही तत्पर, चंचल, अपने शत्रु की सेवा में संलग्न, दयारहित तथा अपने धर्म को छोड़ देने वाले अधर्मी मनुष्यों का साथ नहीं करना चाहिये[1]।

जो पुरुष बुद्धि, विद्या, अवस्था, शील, चेष्टा, स्मरणशक्ति और समाधि में श्रेष्ठ, वृद्धजनों की सेवा करने वाले, दूसरे के स्वभाव को जानने वाले, शारीरिक व मानसिक दुःखों से रहित या शोक रहित, सुसंयत तथा शान्त हों, जो करते हों उनका अक्षरशः पालन करते हों, प्राणिमात्र को अच्छे मार्ग का उपदेश करते हों और जिनको याचना सुनने में तथा जिनका दर्शन करने से पुण्य प्राप्त होता हो, ऐसे महापुरुषों का साथ करना चाहिये[2]।

इससे मन एवं शरीर निर्विकार रहते हैं और मनुष्य मानसिक एवं शारीरिक रूप से पूर्णतः स्वस्थ्य रहता है।

चिकित्सा के अन्य भेद

प्रत्येक रोग की सम्प्राप्ति में दोष-दूष्य-स्रोतोदुष्टि-अग्नि-ओज आदि की विकृतियाँ होती हैं। अतः दोषों का शोधन, दूष्य की वृद्धि या क्षय, स्रोतस् की शुद्धि, अग्नि का दीपन, ओज की वृद्धि आदि ये सभी उपक्रम सम्प्राप्ति विघटन में सम्मिलित होते हैं। अतः इसी दृष्टि से चिकित्सा को दोष प्रत्यनीक, व्याधि प्रत्यनीक एवं उभय प्रत्यनीक चिकित्सा के भेद से विभक्त किया जाता है जो निम्न प्रकार हैं—

i. दोष प्रत्यनीक चिकित्सा

जब प्रकृति सम-समवेत दोष-दूष्य सम्मूर्छना में दोष-दूष्य के शास्त्रोक्त प्राकृत लक्षणों को देखकर व्याधि शमनार्थ तदनुरूप रस-गुण-वीर्य-विपाक युक्त औषध द्रव्यों का प्रयोग किया जाय तो वह दोष प्रत्यनीक चिकित्सा कहलाती है। इस चिकित्सा के अन्तर्गत निम्न बिन्दुओं का भी समावेश होता है—

1. निदान परिवर्जन करना
2. दोषों का शोधन व शमन करना
3. दूष्य का क्षय या वृद्धि कर सम अवस्था में लाना
4. रोग के अधिष्ठान को ठीक करना
5. स्रोतोदुष्टि को दूर कर स्रोतोशोधन करना
6. दीपन-पाचन चिकित्सा द्वारा अग्नि को समावस्था में लाना
7. षड्क्रियाकाल के प्रत्येक काल में की जाने वाली चिकित्सा का युक्ति पूर्वक प्रयोग करना

1. पापपूतनयः खलाः सूचकः कलहप्रियाः। मर्मोपघातिनश्चैतुराः परवृद्धिद्विषः क्षताः।
परापकारतत्परा विषुलेक्षाः। निघृणाश्चाकृतधर्माणः धीधैर्यस्मृतिवर्जिताः ॥ (च.सू. 7/56-57)
2. बुद्धि विद्यावयः शीलचेष्टास्मृतिसमाधिभिः। वृद्धोपसेविनो युक्ताः स्वभावज्ञा गतव्यथाः ॥
सुमुखाः सर्वभूतानां प्रशान्ताः शोभनव्रताः। शेष्याः सन्मार्गकाः पुण्यप्रवक्तारश्च ते ॥
आहारोपचारचेष्टासु मुख्यार्थी प्रेत्य चेह च। यौ प्रयत्नमतिस्तेषां बुद्धिमान हिजसेवनै ॥ (च.सू. 7/58-60)

Scanned with CamScanner

8. हेतु विपरीत चिकित्सा करना
9. मानसज विकारों की चिकित्सा करना

II. व्याधि प्रत्यनीक चिकित्सा

जब विकृतिसम समवेत दोष-दूष्य सम्मूर्छना में दोष-दूष्य दोनों से भिन्न लक्षण (विचित्र लक्षण) उत्पन्न होते हैं तब व्याधिप्रत्यनीक चिकित्सा की जाती है। इस चिकित्सा के अन्तर्गत निम्न बिन्दुओं का भी समावेश होता है—

1. दैवव्यपाश्रय चिकित्सा
2. सत्त्वावय चिकित्सा
3. अदृष्य भूत चिकित्सा
4. शस्त्र (आसुरी) चिकित्सा
5. रस-भस्म-आसव-अरिष्ट द्वारा की जाने वाली संशमन चिकित्सा
6. आचार्य चरक द्वारा वर्णित पचास महाकषाय द्वारा की जाने वाली चिकित्सा यथा-ज्वरघ्न, कासघ्न, श्वासघ्न महाकषाय प्रयोग
7. प्रभाव से कर्म करने वाली औषधियां यथा-कृमिज रोग में विडंग, कुष्ठ में खदिर, प्रमेह में हरिद्रा आदि का प्रयोग।

III. उभय प्रत्यनीक चिकित्सा

जब उपर्युक्त दोनों प्रकार की चिकित्सा को व्याधि शमनार्थ मिश्रित रूप में प्रयुक्त करते हैं तब उसे उभय प्रत्यनीक चिकित्सा कहते हैं।

उपक्रम : दोषों के उपक्रम, द्विविध एवं षडविध उपक्रम

दोषों के विविध उपक्रम

शारीरिक व्याधियां वात, पित्त एवं कफ दोष के वैषम्य से तथा मानसिक व्याधियां रज एवं तम दोष के वैषम्य से उत्पन्न होती हैं। अतः इन द्विविध दोषों के वैषम्य को दूर कर इन्हें साम्यावस्था में लाना ही चिकित्सा है[1]।

विषम शारीरिक दोषों के शमनार्थ क्रमशः वस्ति, विरेचन व वमन कर्म तथा तैल, घृत व मधु का युक्ति पूर्वक प्रयोग उत्कृष्ट औषध हैं[2]। विकृत मानस दोषों की चिकित्सा के लिये ज्ञान, विज्ञान, धैर्य स्मृति एवं समाधि, उत्तम उपाय हैं।

विषम एवं विकृत दोषों को साम्यावस्था में लाने के लिए विभिन्न आचार्यों ने भिन्न-भिन्न उपक्रम बताये हैं जो निम्न प्रकार हैं—

1. "प्रशाम्यत्यौषधैः पूर्वं दैवयुक्तिव्यपाश्रयैः। मानसो ज्ञानविज्ञानधैर्यस्मृतिसमाधिभिः॥" (च.सू. 1/58)
2. शारीरस्य तु दोषस्य क्रमेण परमौषधम्। बस्तिर्विरेकस्तैक्ष्ण्यं च तथा हैतं घृतं मधु॥ (अ.हृ.सू. 1/25)

I. विषम वात दोष के उपक्रम

(i) शोधनार्थ—स्नेहन, स्वेदन, मृदु संशोधन, बिल्व बस्ति, अनुवासन बस्ति, स्निग्ध-उष्ण भोजन, मांस रसौदन, पायसकर्म, घृतपान, शिरोबस्ति, गण्डूष आदि कर्म।

(ii) शमनार्थ—अभ्यङ्ग, उत्सादन, संवाहन, मर्दन, सेचन, उत्साहन, उष्ण-परिषेक आदि कर्म।

(iii) आहार एवं औषध—मधुर-अम्ल-लवण-स्निग्ध व उष्ण पदार्थ युक्त आहार, दीपनीय-पाचनीय-वात शामक आहार, शौकिक मद्यपान, घृत व वात्य पदार्थ, मेध्य द्रव्य, मांस रस, तैल, गोधूम, नवान्न, दूध आदि आहार व औषध युक्त द्रव्य पदार्थों का सेवन।

(iv) विहार—आतपसेवन, उष्ण जलावगाहन, आभ्यङ्ग, मृदुकर्म, विस्मापन, विस्मारण, हेमन्त ऋतुचर्या पालन आदि कर्म।

उपर्युक्त समस्त उपक्रमों में विकृत वात दोष शमनार्थ आस्थापन व अनुवासन बस्ति कर्म सर्वोत्तम है क्योंकि इनके प्रयोग से औषध द्रव्य व तैल वात दोष के स्थान पक्वाशय में पहुंच कर सम्पूर्ण वातविकारों को ठीक उसी प्रकार जड़ से विच्छेदित कर देते हैं जिस प्रकार वनस्पति के मूलोच्छेद से उसके स्कन्ध, प्रशाखा, पत्ता, त्वक्सार, पुष्प फल, पत्रादि का निश्चित रूप से विनाश हो जाता है।

II. विषम पित्त दोष के उपक्रम[1]

(i) शोधनार्थ—स्नेहन, विरेचन, रक्तमोक्षण आदि कर्म।

(ii) शमनार्थ—प्रदेह, परिषेक, अभ्यङ्ग आदि कर्म।

(iii) आहार एवं औषध—मधुर-तिक्त-कषाय, तिक्तक द्रव्यों से सिद्ध घृतों का प्रयोग, क्षीरपान, शीतल-हृद्य-सुगन्धित आहार, जाङ्गल मांस रस, रक्तशालि, शिखरिणी, गुलाब, चन्दन आदि युक्त पेय पदार्थों का सेवन।

(iv) विहार—शीतल, मनोऽनुकूल विहार, प्रदेह, परिषेक, मुक्तामणि धारण, शीतल पवन, छाया, भूगृह, चाँदनी रात, जलाशय, उद्यान, मधुर-गन्ध सेवन, सुगन्धित विहार, स्त्रीगात्र संस्पर्श, कर्पूरचन्दन लेप, मनोऽनुकूली गीत-वाद्य नृत्य, मित्रों का संयोग, प्रदोष काल (शरद ऋतु) आदि।

उपर्युक्त सभी उपक्रमों में विषम पित्त दोष शमनार्थ 'विरेचन कर्म' प्रधानतम कर्म है, क्योंकि यह पित्त के प्रधान स्थान (अधो आमाशय व ग्रहणी) में पहुँचकर सम्पूर्ण पित्त विकारों का समूल विच्छेदन करता है।

1. i) तं मधुरस्निग्धलवणैरुष्णैरुपक्रमेत स्नेहस्वेदाभ्यक्तानुवास्य..... विरेचयेच्च। (च.सू. 20/13)
   ii) वातसंशमनः स्नेहः स्वेदः संशोधनं मृदु।
   स्नाद्वम्ललवणाभ्यक्तिः भोजनान्यौदनादयः॥ (अ.हृ.सू. 13/1-3)
2. i) तं मधुरतिक्तकषायसंसृष्टैरुपक्रमेत- .....क्षीरसर्पिषां शीतोपचारैश्च यद्यत्॥ (च.सू. 20/16)
   ii) पित्तशमनानि पित्तप्रकोपे..... । ..... सौम्यानां च सर्वभावानामिति॥ (च.वि. 6/17)
   iii) पित्तस्य तर्पणः घृतं स्वादुतिक्तैर्विपक्वम्। स्वादुतिक्तकषायाणि भोजनानीक्षवाणि च।
   सुगन्धिशीतहृद्यानां गन्धानामुपसेवनम्..... । सौम्यः भावः पयः सर्पिषोरेकस्य विशेषतः॥
   (अ.हृ. 13/4-9)

Scanned with CamScanner

III. विषम श्लेष्मा दोष के उपक्रम[1]

(I) शोधनार्थ—स्वेदन, तीक्ष्णोष्ण संशोधन यथा-वमन, विरेचन, शिरोविरेचन, धूमपान, गण्डूष कर्म आदि।

(II) शमनार्थ—रूक्षोन्मर्दन, उत्सादन, उपनाह, उष्ण स्नान, रुक्ष उद्वर्तन आदि।

(iii) आहार एवं औषध—कटु-तिक्त-कषाय रस प्रधान, तीक्ष्ण-उष्ण-क्षार-रूक्ष आहार व औषध द्रव्य, मेदोघ्न उपचार आदि।

(iv) विहार—विषम श्लेष्मा के कारण उत्पन्न दोष की स्थिति एवं विकारों में रूक्ष व्यायाम, प्लवनग्रहण (Swimming), चंक्रमण, नियुद्ध, स्त्रीसेवन, उपवास (लंघन), रात्रि जागरण, क्रूरकर्मों का सेवन, चिन्ता करना, उष्ण स्थान निवास एवं वसन्त ऋतुचर्या पालन से आशानुकूल लाभ मिलता है।

उपर्युक्त सभी उपक्रमों में विषम श्लेष्मा दोष शमनार्थ 'वमन' कर्म श्रेष्ठतम है, क्योंकि यह श्लेष्मा के दोष के प्रधान स्थान ऊर्ध्व आमाशय एवं उरः प्रदेश में स्थित कफ को शोधित कर देता है। इस श्लेष्मा के शरीर से बाहर निकल जाने से सभी श्लेष्मज विकार उसी प्रकार शान्त हो जाते हैं जिस प्रकार खेत के बाँध (केदार सेतु) के टूट जाने पर शालि-यव-पौष्टक आदि पानी न मिलने से सूख जाते हैं।

Iv. विषम द्वंद्वज व सन्निपातज दोषों के उपक्रम

पृथक-पृथक दोषों के जो अलग-अलग उपक्रम बताये गये हैं वे ही संसर्गज (द्वन्द्वज) तथा सन्निपातज (त्रिदोषज) विकारों में संयुक्त रूप से प्रयोग किये जाते हैं यथा[2]—

(1) दूषित वात-पित्तज विकारों में वात तथा पित्त के संयुग्मित उपक्रम करने चाहिये तथा प्रायः ग्रीष्म ऋतुचर्या में कहे गये आहार-विहारों का सेवन करना हितकारी है।

(2) दूषित वात-कफज विकारों में वात तथा कफ दोष शमनार्थ बताये गये अलग-अलग उपक्रमों को संयुग्मित कर प्रयुक्त करना चाहिये एवं वसन्त ऋतुचर्या में कहे गये आहार-विहारों का सेवन व पालन करना चाहिये।

(3) दूषित पित्तकफज विकारों में पित्त तथा कफ के दोष शमनार्थ वर्णित संयुग्मित उपक्रम एवं शरद् ऋतुचर्या का पालन करना चाहिये।

(4) दूषित वात-पित्त-कफ दोष के त्रिदोषज विकारों की शान्ति के लिए तीनों दोषों के शमनार्थ वर्णित संयुक्त उपक्रम प्रयुक्त करने चाहियें।

यहां इस तथ्य का ध्यान रखना आवश्यक है कि 'वात दोष' या 'वायु' योगवाही के

---

1. i) तं मदनफलकषायसंसृष्टं ..... । ..... प्रतीक्षमाणमेव सुष्टुवति ॥ (च.सू. 20/18)
   ii) तत्रावश्यकार्य-विधिमुपदेक्ष्यामः । ..... मुच्यतिरोगैश्च सुखार्थभाक्ति ॥ (च.वि. 8/18)
   iii) रूक्षस्नेहाभ्यंगोत्सादनोपनाहस्वेदोष्णस्नानरूक्षोद्वर्तनानि । स्त्रीसेवाव्यायामप्लवनचंक्रमणनियुद्धजागरक्रौर्यचिन्तोष्णसंवासवसन्तानां ..... श्लेष्मजानामुपयोगः ॥ (भे.र.पृ. 1/3)
2. उपक्रमः पृथगुक्तानां सौम्यमुदितेषु कर्तव्यः । संसर्गसन्निपातेषु तं तथावयं विकल्पयेत् ॥ (अ.हृ.सू. 13/13)

रूप में प्रकोप करता है अर्थात् यह उपक्रमकाल में उपस्थ व प्रतिकाल में क्षीण हो जाता है[1]।

दोषों के उपक्रम का उचित काल

सर्वप्रथम दूषित दोषों को उनके संचय काल (Incubation Period) में ही जीतने का प्रयास करना चाहिये, क्योंकि इस काल में दूषित दोषों के जीत लेने से उनकी उग्र अवस्थायें (प्रकोप-प्रसर-स्थानसंश्रय-व्यक्ति-भेदावस्था) प्रकट नहीं हो पाती हैं। उग्र अवस्थाओं के प्राप्त हो जाने पर दोष बलवान हो जाते हैं एवं दूष्य से संयोग कर सम्मूर्छना के द्वारा सम्प्राप्ति निर्माण कर लेते हैं। अतः संचय काल में दोषों को जीतने का प्रयत्न करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि प्रकुपित हुये दोषों का विरोध न होने पावे[2]। यदि सम्भवतः दोषों का प्रकोप परिलक्षित हो रहा हो तो प्रकोपजन्य दोष को सर्वप्रथम शान्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। यहां इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि दोष दोषों का विरोध न होने पावे।

प्रकुपित वात दोष का वर्षा ऋतु में चित दोष का शरद ऋतु में एवं कफ दोष का वसन्त ऋतु में निर्दिष्ट विशिष्ट उपक्रमों द्वारा उनका शमन करने से व्यक्ति पूर्ण स्वास्थ्य का उपभोग कर सकता है।

आदर्श चिकित्सा

जिस चिकित्सा का प्रयोग एक रोग को शान्त करे किन्तु दूसरे रोगों को उत्पन्न करे, वह शुद्ध व आदर्श चिकित्सा नहीं है। आदर्श व शुद्ध चिकित्सा वह है जो एक रोग को शान्त करे और किसी अन्य रोग या दोष को कुपित न करे[3]।

द्विविध उपक्रम

आचार्य वाग्भट ने चिकित्सा के उपक्रमों को निम्न दो विभागों में विभक्त किया है[4]—

1. अपतर्पण चिकित्सा
2. संतर्पण चिकित्सा

अपतर्पण को ही लंघन चिकित्सा एवं संतर्पण को बृंहण चिकित्सा कहा जाता है। संतर्पण जन्य रोगों व आम दोष (पित्त, कफ रोग व साम विकार) जनित विकारों में अपतर्पण (लंघन) चिकित्सा की जाती है। इसके विपरीत अपतर्पण जन्य रोगों व निराम, वातज रोगों की चिकित्सा संतर्पण जन्य होती है। पित्त व कफ दोष द्रव दोष (धातु) होने से अपतर्पण सहन करने योग्य होते हैं परन्तु वात सदा संतर्पण साध्य ही है[5]। आचार्य चरक

---

1. द्वौ(ः) प्रायो मासिकौ वातादेः कफस्यादौ। मध्ये पौषशरद्भ्यां, कफः पित्तं तु शरदः ॥ (अ.हृ.सू. 13/14)
2. ॥ संसर्गेऽपि यतेत क्षपणे पेशलात् परान्। ते हृतास्तु गतिं यान्ति बलवन्तः ॥ (सु.सू. 31/37)
   ॥ यथा पुरः प्रदेशेषु कुपितं व्याधिशोधनम्। न तथैवो बलोत्कर्षे हीनदोषादिशोधनः ॥ (अ.हृ.सू. 13/15)
3. प्रयोगः शमयेद्यस्तु दोषान्नान्यान्प्रदूषयेत्। सम्यक् विशुद्धः, शुद्धस्तु समयेद्यो न कोपयेत् ॥ (च.वि. 8/23)
4. उपक्रमाश्च हि द्विप्रकारादिष्टा बृंहणलंघनाद्यः ॥ (अ.हृ.सू. 14/1)
5. कार्यावितौ द्वयेष्वादौ लंघनं बहु। आमस्यापाकृतेऽन्येषु पाचनं दीपनम् ॥ (अ.हृ. उत्तर वि. /44)

Scanned with CamScanner

ने इन द्विविध उपक्रमों को निम्न षड्विध उपक्रमों में विभाजित किया है[1]—

1. लङ्घन
2. बृंहण
3. रूक्षण
4. स्नेहन
5. स्वेदन
6. स्तम्भन

इन षड्विध उपक्रमों में से लंघन-रूक्षण-स्वेदन "अपतर्पण चिकित्सा" के अंतर्गत एवं बृंहण-स्नेहन-स्तम्भन "संतर्पण चिकित्सा" के अंतर्गत समाहित होते हैं जो कि दोष, दूष्य व स्रोतस् के स्तर पर निम्न रूप से कार्य करते हैं—

कार्य का स्तर	अपतर्पण चिकित्सा	संतर्पण चिकित्सा
दोष	रूक्षण	स्नेहन
दूष्य	लंघन	बृंहण
स्रोतस	स्वेदन	स्तम्भन

अपतर्पण उपक्रम— अपतर्पण चिकित्सा के अंतर्गत प्रथम व महत्वपूर्ण 'लंघन' चिकित्सा का समावेश होता है। जो आहार-विहार औषध शरीर में लघुता व हल्कापन उत्पन्न करे वह लंघन है। यह उपक्रम प्रमेह, कुष्ठ, ज्वर, पाण्डु, कण्डू, क्लैब्य, अतिस्थौल्य आदि संतर्पणोत्थ व्याधियों में विशेष लाभकारी है। आचार्य चरक ने लंघन के निम्न दस प्रकार बताये हैं[2]—

1. वमन
2. विरेचन
3. शिरो विरेचन (नस्य कर्म)
4. निरूह बस्ति (रूक्ष बस्ति)
5. पिपासा
6. मारुत सेवन
7. आतप सेवन
8. पाचन औषध द्रव्य
9. उपवास
10. व्यायाम।

शरीर में रूक्ष विकारों (आम-कफ व आम विषज रोगों में) लंघन चिकित्सा[3] करना अभीष्ट है। जिस व्यक्ति के शरीर में कफ, पित्त, रक्त व मल वायु से युक्त हों, जिनका शरीर घड़ा हो और जो व्यक्ति बलवान हो उसे संशोधन (वमन-विरेचन-शिरोविरेचन-निरूह बस्ति) के द्वारा लंघन करावें। अपतर्पण (लंघन) चिकित्सा का विस्तृत वर्णन

1. लङ्घनं बृंहणं रूक्षणं स्नेहनं स्वेदनं स्तम्भनं। स्वेदनं स्तम्भनं चैव ज्ञातीते यः स वै भिषक्॥ (च.सू. 22/4)
2. "लङ्घनबृंहणे संशुद्धि-विरेकौ शमनानि च। पाचन-रुक्षणान्यत्र व्यायामोक्षे लङ्घनम्॥" (च.सू. 22/16)
3. "प्रभूत-श्लेष्मपित्तासृक्-संसृष्टास्रोऽग्नि-पूरुषाः। बृंहणीया बलिनो लङ्घनीया विपर्ययैः॥" (च.सू. 22/19)

षड्विध उपक्रमों के अंतर्गत लिया गया है। प्रायः लघु, उष्ण, तीक्ष्ण, विशद रूक्ष, सूक्ष्म, खर, सर एवं कठिन गुण प्रधान द्रव्य अपतर्पक होते हैं[1]।

संतर्पण उपक्रम—सामान्यतया इसे 'बृंहण' भी कहा जाता है और इसका प्रयोग मुख्यतः वातज रोगों के शमनार्थ किया जाता है। अपतर्पण से जब शरीर में रूक्षता बढ़ जाती है, मेदांस की कमी हो जाती है तब देह-अस्थि-वात-मर्म-ओज-शुक्र-मांस का क्षय हो जाता है और पार्श्वशूल, अंगभेद, उन्माद, प्रलाप, हृदयव्यथा आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इस अवस्था में बृंहण-स्नेहन-स्तम्भन प्रधान संतर्पक उपक्रमों का प्रयोग किया जाता है। संतर्पण द्रव्य पृथ्वी व जल महाभूत प्रधान होते हैं। संतर्पण चिकित्सा निम्न दो प्रकार से सम्पादित की जा सकती है[2]—

1. **सद्य संतर्पण**—तत्काल शरीर एवं धातुओं को पुष्ट करने वाले द्रव्य एवं भाव।
2. **अभ्यास संतर्पण**—निरन्तर अभ्यास के द्वारा शरीर एवं धातुओं को पुष्ट करने वाले द्रव्य एवं भाव। तात्पर्य यह है कि जो व्यक्ति शोक, चिन्ता, आयास, आतप, अधिक पैदल चलने आदि कारणों से शीघ्र ही क्षीण होता है उसके लिये सद्यः संतर्पण करने वाली औषधियों जैसे द्राक्षा, खर्जूर, परूषक (फलसा), कृष्णान्न, दाड़िम आदि का प्रयोग करना अपेक्षित है। सद्यः संतर्पक वस्तियों के प्रयोग से भी धातुयें पुष्ट होती हैं। परन्तु जो व्यक्ति शनैः-शनैः धातुओं के क्षीण होने से अधिक दिनों में क्षीण हुआ हो उसके लिये संतर्पण का प्रयोग कुछ दिन लगातार (अभ्यास संतर्पण) करना पड़ता है क्योंकि उसकी शारीरिक धातुयें शुष्क एवं क्षीण हो जाती हैं, अतः अल्प दिन संतर्पण से लाभ नहीं हो पाता है[3]। इसके लिये प्रायः क्षीर, मांस रस, घृत, अभ्यंग, अनुवासन बस्ति व सक्तू का प्रयोग करते हैं। प्रायः गुरु, शीत, मृदु, स्निग्ध, स्थूल, स्थिर, पिच्छिल एवं श्लक्ष्ण गुण बृंहण व संतर्पणकारक होते हैं।

षड्विध-उपक्रम

द्विविध उपक्रम (अपतर्पण व संतर्पण) के अन्तर्गत ही षड्विध उपक्रम समाहित हैं। स्थूल रोगी व साम रोगों (संतर्पण जन्य रोगों) में 'अपतर्पण' एवं कृशरोगी व निराम रोगों (अपतर्पण जन्य रोगों) में 'संतर्पण' उपक्रम निर्दिष्ट हैं। आचार्य चरक ने सूत्र स्थान में निर्देश दिया है कि जो व्यक्ति लंघन-बृंहण-रूक्षण-स्नेहन-स्वेदन एवं स्तम्भन औषधियों का प्रयोग उचित रूप से जानता हो उसे ही योग्य चिकित्सक (भिषक्) कहा जाना चाहिये[4]।

1. लघुशीतखरविशदं सूक्ष्मं सरं कठिनं मृदु। अपतर्पणं गुरु प्रायो द्रव्यमल्पतरं स्मृतम्॥ (च.सू. 22/12)
2. तैर्यो संतर्पणं सम्यक् पुरुषमवतार्यते। बलवान्ये समर्थं स्यादभ्यासे वा तदिष्यते॥ (च.सू. 23/30)
3. गुरु शीतं मृदु स्निग्धं बहलं स्थूलपिच्छिलम्। प्रायो यदहि स्थिरं श्लक्ष्णं द्रव्यं बृंहणमुच्यते॥ (च.सू. 22/13)
4. लंघनं बृंहणं काले रूक्षणं स्नेहनं तथा। स्वेदनं स्तम्भनं चैव ज्ञातीते यः स वै भिषक्॥ (च.सू. 22/4)

Scanned with CamScanner

द्विविध-षड्विध उपक्रम प्रदर्शक तालिका

अपतर्पण (लंघन)
↓
रोगाग्नि (वृद्धता)
↓
अग्नि, वायु व आकाश महाभूत प्रधान
↓
भेद 1. लंघन
2. रूक्षण
3. स्वेदन
↓
संतर्पण जन्य रोगों, सामर्थ्यों व स्थूल रोगी में प्रयोज्य
↓
भेद-आचार्य चरक
1. 'लंघन-अल्प बल दोष में
2. लंघन पाचन-मध्यबल दोष में
3. दोषावसेचन-अत्यन्त बल व प्रभूत दोष में
आचार्य वाग्भट्ट
1. शोधन-वमन, विरेचन, निरूह बस्ति, नस्य, रक्तमोक्षण।
2. शमन-पाचन, दीपन, क्षुधा, तृष्णा, व्यायाम, आतप, मारुत सेवन।

षड्विध उपक्रम के गुण व उपयोगिता

षड्विध उपक्रमों से सभी साध्य रोगों की चिकित्सा की जाती है। इनका प्रयोग मात्रा व काल के अनुसार ही करना चाहिये[1]।

जिस प्रकार वातादि दोष के सौम्य विकल्प से 63 भेद या सर-सूत्र के भेद से असंख्य प्रकार होते हैं परन्तु काल-दिन-कारक इस त्रिदोष की सीमा का अतिक्रमण नहीं कर पाते, इसी प्रकार चिकित्सा भी विविध रूप से अनेक प्रकार की होती है, परन्तु वह चिकित्सा इन षड्विध उपक्रमों का अतिक्रमण नहीं करती है।

अपतर्पणीय उपक्रम

इसके अन्तर्गत लंघन-रूक्षण-स्वेदन कर्मों का समावेश होता है, जो निम्न हैं—

1. लंघन—जो द्रव्य या उपाय देह में लघुता (हल्कापन) उत्पन्न करे उसे लंघन कहते हैं[2]। अर्थात् 'लघु' गुण की वृद्धि से शारीरिक दुष्ट धातुओं, स्थूलता एवं सामता को दूर किया जाता है।

लंघनीय द्रव्य

जो द्रव्य लघु, उष्ण, तीक्ष्ण, विशद, रूक्ष, सूक्ष्म, खर, सर और कठिन गुण युक्त होते हैं वे प्रायः शरीर में लंघन (लघुता) पैदा करने वाले होते हैं[3]। लंघनीय द्रव्यों में आकाश, वायु एवं अग्नि महाभूत की प्रधानता होती है।

लंघन के दश भेद

चार प्रकार की संशुद्धि (यथा- वमन, विरेचन, निरूहबस्ति, शिरोविरेचन) पिपासा, वायु सेवन, आतप सेवन, पाचन औषध द्रव्य प्रयोग, उपवास एवं व्यायाम। ये दस प्रकार के लंघन होते हैं[4]। इनमें से वमन, विरेचन, निरूह बस्ति, शिरोविरेचन एवं पाचन में द्रव्यों का साक्षात् प्रयोग किया जाता है, अतः इन्हें 'द्रव्यस्वरूप' लंघन कहा जाता है। पिपासा (तृषा) रोकना, मारुत (वायु) सेवन, आतप (धूप) सेवन, उपवास एवं व्यायाम ये पाँच 'अद्रव्य रूप' लंघन कहे जाते हैं, क्योंकि इन पाँच लंघन के भेदों में किसी द्रव्य का प्रयोग नहीं किया जाता है।

चरक मतानुसार लंघन—10 भेद

1.	वमन	6.	वायु सेवन
2.	विरेचन	7.	आतप सेवन
3.	निरूह बस्ति	8.	पाचन औषध

1. इति षड् अपतर्पणार्था योगाः सम्यगुपकल्प्याः। साध्यानां व्याधीनां सिद्धा साधकतमा उपेक्षितः॥ (च.सू. 22/42)
2. दोषाणां बहुधोत्पादे संक्षोभणे च कारणम्। वहतां तु क्षतिर्दृष्टा लिंगं व्याधेश्च वर्धनम्॥ (च.सू. 22/43)
3. लंघनैर्विपरीतगुणकरं देहे लाघवकरं स्मृतम्॥ (च.सू. 22/9)
4. तत्पुनर्दशविधं भवति सुखं खलु साध्यम्। कतिचन पुनरद्रव्यं द्रव्यतस्तदहुर्न स्मृतम्॥ (च.सू. 22/12)
5. "बहुपयोगसंशुद्धिः पिपासा मारुतातपौ। पाचनं क्षुदुपवासश्च व्यायामश्चेति लङ्घनम्॥ (च.सू. 22/18)

Scanned with CamScanner

4. शिरोविरेचन
5. पिपासा
9. उपवास
10. व्यायाम

वाग्भट मतानुसार लंघन—2 भेद[1]

1. शोधन-5 उपभेद	2. शमन-7 उपभेद
i) वमन	i) पाचन
ii) विरेचन	ii) दीपन
iii) निरूह बस्ति	iii) क्षुधा
iv) शिरोविरेचन	iv) तृषा
v) रक्तमोक्षण	v) व्यायाम
	vi) आतप
	vii) मारुत

शोधन से लंघनीय पुरुष

जिस व्यक्ति के शरीर में कफ, पित्त, रक्त और मल अधिक मात्रा में हों तथा जिसके शरीर में कफ, पित्त, रक्त और मल वायु से युक्त हों, जिनका शरीर बड़ा हो और बलवान हो, उसे संशोधन के द्वारा लंघन कराना चाहिये[2]।

पाचन से लंघनीय पुरुष

जिस पुरुष के शरीर में कफ एवं पित्त के द्वारा उत्पन्न रोग मध्य बल वाले हों, जैसे अतिसार, ज्वरातिसार, विसूचिका, अलसक तथा ज्वर से जो मनुष्य युक्त हों और जिन्हें विबन्ध रोग हो, शरीर में गुरुता हो, डकार अधिक आती हों, जो मिचलाता हो अरोचक आदि से पीड़ित हों तो उन व्यक्तियों को सर्वप्रथम पाचन द्वारा लंघन कराना चाहिये[3]।

जिन पुरुषों के शरीर में ऊपर बताये हुये ये ही रोग अल्प बलवान हों तो पिपासा को रोककर और उपवास कराकर लंघन कराना चाहिये[4]। बलवान व्यक्तियों के शरीर में यदि कोई भी रोग 'मध्य बल' वाले उत्पन्न हो जायें तो व्यायाम, आतप, मारुत सेवन कराकर लंघन कराना चाहिये। यदि बलवान् व्यक्तियों में अल्पबल वाले रोग हो जायें तो व्यायाम, आतप, मारुत सेवन से लंघन करायें[5]।

लंघन का काल

त्वचा रोग युक्त व्यक्ति, प्रमेह, अतिस्निग्ध व्यक्ति, अभिष्यन्दी पुरुष (जिनके शरीर

1. "लंघनं द्विविधं प्रोक्तं दोषाणां संशमनम्। पटोलेयादिकं दोषान् प्रसभात् शोधनं च यत्।
विशोधनं विरेकाद्यं शमनं पाचनादिकम्॥ न शोधयति यद्दोषान् शमनैरेव शाम्यति।
प्रभूतं स्नेहसंस्वेदसंयुक्तं संयुतं मरुत्। बृंहणैश्च वलिनो लंघनैश्च विमुह्यति॥ (अ.हृ.सू. 14/4-7)
2. पूर्वं स्नेहस्य रोगः कफपित्तरक्तमूर्च्छिताः। यस्यानिलेन सहिता बलिनो लंघनीया विमुह्यति॥ (च.सू. 22/19)
3. विबन्धगौरवोद्गारारोचकाद्यैश्च पीडितः। पाचनैरेव तं पूर्वं लंघयेत्समुपाचरन्॥
4. स्पष्टे पक्वाशये पेक्षाकालं वह्नेः। पित्तश्लेष्मविकारेषु लंघनं प्रथमं हितम्॥ (च.सू. 22/20-21)
5. तिष्ठन्त्यल्पबलान्येव यानि रोगाणां बलवत्सु च। व्यायामेन। (च.सू. 22/22)
व्याधयः। बलिनं हि पुनर्देषा दैवसत्त्वसमाश्रयम्॥ (च.सू. 22/23)

के स्रोतों में कफ भरा हो), स्थूल, वातरोगित व्यक्तियों को शिशिर ऋतु में दस प्रकार[1] के लंघन कराने चाहियें।

वातज रोगों में लंघन का निषेध किया गया है, क्योंकि लंघन से वात दोष की वृद्धि होती है। पित्त और कफ द्रव धातु हैं इसलिये लंघन को सहन कर लेते हैं परन्तु वायु लंघन को बिल्कुल भी नहीं सह पाती है। यदि वायु में आमदोष का सम्बन्ध रहे तो कुछ अंशों में अर्थात् आमपाचन होने तक लंघन को सहन कर सकता है। शिशिर ऋतु में स्वभावतः शरीर में कफ वृद्ध रहता है, यदि उस समय वातज रोगों में या वात प्रकृति मनुष्यों में लंघन कराया जाय तो हानि नहीं होती है[2]।

सम्यक् लंघन के लक्षण[3]

1. अपानवायु-मूत्र-पुरीष का सम्यक् त्याग
2. शरीर में लघुता का अनुभव
3. हृदय, उद्गार, कण्ठ, मुख शुद्ध होना
4. तन्द्रा व क्लम (थकावट) नष्ट होना
5. स्वेद आना व भोजन में रुचि होना
6. भूख व प्यास का एक साथ लगना
7. आत्मा (शरीर) में कोई कष्ट नहीं होना।

अति लंघन के लक्षण[4]

1. पर्वभेद, अंगमर्द, कास, मुख शोष की उत्पत्ति
2. क्षुधानाश
3. भोजन में अरुचि
4. तृष्णाधिक्य
5. कर्ण (श्रोत्र) व नेत्र दुर्बलता
6. चित्त अस्थिरता
7. हिक्का, श्वास, जृम्भा की पुनः पुनः उत्पत्ति
8. चित्तविभ्रंश
9. देह व अग्नि बल नाश

1. स्थूलेषिणं प्रवीद्धानां स्निग्धानिलविबद्धिनाम्। शिशिरे सहसा शस्तमपि वातिकदर्शिनाम्॥ (च.सू. 22/24)
2. कफपित्ते द्रवे धातू सहेते सहसा बहु। आमाधिष्ठूर्ध्वमपि वायुर्न सहते लंघनं हितम्॥ (च.सू. ज्वर चि. /44)
3. लघूत्थानपुरीषत्वं विशदौ वक्त्रहृत्त्वचौ। हृदयोद्गारकण्ठास्य शुद्धौ तन्द्राक्लमौ गतौ॥
स्वेदे जाते क्षुधी पीते भुक्तिपिपासाप्रवर्तने। सुखे सहसदेहानां निर्वृत्तिः लंघनात्परम्॥ (च.सू. 22/34-35)
4. पर्वभेदोऽङ्गमर्दश्च कासः शोषो मुखस्य च। क्षुत्प्रणाशोऽरुचिस्तृष्णा दौर्बल्यं श्रोत्रनेत्रयोः॥
भ्रमः संप्रमोहो भोक्तुमप्यशक्तता हृदि। देहाग्नि बलनाशश्च सहसोपेक्षते भृशम्॥ (च.सू. 22/36-37)

Scanned with CamScanner

अति लंघन की चिकित्सा

इसमें शर्कारा, मांस रस, क्षीर, घृत आदि बृंहणीय द्रव्यों का प्रयोग करें।

लंघनीय रोग[1]

आम दोष, ज्वर, प्रमेह, कुष्ठ, ऊरुस्तम्भ, विसर्प, विद्रधि, प्लीहदोष, शिर-कर्ण-नेत्र रोग, अति स्थौल्य, अतिसार, उदावर्त, विसूचिका, अलसक, रस धातु गत समस्त विकार, आमाशय समुत्थ रोग, छर्दि रोग एवं हेमन्त व शिशिर ऋतु में लंघन कराना चाहिये।

आधुनिक मत से लंघन में, नित्य होने वाले धातुपाक (Metabolism) के लिये ईंधन रूपी आहार द्रव्य (प्रोटीन, कार्बोज, वसा आदि) की प्राप्ति भोजन रूप में न होने से देहाग्नि (फायर्निन-जठराग्नि) काय में संचित अनावश्यक द्रव्यों (आम-Autotoxins) का उपभोग करने लगती है। प्राकृतिक चिकित्सक भी लंघन (उपवास) काल में शरीर में उपस्थित विषों का नष्ट होना स्वीकार करते हैं जिससे मनुष्य स्वास्थ्य लाभ प्राप्त करता है और शरीर में रोग प्रतिरोधक क्षमता की वृद्धि होती है।

2. रूक्षण

जो द्रव्य या उपाय शरीर में रुक्षता या रुक्षापन, खुरदुरापन और विशदता उत्पन्न करते हैं उन्हें 'रुक्षण' कहते हैं[2]।

रूक्षणीय द्रव्य[3, 4]

जो द्रव्य प्रायः रुक्ष, लघु, खर, तीक्ष्ण, उष्ण, स्थिर, अपिच्छिल (विशद) और कठिन गुण युक्त होते हैं ये शरीर में रूक्षण करने वाले होते हैं।

कटु-तिक्त-कषाय रस वाले द्रव्यों का सेवन, स्त्री (मैथुन) असंयम, सर्षप खल, तिलखली, तक्र और मधु आदि द्रव्यों का सेवन शरीर को रूक्ष बनाता है।

रूक्षणीय रोग

अभिष्यन्द वाले रोग (स्रोतोरोध), मेदोदोष (मात्रा में अधिक दोष), मर्म स्थान में उत्पन्न रोग, ऊरुस्तम्भ आदि रोगों में रुक्षण चिकित्सा की जाती है[5]।

1. (1) अन्यदोषस्य पूर्वं ...
   (2) शमनार्थं विकाराणां ...
   (3) वैकारिकेषु ...
   विकारेषु ...
   स्थूलेषु ...
2. दीप्तेऽग्नौ ... (अ.हृ.सू. 14/10-11)
3. रूक्षं लघु खरं ... (च.सू. 27/12)
   प्रायशः ...
4. कटुतिक्तकषायाणां ... (च.सू. 22/14)
   खलितिलपाक ...
5. अभिष्यन्द ... (च.सू. 22/28)
   ऊरुस्तम्भ ... (च.सू. 22/30)

सम्यक रूक्षण व अति रूक्षण के लक्षण

पूर्व में वर्णित लंघन चिकित्सा के अंतर्गत "सम्यक लंघन" व "अतिलंघन" के जो-जो लक्षण बताये गये हैं वे सभी लक्षण रुक्षण के उचित रूप से पालन करने पर (सम्यक् लक्षण) और अधिक मात्रा में लंघन करने पर (अतियोग लक्षण) भी उत्पन्न होते हैं[1]।

अति रूक्षण की चिकित्सा

अति रूक्षण की अवस्था में स्नेहन चिकित्सा में वर्णित घृत, तैल, वसा, मज्जा, मिश्रित पञ्चप्रासृतिकी पेया, तिल-काम्पलिक आदि का प्रयोग करना चाहिए।

3. स्वेदन

यह उपक्रम अपतर्पण चिकित्सा का तृतीय व अंतिम भेद है। जो द्रव्य या उपाय शरीर की स्तब्धता या जकड़ाहट, गौरवता या भारीपन एवं शीतलता को नष्ट करते हैं उन्हें स्वेदन कहते हैं[2]।

स्वेदनीय द्रव्य

जो द्रव्य प्रायः उष्ण, तीक्ष्ण, सर, स्निग्ध, रूक्ष, सूक्ष्म, द्रव, स्थिर और गुरु गुण प्रधान होते हैं वे द्रव्य स्वेदन कार्य करते हैं[3]।

स्वेदन के भेद— स्वेदन के भेद अनेक हैं जो निम्न प्रकार हैं—

(I) त्रयोदश स्वेद (साग्नि स्वेद)[4]— आचार्य चरक ने अग्नि के संयोग से उत्पन्न होनेवाले 13 स्वेदों का निम्नानुसार वर्णन किया है-

1. **संकर स्वेद—** वात-कफ जन्य रोगों में वातु, भूसी, तिल, उड़द, कुल्थी, अम्ल द्रव्यों से पिण्ड (पोटली) बनाकर उससे स्वेद किया जाता है।

2. **प्रस्तर स्वेद—** इसमें पत्थर या शिला पर स्वेदनीय द्रव्य बिछाकर स्वेद किया जाता है।

3. **नाड़ी स्वेद—** एकांङ्ग रोगों में नली के द्वारा भाप निकालकर स्वेद किया जाता है।

4. **परिषेक स्वेद—** इसमें वृद्ध वात दोष की अवस्था में औषधियों के सुखोष्ण क्वाथ को शरीर पर धारा के रूप में छोड़कर स्वेद किया जाता है।

1. कृशातिकृशताद्यं ... (च.सू. 22/20)
2. स्तम्भगौरवशीतघ्नं ... (च.सू. 22/21)
3. उष्णं तीक्ष्णं सरं ...
   द्रव्यं गुरु च यत् ... (च.सू. 22/16)
4. सङ्करः प्रस्तरो ... (च.सू. 14/39 -47)

5. अवगाहन स्वेद— इसमें शामकाशक द्रव्यों के क्वाथ, दूध, तैल, घृत, जल के कोष (Tub) में व्यक्ति को बिठाकर स्वेद किया जाता है।

6. जेन्ताक स्वेद— इसमें विशेष ढंग पर बनाये गए कमरे (गृह) में व्यक्ति को प्रवेश कराकर स्वेद कराते हैं।

7. अश्मघन स्वेद— इसमें पत्थर की पटिया को गर्म कर उस पर रोगी को बिछाकर रोगी को लिटाकर स्वेदन करते हैं।

8. कर्षू स्वेद— जमीन में गड्ढा खोदकर उसमें धूमरहित अंगारे भरकर उसके ऊपर चारपाई (खाट) बिछाकर रोगी को लिटाकर स्वेदन करते हैं।

9. कुटी स्वेद— इसमें एक छोटा सा गोलाकार गृह बनाकर इसमें रोगी को बिठाकर स्वेदन कराते हैं।

10. भूस्वेद— इसमें जमीन पर अंगारे बिछाकर उसे गर्म कर उस पर रोगी को लिटाकर स्वेदन कराते हैं।

11. कुम्भि स्वेद— इसमें घड़े को जमीन में गाड़कर उसमें गर्म द्रव्य भरकर उसके ऊपर खाट बिछाकर रोगी को बैठाकर या लिटाकर स्वेदन कराते हैं।

12. कूप स्वेद— इसमें छोटा सा कुआं खोदकर उसमें अग्नि प्रदीप्तकर उसके ऊपर खाट बिछाकर रोगी को उस पर बैठाकर रोगी का स्वेदन कराते हैं। इसमें हाथी, घोड़े की सींग या सूखा गोबर डालकर अग्नि प्रदीप्त करते हैं। यह रुक्ष प्रकार का स्वेदन होता है।

13. होलाक स्वेद— इसमें खाट के नीचे बोरसी (कौड) रखकर उसमें सूखा गोबर आदि भरकर अग्नि जलाकर स्वेदन करते हैं।

(ii) दश भेद (निरग्नि स्वेद)[1]— अग्नि के बिना संयोग के होने वाले दश स्वेद निम्न प्रकार हैं—

1. व्यायाम— दण्ड बैठक या कुश्ती या व्यायाम करने से स्वेदन होता है।
2. उष्म स्वेद— बिना अग्नि संयोग के गर्म घर में रहने से स्वेदन होता है।
3. गुरुप्रावरण— रोगी को मोटे कपड़े, कम्बल आदि ओढ़ाकर स्वेद कराते हैं।
4. क्षुधा— इसमें भूख को रोककर जठराग्नि प्रदीप्त होने से स्वेदन होता है।
5. बहुपान— इसमें मद्य आदि उष्मावीर्य द्रव्य पिलाकर स्वेदन कराते हैं।

1. व्यायाम उष्मादर्वं गुरुप्रावरणं क्षुधा।
बहुपानं भयक्रोधयुक्तानशनानि च॥
स्वेदयन्ति दशैवैते नरानग्निं गुणन्वितं॥
(च.सू. 14/64-65)

6. भय— डरा धमकाकर भय से स्वेदन किया जाता है।
7. क्रोध— इसमें क्रोध या गुस्सा दिलाकर चित्त की वृद्धि कराकर स्वेदन होता है।
8. उपनाह— इसमें उपनाह (Poultice) बांधकर स्वेद कराया जाता है।
9. युद्ध— इसमें मल्ल युद्ध, लड़ाई, झगड़े आदि से शरीर का व्यायाम होकर स्वेदन होता है।
10. आतप— इसमें धूप का सेवन कराकर सूर्य किरणों की उष्मा से स्वेदन किया जाता है।

(iii) चार भेद (सुश्रुतानुसार)[1]— आचार्य सुश्रुत ने निम्न चार प्रकार के स्वेद बताए हैं—

1. ताप स्वेद— इसमें अग्नि के ताप से शरीर को सेंकने का विधान है। इनमें आचार्य चरक के संकर व प्रस्तर स्वेद का समावेश किया जा सकता है।
2. उष्म स्वेद— इसमें उष्मा या भाप द्वारा स्वेद किया जाता है। इसमें दो आचार्य चरक के नाड़ी, जेन्ताक, अश्मघन, कर्षू, कुटी, भू, कुम्भि, कूप एवं होलाक आदि स्वेद का समावेश किया जा सकता है।
3. उपनाह स्वेद— इसमें पोट्टलों के द्वारा स्वेदन किया जाता है।
4. द्रव स्वेद— इसमें अवगाह एवं परिषेक स्वेद को समाविष्ट किया जाता है।

(iv) द्विविध स्वेद[2]—

(अ) (i) रूक्ष स्वेद— कफ प्रधान रोगों में लाभकारी।
(ii) स्निग्ध स्वेद— वात प्रधान रोगों में लाभकारी।

(ब) (i) एकाङ्ग स्वेद— शरीर के विशिष्ट अङ्ग में किया जाने वाला स्वेद।
(ii) सर्वाङ्ग स्वेद— सर्वशरीर में किया जाने वाला स्वेद।

(v) अन्य स्वेद[3]—

1. मृदु स्वेद— वृषण, हृदय व नेत्र आदि कोमल अंगों पर किया जाने वाला स्वेद।

1. चतुर्विधः स्वेदः, तद्यथा-तापस्वेदः, उष्मास्वेदः, उपनाहस्वेदो, द्रवस्वेद इति, अत्र सर्वोपसेविकल्पलक्षणः॥ (सु.चि. 33/3)
2. (i) चतुर्भ्योऽपि वातो या रूक्षे या स्वेद इष्यते।
शिरःकफाशया शिरसो रूक्षाद्युपक्रमिणः॥ (च.सू. 14/8)
(ii) एकाङ्गसर्वाङ्गगतः शिरसो रूक्षसंज्ञितः॥ (च.सू. 14/66)
3. वृषणौ हृदयं दृष्टि स्वेदयेन्मृदु नैव वा।
तमसार्थं बहु श्लेष्मा शोषाद्यावश्यमिष्यते॥ (च.सू. 14/10)

Scanned with CamScanner

2. मध्यम स्वेद— वंक्षण प्रदेश में किया जाने वाला स्वेद।
3. महान (सम्यक) स्वेद— शेष अंगों व अवयवों में किया जाने वाला स्वेद।

सम्यक् स्वेदन के लक्षण[1]

1. रोगी के शरीर में शीतता व शूल की शांति होना।
2. शरीर की जकड़ाहट व गुरुता नष्ट होना।
3. शरीर के अवयवों में मार्दव व कोमलता होना।
4. शरीर में स्वेद प्रवृत्ति।
5. मल-मूत्र-अपानवायु व शुक्र की सम्यक् प्रवृत्ति।
6. वातकफज रोगों का शांत होना।
7. शाखागत दोषों का कोष्ठ में आ जाना।

अतिस्वेदन के लक्षण[2]

स्वेदन का प्रयोग अधिक मात्रा में करने से निम्न रोग व लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं-

1. पित्त व रक्त प्रकोप होना।
2. मूर्च्छा व भ्रम की उत्पत्ति।
3. शरीर सदन (अवसाद) होना।
4. तृष्णा अधिक लगना व शरीर में दाह होना।
5. स्वेद अधिक मात्रा में आना।
6. स्वर व अंगों में दुर्बलता।
7. ज्वर, संधिशूल, क्लम आदि की उत्पत्ति।

अतिस्वेदन की चिकित्सा[3]

स्वेद के अतियोग होने पर मधुर, स्निग्ध व शीतल आहार-विहार, ग्रीष्म ऋतुचर्या का पालन एवं स्तम्भन कर्म करना चाहिए।

1. i) सोष्मपूर्वमुपायेषु स्तम्भनैरुपनिह्वे। संगतेऽग्नौ स्वेदे स्वेदनाद्विधीयते॥ (च.सू. 14/13)
   ii) सोष्मपूर्वं प्रयुक्तेन स्वेदनेनाभिपीडिते।
   पुरीषमूत्रशुक्रादि न सम्यगभिवर्तते॥ (च.सू. 14/4)
   iii) अतः स्वेदः प्रवक्ष्यते दैर्घ्यमात्रयोपेक्षितैः।
   स्वेदसाध्याः प्रसक्तानि गदा वातकफात्मकाः॥ (च.सू. 14/3)
2. i) पित्तरक्तकोपे मूर्च्छा च सदोसदनं वृषः।
   दाहः स्वेदाङ्गदौर्बल्यपीडितस्य लक्षणम्॥ (च.सू. 14/14)
   ii) पित्तेऽतिमात्रं.....क्लमश्च॥ (सु.चि. 32/24)
   iii) पित्तरक्तकोप.....छर्दिश्च॥ (अ.हृ.सू. 17/16-17)
3. i) उक्तव्याधिहरीये यो विधिः सर्वोऽत्र विधिः।
   सोऽतिस्विन्नस्य कर्तव्यो मधुरः स्निग्धशीतलः॥ (च.सू. 14/15)
   ii) मुक्तसंपूर्वं तत्र शीतं विधानम्॥ (सु.चि. 32/24)
   iii) तत्र स्तम्भनमौष्ण्यम्॥ (अ.हृ.सू. 17/17)

स्वेदनीय रोग[1]

1. प्रतिश्याय
2. कास
3. हिक्का
4. श्वास
5. कर्णमन्याशिरःशूल
6. स्वरभेद
7. गलग्रह
8. अर्दित
9. एकाङ्गघात
10. सर्वाङ्गघात
11. पक्षाघात
12. विनाम
13. कोष्ठ-आनाह
14. विसंज्ञ
15. मूत्राघात
16. पार्श्वपृष्ठकटिकुक्षिग्रह (पार्श्व-पृष्ठ-कटि-कुक्षिग्रह)
17. गृध्रसी
18. मूत्रकृच्छ्र
19. पाद ऊरु जानु जंघा ग्रह
20. शोथ
21. आमदोष
22. वेपथु (कम्पवात)
23. वातकण्टक
24. संकोच-आयाम-शूल
25. स्तम्भ-गौरव-सुप्तता
26. अर्बुद रोग
27. ग्रंथि रोग
28. शुक्राघात
29. आढ्यवात (ऊरुस्तम्भ)

स्वेदन के अयोग्य रोग व रोगी[2]

1. प्रतिदिन कषाय रस व मदिरा का सेवन करने वाले
2. गर्भिणी
3. रक्तचित्त
4. पित्तज रोग व पित्तज प्रकृति
5. अतिसार
6. मधुमेह
7. गुदभ्रंश
8. गुदपाक
9. नष्टसंज्ञा (Unconscious)
10. अतिस्थूल (Obese)
11. पित्तज प्रमेह
12. क्षुधा व तृष्णा पीड़ित
13. क्रोध व शोक पीड़ित
14. पाण्डु
15. कामला
16. उदर रोग
17. उरःक्षत

1. i) प्रतिश्याये च कासे च हिक्काश्वासेष्वतापरे.....
   सर्वाङ्गेषु विकारेषु स्वेदन हितमुच्यते॥ (च.सू. 14/20-24)
   ii) श्वासकास .....।
   .....कुर्यात्तदौषधविधानतः॥ (अ.हृ.सू. 17/25-27)
2. i) कषायपानशिलिनां गर्भिणीं रक्तपित्तिनम्.....।
   पित्तकृत् वैमिरकाणां च न स्वेदमवतारयेत्॥ (च.सू. 14/16-19)
   ii) "पानक्षुधौ पित्तरतौ क्षतार्तः।
   स्त्रस्तां भेदी स्वेदनीयौ तनौ॥ (सु.चि. 32/25-26)
   iii) "न स्वेदमेतेषि स्थूल .....।
   .....गदे॥ (अ.हृ.सू. 17/22-24)

Scanned with CamScanner

18. क्षय (राजयक्ष्मा)
19. अजीर्ण
20. विष पीड़ित
21. वातरक्त
22. तिमिर

संतर्पणीय उपक्रम

इसके अंतर्गत बृंहण-स्नेहन-स्नेहन कर्मों का समावेश होता है, जो निम्न प्रकार है—

1. **बृंहण**— जो द्रव्य या उपाय शरीर में बृंहण या स्थूलता उत्पन्न करें उसे बृंहण कहते हैं[1]। अर्थात् जिस आहार-विहार व औषध (उपचार) से शरीर की वृद्धि हो शरीर के निर्यापक तत्व पुष्ट हों, रोग प्रतिरोधक शक्ति की वृद्धि हो, बलवृद्धि हो, उसे संतर्पण या बृंहण उपक्रम कहते हैं। सामान्यतः संतर्पण से दोष-धातु-मलों की वृद्धि होती है।

बृंहणीय द्रव्य[2]— जो द्रव्य प्रायः गुरु, शीत, मृदु, स्निग्ध, बहल, स्थूल, पिच्छिल, मन्द, स्थिर और श्लक्ष्ण गुण युक्त होते हैं वे बृंहण कहलाते हैं।

प्रायः सभी दोष एवं धातुओं की वृद्धि संतर्पण से होती है परंतु वायु इसका अपवाद है। वायु की वृद्धि संतर्पण से न होकर अपतर्पण से होती है और वायु का क्षय संतर्पण से होता है। अन्य दोषों से वायु की वृद्धि और क्षय में विपरीतता है।

"सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्" के अनुसार रक्त से रक्त की, मांस से मांस की एवं शुक्र से शुक्र की वृद्धि होती है।

बृंहणीय रोग व पुरुष[3]— जो पुरुष, क्षीण, क्षत (उरःक्षत), कृश, वृद्ध, दुर्बल, नित्य पैदल चलनेवाले, सर्वदा मैथुन करने वाले एवं नित्य मद्यपान करने वाले हों उन्हें सदैव एवं ग्रीष्म ऋतुओं में बृंहण कराना चाहिए।

मांसरस से बृंहणीय पुरुष[4]— जो व्यक्ति शोष, अर्श, ग्रहणी दोष अथवा किसी अन्य रोग से कृश हो गये हों, उन्हें कच्चा मांस खानेवाले पशु-पक्षियों के (क्रव्याद) मांस रस से बृंहण कराना चाहिए।

सर्व उपयोगी बृंहणीय द्रव्य[5]— स्नान, उत्सादन (उबटन), निद्रा सेवन, मधुर द्रव्य सेवन, अनुवासन (स्नेह) बस्ति, शर्करा, क्षीर एवं सर्पि (घृत) ये द्रव्य सामान्यतः सभी प्रकार के व्यक्तियों के लिए बृंहणकारक होते हैं।

1. बृहत्वं वस्तुदोषस्य जनयेद्यन्न बृंहणम्॥ (च.सू. 22/9)
2. गुरु शीतं मृदु स्निग्धं बहलं स्थूलपिच्छिलम्।
प्रायो मन्दं स्थिरं श्लक्ष्णं द्रव्यं बृंहणमुच्यते॥ (च.सू. 22/13)
3. क्षीणः क्षतः कृशो वृद्धो दुर्बलो नित्यपादगः।
स्त्रीमद्यनित्यो ग्रीष्मे च बृंहणीय नराः स्मृताः॥ (च.सू. 22/26)
4. शोषार्शोग्रहणीदोषैर्यैरुपद्रुताः कृशीकृता ये।
तेषां क्रव्यादमांसेन बृंहणं लघवो रसः॥ (च.सू. 22/27)
5. स्नानमुत्सादनं स्वप्नो मधुरः स्नेहवस्तयः।
शर्करा क्षीरसर्पींषि सर्वेषां सिद्धि बृंहणम्॥ (च.सू. 22/28)

सम्यक् बृंहण के लक्षण[1]— यदि बृंहण उपक्रम मात्रा से किया जाय तो शरीर में बलवृद्धि, धातु पुष्टि होती है एवं कृशता के दोष व रोग नष्ट हो जाते हैं।

अतिबृंहण के लक्षण[2]— यदि बृंहण उपक्रम का अति मात्रा में चालन किया जाय तो शरीर में स्थूलता उत्पन्न हो जाती है और अति स्थौल्य के समस्त लक्षण प्रकट हो जाते हैं।

अन्य बृंहणीय द्रव्य व कर्म[3]— मांस रस, क्षीर, शर्करा, घृत, मधुरद्रव्य, स्निग्ध बस्ति, बृंहणीय महाकषाय के द्रव्य यथा-शतावरी, असगन्धा, काकोली, क्षीरकाकोली, विदारी कन्द, विधारा आदि जीवनीय द्रव्य एवं मधुवर्ग के द्रव्य, ये सभी बृंहणीय होते हैं। निद्रासेवन, सुखशय्या, अभ्यङ्ग, स्नान, उत्सादन, हर्षण एवं संकुसेवन आदि भी बृंहणकारक होते हैं।

बादाम, खजूर, मुनक्का, अनार, फालसा, आमलकी, मधुयष्टी, शतावरी, मूसली, बला, जीवन्ती, चिरौंजी आदि द्रव्य भी शरीर का बृंहण करते हैं। उपर्युक्त सभी द्रव्यों में मांस श्रेष्ठ बृंहणीय द्रव्य है[4]।

2. स्नेहन— जो द्रव्य शरीर में विष्यन्दता (बहने का स्वभाव), मार्दवता (मृदुता) व क्लेदता उत्पन्न करता है उसे स्नेहन कहते हैं[5]।

स्नेहनीय द्रव्य— जो द्रव्य प्रायः द्रव, सूक्ष्म, सर, स्निग्ध, पिच्छिल, गुरु, शीत, मंद और मृदु गुण युक्त होते हैं वे प्रायः स्नेहन करने वाले होते हैं[6]।

स्नेहन के भेद— स्नेहन के अनेक प्रकार से भेद किये जाते हैं, जिनमें से प्रमुख भेद निम्न प्रकार हैं-

(i) **योनि भेद से दो भेद**[7]

(अ) **स्थावर स्नेह**— जो स्नेह वनस्पति (Plants) द्रव्यों से प्राप्त हों जैसे-तिल, एरण्ड, सर्षप, निम्ब, करंज, ज्योतिष्मती आदि।

(ब) **जांगम स्नेह**— जो स्नेह जीव-जन्तु (Animals) के सौजन्य से प्राप्त हो जैसे-दधि, दूध, घृत, मांस, वसा, मज्जा आदि।

(ii) **चतुर्विध स्नेह**[8]

(अ) सर्पि (घृत)

1. बृंहणं पुष्टपुरुषस्य कषायपीत विजृम्भणम्।
लक्षणं वृंहिते, स्थौल्य मति चात्यर्थ वृंहिते॥ (च.सू. 22/38)
2. स्थौल्यमति चात्यर्थं वृंहिते॥ (च.सू. 22/38)
3. मांसक्षीर सिताससर्पिर्मधुर स्निग्धबस्तिभिः।
स्वप्नशय्यानुलोम्याभ्यङ्ग स्नानोत्सादनैर्हर्षैः॥ (अ.हृ.सू. 14/9, 10)
4. मांसं बृंहणीयानां वैद्यम्॥ (च.सू. 25/40)
5. स्नेहनं स्नेहविष्यन्दमार्दवक्लेदकारकम्॥ (च.सू. 22/10)
6. इत्यं सूक्ष्मं सरं स्निग्धं पिच्छिलं गुरु शीतलम्।
प्रायो मन्दं मृदु च यद् द्रव्यं तत् स्नेहनं मतम्॥ (च.सू. 22/15)
7. स्नेहानां द्विविधा सौम्य यौनिः स्थावरजाङ्गमा॥ (च.सू. 13/9)
8. सर्पिस्तैलं वसा मज्जा सर्व स्नेहोत्तमा मताः॥ (च.सू. 13/13)

Scanned with CamScanner

(ब) तैल
(स) वसा
(द) मज्जा

(iii). मात्रानुसार स्नेह[1]— स्नेह की निश्चित मात्रा के शरीर में पाचन होने में लगने वाले समय के अनुसार स्नेह के तीन भेद हैं-

(अ) प्रधान मात्रा— जो स्नेह की मात्रा दिन-रात (24 घंटे) में पच जाये।
(ब) मध्यम मात्रा— जो स्नेह की मात्रा दिन भर में (12 घंटे) में पच जाये।
(स) ह्रस्व मात्रा— जो स्नेह की मात्रा आधा दिन (6 घंटे) में पच जाये।

स्नेहन-काल व अनुपान[2]

विभिन्न काल (ऋतु) में भिन्न प्रकार के स्नेह को विशिष्ट अनुपान से सेवन कराने का विधान शास्त्रों में बताया गया है जो निम्न प्रकार है-

स्नेहन	काल (ऋतु)	अनुपान
(i) घृत	शरद	उष्ण जल
(ii) तैल	प्रावृट (वर्षा)	यूषं
(iii) वसा	वसंत (वैशाख)	मण्ड
(iv) मज्जा	वसंत (वैशाख)	मण्ड

सम्यक् स्नेहन के लक्षण[3]

1. अपान वायु का अनुलोमन होना।
2. जठराग्नि प्रदीप्त होना।
3. पुरीष स्निग्ध व असंहत होना।
4. शरीर में मार्दव (कोमलता) व चिकनापन होना।
5. शरीर में लघुता (हल्कापन) उत्पन्न होना।

अस्निग्ध पुरुष के लक्षण[4]

1. पुरीष ग्रथित व रुक्ष होना।

---

1. स्नेहमात्राः पुनस्त्रयोदशे च प्रकीर्तिते।
प्रधान मध्यम ह्रस्वा स्नेहमात्रा जरां प्रति॥ (च.सू. 13/26)
2. (अ) सर्पिः शरदि पातव्यं, वसा मज्जा च भावये।
तैलं प्रावृषि, वत्सन्तादौ स्नेहं विचेदनः॥ (च.सू. 13/28)
(ब) जलानुपां घृतं पेयं घृतशैलेऽनुशस्यते।
ऋतु यूषेषु मण्डः स्यात् सर्वस्नेहमयोऽपि वा॥ (च.सू. 13/22)
3. यथानुलोम्यं शकृतोऽग्निवृद्धिः स्निग्धत्वमार्दवम्।
गात्रस्य स्निग्धता चाङ्गे स्निग्धस्यानुपबृंहणे॥ (च.सू. 13/58)
4. रूक्षविबद्धशकृत्कं वायुश्चानुलोमगो मृदुः।
पक्वं आशयं गोत्रं च गात्रमस्निग्धलक्षणम्॥ (च.सू. 13/57)

2. वायु का अनुलोमन न होना।
3. जठराग्नि मन्दता।
4. शरीर में रुक्षता व खरता रहना।

अतिस्निग्ध पुरुष के लक्षण[1]

1. पाण्डुता
2. गौरवता
3. जाड्यता
4. पुरीष अविपक्वता
5. तन्द्रा
6. अरुचि
7. उत्क्लेश
8. गुददाह
9. मुख से कफ स्राव
10. भक्त द्वेष।

स्नेहन योग्य रोग व रोगी[2]

1. जिनको स्वेदन या शोधन कराना हो।
2. जिनका शरीर रुक्ष हो।
3. जो वातव्याधि से पीड़ित हों।
4. जो नित्य व्यायाम करते हों।
5. जो नित्य मदिरापान करते हों।
6. जो नित्य स्त्रीसेवन करते हों।
7. जो नित्य चिन्ता करते हों।

स्नेहन के अयोग्य रोग व रोगी[3]

1. जिनके शरीर में कफ व मेद बढ़े हुए हों।
2. नित्य मन्दाग्नि से पीड़ित।
3. तृष्णा तथा मूर्च्छा से पीड़ित।
4. अन्न से अरुचि।
5. गर्भिणी।
6. तालु शोष पीड़ित।
7. छर्दि से ग्रसित।
8. उदर रोग पीड़ित।

---

1. पाण्डुता गौरवं जाड्यं पुरीषस्याविपक्वता।
तन्द्राऽविपक्वोत्क्लेशः स्यादति स्निग्धलक्षणम्॥ (च.सू. 13/59)
2. स्नेह्याः शोधयितव्याश्च रूक्षा वातविकारिणः।
व्यायामाद्यात्मशीलित्वः स्नेह्याः सुरां च चिन्तकाः॥ (च.सू. 13/52)
3. संशोधनादृते दोषा स्थानं संत्यक्ते.....।
.....नुरागाः॥ (च.सू. 13/53-56)

Scanned with CamScanner

9. आम दोष युक्त।
10. दुर्बल व क्लम युक्त।
11. स्नेह से उत्पन्न ग्लानि।
12. मद रोग पीड़ित।
13. बस्ति कर्म व नस्य कर्म पश्चात्।

3. **स्तम्भन**— जो द्रव्य या उपाय गतिशील और चल द्रव्यों को निश्चित रूप से रोकता है उसे स्तम्भन कहते हैं। अर्थात् जिससे शारीरिक दोष, धातु, मलों में रुकावट हो उस उपक्रम को स्तम्भन कहते हैं[1]।

स्तम्भनीय द्रव्य— जो द्रव्य प्रायः शीत, मन्द, मृदु, मृण्मय, रुक्ष, सूक्ष्म, द्रव, स्थिर और गुरु गुण युक्त होते हैं वे शरीर में स्तम्भन उत्पन्न करते हैं[2]।

जो द्रव्य[3] तनु (पतला), स्थिर, शरीर में शीतलता उत्पन्न करने वाले और मधुर-तिक्त-कषाय रस प्रधान हैं वे सभी द्रव्य शरीर में स्तम्भन उत्पन्न करते हैं।

स्तम्भनीय पुरुष— जो व्यक्ति पित्त प्रकृति का हो, क्षार-अग्नि से जला हो, वमन व अतिसार से पीड़ित हो, विष और स्वेद के अधिक निकलने से कष्ट पा रहा हो, जिस अङ्ग में अतिप्रवृत्ति प्रकार की स्रोतोदुष्टि हो, इस प्रकार के व्यक्ति स्तम्भन करने योग्य होते हैं।

सम्यक् स्तम्भन के लक्षण— जिन रोगों में स्तम्भन उपक्रम करने का विधान है यदि उन रोगों का क्षय हो जाय और रोगी के शरीर में बल की प्राप्ति हो जाय तो इसे सम्यक् स्तम्भन क्रिया के लक्षणों का ग्रहण करना चाहिए[4]।

अति स्तम्भन के लक्षण— शरीर में श्यावता, जकड़ाहट, मन में उद्वेग, हनुस्तम्भ, हृदय गति रुकावट आदि अतिस्तम्भन के लक्षण हैं[5]।

स्तम्भनीय औषध— अहिफेन, भंग, मोचरस, कुटज, लोध्र, जातीफल, लाक्षा, शुण्ठी, बाल, खदिर, दूर्वा, गैरिक, अशोक, प्रवाल एवं कठगूलर आदि स्तम्भनीय द्रव्य हैं।

---

1. स्तम्भनं स्तम्भयति यद्गतिमन्तं चलं द्रवम्॥
2. शीतं मन्दं मृदु मृण्मयं रूक्षं सूक्ष्मं द्रवं स्थिरम्। गुरु द्रव्यं तनु स्थिरं शीतलं मधुरं स्तम्भनं स्मृतम्॥ (च.सू. 22/11)
3. द्रवं तनुस्थिरं शीतलं कालमधुरं स्तम्भनं स्मृतम्। स्थितु त्रिदं कषायं च स्तम्भनं सर्वमेव तत्॥ (च.सू. 22/17)
4. विनष्टदोषरूपाणां च व्याधीनामुपशान्तिलक्षणानि। विनष्टेष्टविकाराणां स्तम्भनस्यैव निर्दिशेत्॥ (च.सू. 22/32)
5. स्तम्भितः श्यावतां याति सर्वैश्च स्तम्भितैर्गुणैः॥ (च.सू. 22/33)
6. श्यावता स्तब्धगात्रत्वं हनुस्तम्भः। हृदयौपसरश्चैव स्रोतसां परिपालनम्॥ (च.सू. 22/36)

षड्विध उपक्रमों की संक्षिप्त गुण भेदक तालिका

अपतर्पणीय उपक्रम			संतर्पणीय उपक्रम		
लंघन	रुक्षण	स्वेदन	बृंहण	स्नेहन	स्तम्भन
लघु	लघु	गुरु	गुरु	गुरु	लघु
उष्ण	उष्ण	उष्ण	शीत	शीत	शीत
तीक्ष्ण	तीक्ष्ण	तीक्ष्ण	मृदु	मृदु	मृदु
X	X	द्रव	X	द्रव	द्रव
विशद	विशद	X	पिच्छिल	पिच्छिल	X
X	X	X	बहल	X	X
रुक्ष	रुक्ष	रुक्ष-स्निग्ध	स्निग्ध	स्निग्ध	रुक्ष
X	X	X	मंद	मंद	मंद
सूक्ष्म	X	सूक्ष्म	स्थूल	सूक्ष्म	सूक्ष्म
खर	खर	X	मृण्मय	X	मृण्मय
सर	स्थिर	स्थिर-सर	स्थिर	सर	स्थिर
कठिन	कठिन	X	X	X	X

चिकित्सा में दोष, दूष्य, बल, अग्नि, देश, काल एवं प्रकृति का सूक्ष्म विचार

चिकित्सक यदि औषध का प्रयोग रोग एवं रोगी परीक्षण करने के उपरांत दोष-दूष्य, स्रोतस, देश, काल, बल, व्याधि, शरीर, आहार, सात्म्य, सत्व, प्रकृति एवं वय आदि भावों का विचार कर करता है तो निश्चित रूप से वह औषध फलदायी होती है एवं उपद्रव होने की संभावना भी नहीं रहती है[1] यथा-

1. **चिकित्सा में दोष विचार**— आयुर्वेदीय काय चिकित्सा का प्रथम सूत्र है- निदान परिवर्जन अर्थात् रोग के कारण को दूर करना[2]। रोग के प्रारंभिक कारणों को दोष कहते हैं इसलिए चिकित्सा प्रारंभ करने के पूर्व दोष की स्थिति का विचार करना चिकित्सक का मौलिक कर्तव्य है। यहाँ पर दोष से तात्पर्य दोष-धातु-मल आदि से है। दोषों की क्षय, वृद्धि, समावस्था, ऊर्ध्वगति, अधः गति, तिर्यक् गति, कोष्ठगति, शाखागति, मर्मास्थिसंधिगति, अपने स्थान पर प्रकोप, स्थानान्तरगत प्रकोप, स्वतंत्र प्रकोप, परतंत्र प्रकोप, आवरणयुक्त होना, आमयुक्त होना, धातु क्षयजन्य, द्वन्द्वज, सन्निपातज होना, रसरक्तादि धातुओं में गति करना, मलों के साथ मिलना, संचय-प्रकोप-प्रसर-स्थान-संश्रय-व्यक्त तथा भेदावस्था का ज्ञान होना, दोषों की अंशांश कल्पना करना, आदि

---

1. गुणैरपि हि दोषभेषजदेशकालबलशारीराहार सात्म्यसत्वप्रकृतिवयसामवस्थानात्। (च.सू. 15/5)
2. संक्षेपतः क्रियायोगे निदानपरिवर्जनम्। वाताद्यैनां प्रकोपादः प्रोक्तो विस्तरतः पुनः॥ (सुत्र. 1/25)

Scanned with CamScanner

बिन्दुओं का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचार अवश्य करना चाहिए। मानसिक रोगों में भी शारीरिक दोषों का प्रकोप होकर दोषानुसार पीड़ा होती है। काम-क्रोध-शोक से वायु का, क्रोध से पित्त का एवं देवता आदि के कोप से त्रिदोष का प्रकोप होता है।

जिस प्रकार हेतु-दोष-दूष्य एवं स्रोतस् आदि के विशिष्ट संयोग को रोग कहते हैं उसी प्रकार इनके विघटन को चिकित्सा कहते हैं। रोगोत्पत्ति में हेतुभूत दोषों के प्रकोप में देश-काल-प्रकृति-बल आहार-विहार आदि भी कारण होते हैं। अतः इन सभी की वास्तविकता यथावता का विचार करके ही चिकित्सा करने से सफलता प्राप्त होती है।

2. **चिकित्सा में औषध का विचार**— औषधियों-शुष्क, आर्द्र-बालावस्था, तरुणावस्था एवं वृद्धावस्था की ली जाती हैं। औषधि किस तरह की भूमि में, किस देश में उत्पन्न हुई है? औषध का कौन सा भाग-छाल-पत्र-पुष्प-बीज-फल-मूल-क्षीर-पंचांग ग्रहण करना है या औषध किस रूप में प्रयुक्त करनी है, यथा-स्वरस-क्वाथ-कल्क-हिम-फाण्ट-चूर्ण-वटी-अवलेह-पाक-आसव-अरिष्ट-तैल-घृत-अर्कादि में से कौन सी कल्पना का प्रयोग करना है तथा रस-गुण-वीर्य-विपाक-प्रभाव का विचार कर, प्रकृति सम समवेत्-विकृति विषमसमवेत आदि संयोगों का विचार कर ही औषधि प्रयोग करना चाहिए। इससे आशानुकूल परिणाम प्राप्त होते हैं।

3. **चिकित्सा में देश का विचार**[1]— भूमि व आतुर भेद से "देश" दो अर्थों में प्रयुक्त होता है। भूमि आनूप-जाङ्गल-साधारण भेद से तीन प्रकार की होती है। आर्तोद-क्षारोद-लवणोद भेद से भी भूमि के भेद किए जाते हैं।

रोगी किस देश में पैदा हुआ है? किस तरह के देश में उसका पालन हुआ है? किस देश में रुग्णता को प्राप्त हुआ है? इन सभी देशों में आहार-विहार एवं जल वायु कैसी है? इन सभी तथ्यों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचार कर चिकित्सा प्रारम्भ करना लाभकारी रहता है।

चिकित्सा रूपी कार्य का देश रोगी का शरीर होता है। शरीर की परीक्षा आयु के प्रमाण को जानने के लिए या रोगी के बल-दोष के प्रमाण को जानने के लिए की जाती है। दोष के प्रमाण के अनुरूप ही औषध का प्रमाण निर्धारित किया जाता है या रोगी का बल व रोग बल देखकर औषध मात्रा निश्चित की जाती है। यदि बलवान रोगी व रोग होने पर अल्प बल वाली औषध रोगी को दी जाये तो यह प्रभावी नहीं होती है। अतः रोगी के बल के प्रमाण को जानने के लिए आतुर परीक्षा निम्न दशविध बिन्दुओं के आधार पर की जाती है[2]–

1. 0 देशानु भूमिमातुरम्।
   a) तत्र भूमिर्गदेषु आतुरपरिज्ञानार्थेषु स्थानीयपरिग्रहार्थेषु च।
   .....भूमिगतौषध वर्णार्थं॥ (च.वि. 8/97)
2. तान्यतएव परीक्षेत प्रकृतिम्, विकृतिम्, सारतः, संहननम्, प्रमाणतः, सात्म्यतः, सत्वतः, आहारशक्तिम्, व्यायामशक्तिम्, वयसश्चेति, यत्तन्मात्रोपयोगहेतोः॥ (च.वि. 8/94)

दशविध आतुर परीक्षा

1. प्रकृति (Constitution)
2. विकृति (Disease Susceptibility)
3. सार (Quality of Dhatus - tissues)
4. संहनन (Compactness of the body / body built)
5. प्रमाण (Anthropometry)
6. सात्म्य (Adaptability)
7. सत्व (Mental Stamina)
8. आहार शक्ति (Digestive power)
9. व्यायाम शक्ति (Exercise tolerance)
10. वय (अवस्था) (Age & rate of aging)

4. **चिकित्सा में काल का विचार**[1]

काल नित्यग एवं आवस्थिक भेद से दो प्रकार का है। नित्यग काल में क्षण, मुहूर्त, सेकेण्ड, मिनिट, घंटा, दिन, रात, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर, युग आदि का समावेश होता है।

आवस्थिक काल वयानुसार या रोगानुसार होता है। जैसे-युवावस्था के रोग प्रायः सुखसाध्य होते हैं, वृद्धावस्था के रोग कष्ट साध्य या दुःखसाध्य होते हैं।

साधारणतया तीन ऋतुओं यथा प्रावट्, शरद, वसंत में क्रमशः वस्ति, विरेचन तथा वमन कर्म कराने का विधान है। इन साधारण लक्षण वाली ऋतुओं में सर्दी, गर्मी, बरसात मंद रूप में होती है, इसलिए व्याधि प्रायः सुखसाध्य होती हैं।

रोगानुसार ज्वर को आरंभ अवस्था में लंघन (उपवास) कराना चाहिए। श्वास के वेग में बार-बार औषध का प्रयोग कराना चाहिए।

5. **चिकित्सा में बल का विचार**[2]

बल स्वाभाविक (सहज), कालज व युक्तिकृत, अवस्थानुसार, देशानुसार बढ़ता व घटता रहता है। शरीर के बल से भी अग्नि बल में भिन्नता आती है। शरीर बल, रोग बल एवं अग्नि बल का विचार कर ही चिकित्सा सूत्र निर्धारित कर व्याधिहरण का प्रयास करना चाहिए।

6. **चिकित्सा में शरीर का विचार**

शरीर के कृश स्थूल, सम, मध्य, सुसंहत, असंहत, मृदु, कठोर, सुकुमार, अतिहस्व,

1. बलतः पुनः संक्षेपतस्त्रिविधम्।
   .....सहजैर्युक्तिकृतम्॥ (च.वि. 8/125-126)
2. त्रिविधं बलमाहुरि-सहजं, कालजं, युक्तिकृतं च।
   सहजं पुनरुत्तरोत्तराणां प्रकृतिं, कालकृतं ऋतु विभागजं वयः कृतं च,
   युक्तिकृतं पुनरष्टधाहारायोपयोगजम्॥ (च.सू. 11/38)

Scanned with CamScanner

अतिदोर्ष, अतिगौर, अति कृष्ण, स्वस्थ व अस्वस्थ आदि सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेद होते हैं। सभी का विचार चिकित्सा करते समय आवश्यक है।

7. चिकित्सा में आहार का विचार[1]

अशित, पीत, लीढ़, खादित, शाकाहारी, मांसाहारी, विरुद्धाशन, अध्यशन, ऊनाशन, अतीमात्राशन, तप्त, गुरु, शीत, द्रव्य, प्रकृति, करण, संयोग, राशि, देश, काल, उपयोक्ता आदि भेदों से आहार के कई भेद होते हैं। इनका भी चिकित्सा में विचार करना अति आवश्यक है।

8. चिकित्सा में सात्म्य का विचार

सात्म्य उसे कहते हैं जो स्वप्रकृति अनुकूल हो। यह देह सात्म्य, प्रकृति सात्म्य, ऋतु सात्म्य, देश-सात्म्य, औक सात्म्य, जाति सात्म्य, काल-सात्म्य, बल सात्म्य आदि अनेक प्रकार का होता है। सात्म्य आहार-विहार एवं औषध का सम्यक् प्रयोग विशेष रोग के अनुसार निर्धारित कर चिकित्सा प्रारंभ करनी चाहिए।

9. चिकित्सा में सत्व का विचार

मन को "सत्व" कहा जाता है। मन में सत्व-रज-तम यह तीन गुण अधिष्ठित हैं। इसके आधार पर सात्विक, राजस-तामस तीन प्रकार के पुरुष होते हैं। अतः मन का विचार भी चिकित्सा में आवश्यक है।

10. चिकित्सा में प्रकृति का विचार

शारीरिक दोषानुसार वातज, पित्तज, श्लेष्मज, द्वन्द्वज एवं सन्निपातज, ये प्रकृतियाँ होती हैं। मन के गुण के अनुसार सात्विक, राजस, तामस प्रकृतियाँ भी होती हैं। तो महाभूत के आधार पर भी पांच भौतिक प्रकृतियाँ होती हैं। अतः इन सभी का विचार चिकित्सा में किया जाना आवश्यक है।

11. चिकित्सा में वय का विचार

बाल्य, कौमार, किशोर, तरुण, प्रौढ़, वृद्ध, जरा आदि भेदों से वय का विचार किया जाना भी आवश्यक है।

अतः दुष्टि-दोष-दूष्य के संयोग से रोग उत्पत्ति की प्रक्रिया ही सम्प्राप्ति है। इस सम्प्राप्ति का विघटन किया जाना ही चिकित्सा है। अतः प्रत्येक रोग की सम्प्राप्ति में दोष-दूष्य-स्रोतस-अग्नि-ओज आदि का विचार सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्तर तक किया जाना आवश्यक है। अतः चिकित्सा में दोषों का शोधन, दूष्य की क्षय वृद्धि, स्रोतस् का शोधन, अग्नि की स्थिति एवं ओज वृद्धि ये सभी उपचार आवश्यक हैं।

1. तत्र खल्वेतच्चतुष्पादमायुर्वेदशास्त्रं यदिदं रोगापहरणाय प्रवृत्तं तत्र चतुष्पादमिति भवति; तद्यथा-भिषक्-द्रव्याणि-उपस्थाता रोगी-पादाश्चिकित्सायाः। तत्र भिषक्पादः किमर्थः? भिषग्द्रव्याण्युपस्थास्यन्ति, उपस्थाता रोगी-पादानुपसेविष्यते, तस्मादुपसेवासम्पन्नो भिषग्द्रव्याण्युपस्थातुरुपसेवासम्पन्नो रोगपादानुपसेवमानः सम्यक् चिकित्सितज्ञानवान् भवतीति। (च.वि. 1/7)

चिकित्स्य पुरुष

चिकित्स्य पुरुष का विचार आयुर्वेद साहित्य में अत्यन्त वैशिष्ट्य रखता है। अन्यत्र इतना व्यापक एवं विस्तृत विवरण इस संदर्भ में प्रायः नहीं होता है। आयुर्वेद की यह अवधारणा है कि चिकित्स्य पुरुष (आतुर या रोगी) के विचार के बिना चिकित्सा के किसी भी अङ्ग का विचार कोई अर्थ नहीं रखता अर्थात् चिकित्सा का विचार अपूर्ण ही रहता है। अतः चिकित्सा की सफलता के लिए चिकित्स्य पुरुष का सर्वांग अभिज्ञान है। रोग की सत्ता रोगी (चिकित्स्य पुरुष) में ही होती है।

अतः यह पुरुष, जिसकी चिकित्सा की जा सके अर्थात् चिकित्सा योग्य पुरुष ही चिकित्स्य पुरुष है। चिकित्सा में रोगी का विचार आयुर्वेद की विशेषता है। आयुर्वेद का सिद्धांत है कि एक ही रोग विभिन्न पुरुषों में उनकी प्रकृति आदि के अनुसार देश-काल की विभिन्नता से विभिन्न रूप में प्रकट हो सकता है। अतः चिकित्स्य पुरुष की प्रकृति आदि पर ही चिकित्सा की व्यवस्था निर्भर करती है।

शरीर, इन्द्रिय, सत्व (मन) और आत्मा के संयोग को 'आयु' कहते हैं[1]। अतः सुख-दुख, हित-अहित, रोग-आरोग्य सब कुछ आयु के संयोग पर ही निर्भर करता है। त्रिदण्ड या त्रिपादिका के समान सत्व, आत्मा व शरीर (इन्द्रिय सहित) के संयोग पर ही प्राणी मात्र का ज्ञान व कर्म निर्भर होते हैं। इनके संयोग को ही पुरुष[2] (पुरुष) कहते हैं। वही चेतन रूप भी है। आयुर्वेद शास्त्र का अधिकरण (चिकित्सा का विषय) भी यही पुरुष है[3]। अतः प्राणियों में जो विभिन्नता देखी जाती है वह सत्व और शरीर की विविधिताओं के कारण होती है। किंतु आत्मा अपने परमस्वरूप के कारण निर्विकार और एक सा रहता है। वह सत्वगुण, भूतगुण तथा इन्द्रियों के द्वारा सब व्यवहारों को देखता है अर्थात् दृष्टा है[4]।

शुक्र व आर्तव का गर्भाशय में संयोग होने पर तत्काल ही उसमें सूक्ष्म शरीर सहित आत्मा का प्रवेश होता है। इस सूक्ष्म शरीर में आठ प्रकृति (अव्यक्त, महान्, अहंकार और पञ्चतन्मात्रायें) व पाँच सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच सूक्ष्म कर्मेन्द्रियाँ तथा एक उभयात्मक (ज्ञान-कर्मेन्द्रिय) मन, ये 11 इंद्रियाँ होती हैं। इस समुदाय में माता द्वारा पोषण जाता है। इस समुदाय को ही गर्भ कहा जाता है। यही गर्भ पञ्चमहाभूतों द्वारा वृद्ध होकर शरीर बनता है[4]। अतः शरीर के सभी अवयव-अङ्ग (दोष-धातु-मल) पञ्चमहाभूतों से ही बने

1. शारीरेन्द्रियसत्वात्मसंयोगो धारि जीवितम्। (च.सू. 1/42)
2. सत्वमात्मा शरीरं च त्रयमेतत्त्रिदण्डवत्।
लोकस्तिष्ठति संयोगात्तस्य कार्यं प्रवर्तनम्।
स पुरुषोऽभिप्रेतं तच्च तस्याधिकरणं स्मृतम्।
वेदस्यास्य तदर्थं हि वेदोऽयं संप्रकाशितः। (च.सू. 1/46-47)
3. चिकित्सकः शरीरात्मसत्वभूतगुणेन्द्रियैः।
पौरुषे कारणं त्रिषु इहोक्तं यत्तदिह हि क्रियः। (च.सू. 1/56)
4. तत्रौकस्तिकं गर्भाशयमात्मप्रकृतिविकारात्मकमूर्च्छितं 'गर्भ' इत्युच्यते।
.....'शरीरं' इति संज्ञां लभते। (सु.शा. 3/3)

Scanned with CamScanner

हैं[1]। जब आहार-विहार में कोई व्यतिक्रम होता है तो शरीरावयवों में स्थित पुरुष
या क्षय होता है जिससे उस अवयव (दोष-धातु-मल) में वृद्धि या क्षय होने से
आती है।

अतः शरीर, मन आत्मा रूपी त्रिदण्ड पुरुष ही चिकित्सा का अधिष्ठान है। यही
पुरुष चिकित्स्य है[2]।

चिकित्स्य पुरुष पर्याय

चेतन पुरुष, कर्म-पुरुष, संयोग पुरुष, स्थूल पुरुष, राशि-पुरुष, चतुर्विंशतिक पु
ये सभी एकार्थक व पर्यायवाची हैं जो एक ही अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं
चिकित्स्य पुरुष कहा जाता है।

धातु भेद से पुरुष प्रकार

धातु भेद से पुरुष निम्न तीन प्रकार के बतलाये गये हैं-

1. एक धातुज पुरुष
2. षड्धातुज पुरुष
3. चतुर्विंशति तत्वात्मक पुरुष

1. **एकधातुज पुरुष**— केवल आत्मा (चेतना धातु) को एक धातु पु
कहा गया है[3]।

"पुरि (शरीरे) शेते इति पुरुषः" अर्थात् आत्मा शरीर में रहता है इससे
कहा जाता है। आयुर्वेदीय चिकित्सा के प्रयोजन की दृष्टि से यह एक धातु पु
चिकित्स्य पुरुष नहीं हो सकता, क्योंकि रोग के अधिष्ठान तो शरीर व मन हैं। एक
पुरुष (केवल आत्मा) निर्विकार है[4]।

2. **षड्धातुज पुरुष**— पञ्चमहाभूत व आत्मा (चेतना) इन 6 के संयो
पुरुष को षड्धातुज पुरुष कहा जाता है। अतः षड्धातुज पुरुष अपने में समस्त
अधिकांश पुरुष व चिकित्स्य पुरुष को धारण करने में सक्षम है[5]। यह चतुर्विंशतिक पु
का संक्षिप्त संस्करण है।

3. **चतुर्विंशतिक पुरुष**— यह पुरुष सांख्य शास्त्र के दर्शन में वर्णि
आचार्य चरक के अनुसार अव्यक्त से महान्, महान् से अहंकार एवं अहंकार से

1. तस्मादन्येन भूतानि तदुपजन्येन चादिशेत्.....।
2. स एष कर्मपुरुषोऽभिसंज्ञितः॥ (सु.शा. 1/
3. चेतनाधातुरुत्पन्नः स्मृतः पुरुष संज्ञकः। (च.शा. 1/
4. निर्विकारः सनातनः। (च.शा. 1/
5. i) षड्धातुपुरुषाभिप्रायेण पुरुष इत्युच्यते॥ (सु.शा. 1/
ii) स्वतन्त्रमेकमव्यक्तं धातवः पुरुषः स्मृतः॥ (च.शा. 1/

वायु, तेज, जल, पृथ्वी की उत्पत्ति होती है। ये ही अष्ट प्रकृतियाँ हैं। पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्चकर्मेन्द्रियाँ, मन के सौंप अर्थ (शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध) एवं मन ये 16 विकार हैं। ये सभी (अष्टप्रकृति + षोड्श विकार) मिलकर चतुर्विंशति तत्वात्मक पुरुष का निर्माण करते हैं। इसी को राशि पुरुष या चिकित्स्य पुरुष भी कहा गया है[1]। आचार्य सुश्रुत सांख्य मतानुसार 24 तत्वों के साथ चेतना (आत्मा) को जोड़कर पञ्चविंशति पुरुष मानते हैं[2]। आयुर्वेद के लक्ष्य एवं प्रयोजन स्वास्थ्य संरक्षण व व्याधि शमन का अधिष्ठान यही कर्म पुरुष का परिवर्धित रूप है। यद्यपि पशु-पक्षी भी षड्धातुज या चतुर्विंशति धातुज होते हैं किन्तु चिकित्सा में मनुष्य सर्वोत्कृष्ट प्राणी होने के कारण ग्रहण किया गया है[3]।

आधुनिक मत से चिकित्स्य पुरुष

मानव शरीर की रचना भौतिक, जैव रसायनिक, मानसिक तथा आत्मिक तत्वों के मिश्रण से होती है। मनुष्य के शारीरिक (Biophysical), जैव रसायनिक (Biochemical) एवं मानसिक (Psychic) भावों में विकृति आने से शारीरिक व मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं। अतः आरोग्य प्राप्ति के लिए इन भावों को साम्यावस्था में लाना ही चिकित्सा का प्रयोजन है। अतः इन्हीं भावों से युक्त पुरुष चिकित्स्य पुरुष कहलाता है।

अचिकित्स्य पुरुष

हितकर वचनों को न मानने वाला, धनहीन, दरिद्र, सेवक रहित, अपने को चिकित्सक समझने वाला, क्रोधी, दूसरों की निन्दा करने वाला, अधर्म में लिप्त, जिसका बल, मांस क्षीण हो गया हो, असाध्य रोग के लक्षणों से युक्त, अरिष्ट लक्षणों से युक्त पुरुष की चिकित्सा नहीं करनी चाहिए। इनकी चिकित्सा करने से चिकित्सक को अपयश व पाप ही लगता है[4]।

काय चिकित्सा : अर्थ, परिभाषा एवं कार्य क्षेत्र

'काय चिकित्सा' का शाब्दिक अर्थ है- काय की चिकित्सा। विभिन्न आचार्यों ने इस विषय में भिन्न-भिन्न मत प्रस्तुत किए हैं। जिनमें से कुछ यहाँ वर्णित किए जा रहे हैं—

1. "कायस्यान्तराग्नेश्चिकित्सा।" (चक्रपाणि)
2. "काय चिकित्सा इति कायस्य अन्तराग्नेश्चिकित्सा।" (गंगाधर)
3. "जाठरः प्राणिनामग्निः कायः इत्यभिधीयते।
यस्तं चिकित्सेत् सौदन्तं स वै काय चिकित्सकः॥" (भोज)

1. खादीनि बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियाणि पञ्चेति.....विकारा इति संहिता: । (शा.शा. 1/63)
2. तत्र सर्व एवा चेतना एव वार्, पुरुषः चतुर्विंशतिधः, कार्यकरणसंयुक्तश्चेतयिता भवति॥ (सु.शा. 1/6)
3. तत्र पुरुषः प्रधानं, तत्त्वोपकरणसंज्ञाः, तस्मात् पुरुषोऽभिधानम्॥ (सु.शा. 1/2)
4. तद्यथा- अनवबद्धप्रलापोन्मत्तस्वप्नस्वप्नान्तरितात्मकस्य वैद्यनिन्दकस्य मूर्खस्य
लोभक्रोधभयोपहतबुद्धिस्मृतिविभ्रमसंज्ञितस्य तत्त्वाभिनिवेशिनः पापरोगिणो दुर्बलस्य (च.वि. 1/

Scanned with CamScanner

आचार्य भोज "काय" शब्द से जाठराग्नि का ग्रहण करते हैं। उनके अनुसार अग्नि के अवस्था पाक व धातु पाक (Metabolism) के विकारों की चिकित्सा "काय चिकित्सा" है। आयुर्वेद में अग्निमांद्य को सभी रोगों का मूल कहा गया है[1]। अग्निदोष से आम दोष व आमविष की उत्पत्ति होकर ही सभी रोग उत्पन्न होते हैं। अतः आत्रेय, नागार्जुन व चक्रपाणि ने भी अन्तराग्नि (जठराग्नि) की विकृति से उत्पन्न होनेवाले विकारों की चिकित्सा को ही "काय चिकित्सा" के रूप में ग्रहण किया है।

आचार्य सुश्रुत के अनुसार सम्पूर्ण शरीरगत व सम्पूर्ण शरीर पर प्रभाव डालने वाले सर्वाङ्गाश्रित रोग जैसे ज्वर, रक्तपित्त, उन्माद, अपस्मार, कुष्ठादि की व्याख्या व उनके उपशमन के उपाय चिकित्सा शास्त्र की जिस शाखा में वर्णित हों उसे "काय चिकित्सा" कहते हैं[2]।

सर्वाङ्गाश्रित लगभग 80 प्रतिशत विकार काय चिकित्सा के अंतर्गत आते हैं। अंग विकार स्थान, निदान व चिकित्सा की विशिष्टता के आधार पर काय चिकित्सा के क्षेत्र में होते हुए भी शल्य, शालाक्य, प्रसूति अथवा अगद तंत्र आदि आयुर्वेद के अन्य अंगों में वर्गीकृत कर लिए गए हैं। यथा-ग्रंथि, अर्बुद, भगन्दर, अर्श, आदि रोग शल्य तंत्र से संबंधित रोग हैं।

'काय' शब्द से सम्पूर्ण शरीर का बोध होता है एवं शरीर दोष धातु एवं मल का संघात है। अतः इनकी विकृति से उत्पन्न होने वाले सर्वाङ्ग शरीर आश्रित रोगों की चिकित्सा को "काय" चिकित्सा कहते हैं।

अतः चिकित्सा के जिस भेद के अंतर्गत सर्वाङ्ग शरीरगत ज्वरादि रोग, मानसिक रोग, सांस्थानिक रोग यथा हृदय रोग एवं अग्नि विकृति जन्य रोगों की चिकित्सा का बोध हो उसे काय चिकित्सा कहते हैं।

काय चिकित्सा का कार्य क्षेत्र एवं मौलिक घटक तत्व

आयुर्वेद के आठ अंगों में काय चिकित्सा को प्रधान अंग माना गया है। क्योंकि आयुर्वेद के अन्य अङ्ग भी किसी न किसी रूप में काय चिकित्सा पर ही आश्रित हैं। अतः आयुर्वेद का प्रधान अंग काय चिकित्सा ही है। आयुर्वेद के इस महत्वपूर्ण अंङ्ग काय चिकित्सा का भी बहुत विस्तृत कार्य क्षेत्र है। काय चिकित्सा का चिकित्सा विज्ञान के क्षेत्र में अपने मौलिक घटक तत्वों (Basic Components) के कारण विशेष स्थान है। काय चिकित्सा के कुछ महत्वपूर्ण घटक तत्वों का सूत्र रूप में यहां वर्णन किया जा रहा है-

1. (i) रोगः सर्वेऽपि सर्वदोषी मूलाग्नुपस्तिमे च॥ (अ.हृ.नि. 12/1)
(ii) कायेऽग्निरग्निरित्युक्ते, तन्त्र चिकित्सक काय चिकित्सक।
अथवा कायं देहमन्त्र चिकित्सा काय चिकित्सा॥ (सु.सू. 1/7 पर डल्हण टीका)
2. अथ काय शब्देन दोष-धातु मल संघात उच्यते, तेन काय स्थितानां ज्वरादीनां चिकित्सा काय चिकित्सा, अङ्ग [illegible]। (सु.उ. 39/2 पर डल्हण टीका)

1. चिकित्सा के चतुष्पाद
2. त्रिसूत्र आयुर्वेद
3. अग्निदोष की चिकित्सा
4. संशोधन चिकित्सा
5. मानस रोग चिकित्सा
6. संक्रामक रोग चिकित्सा
7. रसायन - वाजीकरण चिकित्सा
8. त्रय उपस्तम्भ
9. सर्वदा आतुर व्यक्ति
10. दोषों की सर्वसामान्य चिकित्सा

1. चिकित्सा के चतुष्पाद[1]

किसी भी रोग के उपचार में चिकित्सा के चारों पाद आवश्यक होते हैं जो निम्न प्रकार हैं-

i. भिषक् या चिकित्सक (Skilled & well trained physician)
ii. द्रव्य (Medicine / Drugs)
iii. उपस्थाता (Nursing Staff)
iv. रोगी (Patient)

i. **भिषक्**— चिकित्सा में सफलता के लिए चिकित्सक का योग्य एवं निपुण होना अत्यावश्यक है क्योंकि चिकित्सा के चारों पादों में चिकित्सक ही प्रमुख है। अतः उत्तम चिकित्सक में निम्न चार गुण अनिवार्य रुप से होने चाहिऐं-

1. शास्त्रों का अच्छी तरह से ज्ञान होना।
2. अनेक बार रोगी, औषध निर्माण तथा औषध प्रयोग का प्रत्यक्ष द्रष्टा होना।
3. दक्ष होना अर्थात् समय के अनुसार युक्ति की कल्पना करने में परम चतुर होना।
4. मन, वचन व कर्म से पवित्र होना।

ii. **द्रव्य (औषध)**[2]— द्रव्य (औषध) चिकित्सक के पश्चात् चिकित्सा का दूसरा प्रधान पाद है। औषध के अभाव में चिकित्सक चिकित्सा कर्म सम्पादन करने में असमर्थ रहता है। उत्तम व प्रशस्त औषध में निम्न गुण अवश्य होने चाहिऐं-

1. भिषग्द्रव्याण्युपस्थाता रोगी पादचतुष्टयम्।
गुणवत् कार्यं ज्ञेयं चिकित्सोपायसिद्धये॥ (च.सू. 9/3)
2. कुतो पर्यवदातार्थं बहुशो दृष्टकर्मणा।
दक्षं शौचयुक्तिज्ञं ज्ञेयं वैद्यं गुणयुतम्॥ (च.सू. 9/6)
3. बहूनां तत्र भैषज्यमनेकविधकल्पना।
सम्पद्यते चतुष्कोऽयं द्रव्याश्रयं गुणं उच्यते॥ (च.सू. 9/7)

Scanned with CamScanner

1. बहुलता— औषधियाँ सर्व सुलभ, अनेक गुणों से युक्त, बहुत रोगों को दूर करने वाली एवं प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होनी चाहिऐं।

2. योग्यता— औषधि व्याधि नाश में समर्थ होनी चाहिऐं।

3. अनेक विध कल्पना— एक ही औषध से स्वरस, कल्क, क्वाथ, चूर्ण, वटी, अवलेह आदि कल्पनाओं का निर्माण किया जा सके।

4. सम्पन्न— औषध अपने गंध, वर्ण, रस, गुण, वीर्य, विपाक प्रभाव आदि गुणों से युक्त हो।

औषध ग्रहण काल[1]— आचार्य चरक ने औषध ग्रहण करने के दस काल निर्धारित किये हैं जो निम्न प्रकार हैं-

(1) अभक्त, (2) मध्य भक्त, (3) पश्चात् भक्त, (4) सांयम् अधोभक्त, (5) ग्रास, (6) ग्रासान्तर, (7) मुहुर्मुहु, (8) सामुद्ग, (9) सभक्त, (10) प्राग् भक्त आदि। इनका विस्तार से वर्णन आगे किया गया है।

iii. **परिचारक (उपस्थाता)**— आतुर की सेवा करना प्रत्येक व्यक्ति के लिए सरल नहीं है। प्राकृतिक रुप से किसी किसी में ही सेवा भाव के गुण पाए जाते हैं इसलिए जो स्वाभाविक रुप से सेवा करना जानता हो उसे ही रोगी की सेवा करने के लिए नियुक्त करना चाहिए। आजकल परिचारक को शिक्षा (training) देकर Nursing Staff के रुप में विकसित किया जाता है जिससे आतुरालय के कार्य में सुविधा होती है। और कल्क, क्वाथ व अनुपान की कल्पना व इनका समय पर रोगी को सेवन कराना चिकित्सा की सफलता के लिए आवश्यक है और यह कार्य परिचारक के अधीन है। एक उत्तम परिचारक में निम्न गुण अनिवार्य रुप से होने चाहिऐं[2]—

1. उपचारज्ञता— सेवा कार्य का पूर्ण ज्ञान।
2. दाक्ष्य— अपने कार्य में दक्ष या निपुण होना।
3. अनुराग— रोगी के प्रति प्रेम-प्रीति होना।
4. शौच— आचरण में पवित्रता होना।

iv. **रोगी (आतुर)**[3]— रोगी चिकित्सा का अंतिम व महत्वपूर्ण पाद है, क्योंकि रोगी नहीं होगा तो चिकित्सा किसकी की जायेगी? अतः उत्तम रोगी में निम्न चार गुण अवश्य होने चाहिऐं-

1. पैत्तिकानां भुक्तादौ मध्ये पश्चान्मुहुर्मुहुः।
   सामुद्गं भक्तसंयुक्तं ग्रासाग्रासान्तरौ दशः॥
2. उपचारज्ञता दाक्ष्यमनुरागश्च भक्तितः।
   शौचं चेति चतुष्पादोऽयं गुणः परिचरे जये॥ (च.वि. 8/25)
3. स्मृतिर्निर्देशकरित्वमकौत्सल्यमार्तिषु च।
   ज्ञापकत्वं च रोगाणामातुरस्य गुणाः स्मृता॥ (च.सू. 9/8)

1. स्मृति सम्पन्नता— रोगी की स्मरण शक्ति अच्छी हो ताकि अपने रोग के बारे में सम्पूर्ण जानकारी दे सके।

2. निर्देशकारित्व— चिकित्सक के निर्देशों का सम्यक् रुप से पालन करनेवाला होना चाहिए।

3. अभीरु— रोगी को निडर एवं उत्तम सत्व गुण युक्त होना चाहिए।

4. ज्ञापक— रोग व उसके उपद्रवों को अच्छी तरह से बता सके।

2. त्रिसूत्र आयुर्वेद

स्वस्थ एवं आतुरों (रोगियों) के लिए उत्तम मार्ग बताने वाला, हेतु (निदान), लिङ्ग (लक्षण) और औषध का शाश्वत ज्ञान कराने वाला त्रिसूत्र आयुर्वेद है[1]। इसे "**त्रिस्कन्ध**" भी कहा जाता है। किसी भी रोग का हेतु, लक्षण एवं उसके उपस्थापार्य औषध का ज्ञान चिकित्सा का महत्वपूर्ण अंङ्ग है।

(i) **हेतु सूत्र**— किसी भी व्याधि की उत्पति में प्रधान हेतु (निदान) काल इंद्रियार्थ एवं कर्म का हीन-मिथ्या-अति योग, प्रज्ञापराध व परिणाम है[2]।

(ii) **लिङ्ग सूत्र**— किसी भी व्याधि के पूर्वरुप, रुप, उपशय, अनुपशय एवं सम्प्राप्ति, ये लिङ्ग सूत्र कहलाते हैं। "रोगस्तु दोषवैषम्यं दोषसाम्यमारोगता॥" दोषों का विषम होना ही रोग है, यही व्याधि का लिङ्ग है।

(iii) **औषध सूत्र**— द्रव्य को औषध कहा जाता है। औषध से पथ्यापथ्य व चिकित्सा दोनों का ग्रहण होता है। किसी भी रोग के प्रतिकार के लिए औषध का प्रयोग किया जाता है। ये औषध भी दोषों को शांत करने वाली, धातुओं को दूषित करने वाली तथा स्वस्थवृत्त में हितकारी होती है[3]—

संक्षेप में त्रिसूत्र आयुर्वेद को निम्न तालिका में दर्शाया जा रहा है-

त्रिसूत्र आयुर्वेद

1. हेतु सूत्र → काल-हीन/मिथ्या/अतियोग
   → इंद्रियार्थ-हीन/मिथ्या/अतियोग
   → कर्म-हीन/मिथ्या/अतियोग

1. हेतुलिङ्गौषधज्ञानं स्वस्थातुरपरायणम्।
   त्रिसूत्रं शाश्वतं पुण्यं बुबुधे यं पितामहः॥ (च.सू. 1/24)
2. इत्यसंख्येयविषयाणां संयोगः, प्रज्ञापराधः परिणामश्चेति त्रयोविंशतिविधविकल्पा हेतवो-विकल्पज्ञाः, समयोगपुनरस्य प्रकृतिहेतवो भवन्ति॥ (च.सू. 11/43)
3. किंचिद्दोषप्रशमनं किंचिद्धातुप्रदूषणम्।
   स्वास्थ्यवृत्तौ मतं किंचिच्चतुर्विधं द्रव्यमुच्यते॥ (च.सू. 1/68)

Scanned with CamScanner

2. लिङ्ग सूत्र → पूर्व रूप, रूप, उपशय, अनुपशय, सम्प्राप्ति
→ शारीरिक-वात-पित्त-कफदोष
→ मानसिक-रज, तम दोष

3. औषध सूत्र → दोष शामक, दोष प्रकोपक, स्वस्थ हितकर

3. अग्नि की चिकित्सा

'काय' का अर्थ जठराग्नि किया गया है तथा विकृत जठराग्नि की चिकित्सा को "कायचिकित्सा" कहा है। आयुर्वेद में अग्नि को जीवन' की स्थिति का मूल माना गया है। आयु, बल, वर्ण, स्वास्थ्य, उत्साह, शरीर संवर्धन, प्रभा, ओज, देहाग्नि एवं प्राण की स्थिति का मूल कारण जठराग्नि का सम्यक् व्यापार है। जठराग्नि सभी अग्नियों में प्रधान है। इसके शान्त (नष्ट) होने पर प्राणी की मृत्यु हो जाती है एवं विकृत होने पर पुरुष रोगों से ग्रस्त हो जाता है।

सामान्य रूप से सभी रोगों का मूल कारण मन्दाग्नि माना गया है। अतः कायचिकित्सा के अन्तर्गत अग्नि विकृति जन्य समस्त रोग यथा-ज्वर, उदररोग, ग्रहणी दोष, अतिसार, विसूचिका, अलसक एवं विलम्बिका आदि रोगों का समावेश कर इनकी चिकित्सा की जाती है।

13 अग्नियाँ निम्न प्रकार की बताई गयी हैं-

(i) 1 जठराग्नि (अन्तराग्नि या कोष्ठाग्नि)

(ii) 5 भूताग्नियाँ[1]

(iii) 7 धात्वग्नियाँ[2]

1. आयुर्वर्णबलं स्वास्थ्यमुत्साहोपचयौ प्रभा।
ओजस्तेजोऽग्नयः प्राणाश्चोक्ता देहाग्निहेतुकाः॥
शान्तेऽग्नौ म्रियते, युक्ते चिरं जीवत्यनामयः।
रोगी स्याद्विकृते मूलमग्निस्तस्मात्तदुच्यते॥ (च.चि. 15/3-4)
2. पञ्चाप्यन्येवमग्नयः पञ्चभूताश्रयाः शरीरधातवः॥ (च.चि. 15/9)
3. सर्वाग्नीनपहाय हेतवो द्विगुणं पुनः।
यकृत्प्लीहानमेवाशु पाकं यान्ति विदूषणात्॥ (च.चि. 15/10)

इन सभी में जठराग्नि प्रधान है। इन अग्नियों के कार्यों में मन्दता आ जाने से विभिन्न रोग उत्पन्न होते हैं। जठराग्नि की विकृति को निम्न 3 भागों में विभक्त किया गया है[1]—

1. **मन्दाग्नि**—यह अग्नि उचित मात्रा में सेवन किये गये आहार को भी नहीं पचा पाती है। कफ दोष की प्रधानता के कारण मन्दाग्नि उत्पन्न होती है।
2. **तीक्ष्णाग्नि**—इस प्रकार की अग्नि गुरु व अधिक मात्रा में किये गये आहार को भी शीघ्रता से पचा डालती है। आहार न मिलने की स्थिति में दोष को, दोष के बाद धातुओं को एवं अन्त में प्राणों को पचा डालती है। पित्त दोष की प्रधानता के कारण तीक्ष्णाग्नि (भस्मक) जैसे रोग उत्पन्न होते हैं।
3. **विषमाग्नि**—अपथ्य सेवन से अग्नि विषम हो जाती है। विषमाग्नि ग्रहण किये गये (भुक्त) आहार को कभी ठीक से पचा देती है और कभी ठीक प्रकार से नहीं पचा पाती। विषमाग्नि में वातदोष की प्रधानता होती है।

प्राकृत अग्नि [समाग्नि]

इस अवस्था में अग्नि सम प्रमाण में रहते हुये उचित मात्रा में ग्रहण किये गये आहार को उचित समय पर भली-भाँती पचा देती है। समाग्नि की स्थिति स्वस्थ पुरुष में होती है।

अग्नि दुष्टि के प्रधान हेतु

आचार्य चरक ने अग्नि दुष्टि के कारणों का विस्तृत वर्णन किया है। भोजन न करने से, अजीर्णावस्था में भोजन करने से, अतिमात्रा में भोजन करने से, कभी ज्यादा-कभी कम व कभी समय पर कभी असमय पर (विषमासन) भोजन करने से, असात्म्य (प्रकृति विपरीत) भोजन से, गुरु-शीत-अत्यन्त रुक्ष-दूषित आहार सेवन से, विरेचन-वमन-स्नेहपान के विभ्रम से, दीर्घकाल तक रोग ग्रस्त रहने से (व्याधिकर्षण) उत्पन्न कृशता से, देश-काल व ऋतु की विषमता से, मल-मूत्र आदि के वेगों को रोकने से दुष्ट हुई जठराग्नि ग्रहण किये गये लघु अन्न को भी उचित रूप से नहीं पचा पाती है। यह अपचित अन्न शुक्त (विष) बन जाता है[2]।

आचार्य सुश्रुत के अनुसार विषमासन से, अति जलपान से, वेगावरोध से, स्वप्न या निद्रा विपर्यय (दिन में सोना, रात में जागना) से, उचित व लघु भोजन भी ठीक प्रकार से

1. i) अग्निषु तु शरीरेषु पञ्चविधो विशेषो बलभेदेन भवति। तद्यथा-तीक्ष्णो, मन्दः, समो, विषमश्चेति।
तत्र .....
..... भवत्यल्पायुषः॥ (च.चि. 6/12)
ii) विषमोऽग्नस्तु वैषम्यं कोपेति विषमं पचन्।
दुर्बलो विदहत्यन्नं तदामपूर्वमथोऽपि वा॥ (च.चि. 15/50-51)
2. अध्यशनकदशनेऽतिमात्राहारविषमाशनवत्।
असात्म्यगुरुशीतरूक्षाध्यशनदुष्टभोजनवत्॥
अपचस्यान्नं शुक्तत्वं याति तच्च विषदोषताम्। (च.चि. 15/42-44)

Scanned with CamScanner

जीर्ण (पाक) नहीं होता। इसी प्रकार ईर्ष्या, भय, क्रोध, लालची, शोकग्रस्त व दीनता से युक्त मन वाले पुरुष का भी अन्न भली-भाँति नहीं पचता[1]।

अग्नि की विकृति होने पर जब जठराग्नि मन्द हो जाती है तब अजीर्ण होता है। भोजन की अपरिपक्वावस्था ही अजीर्ण है। अजीर्ण का उचित उपचार न होने पर अलसक, विलम्बिका, विसूचिका, अतिसार, ग्रहणी दोष, अम्लपित्त, शिरःशूल, भ्रमः, ज्वर, प्रमेहिका, अरोचक, यक्ष्मा, पीनस आदि रोग उत्पन्न हो सकते हैं। अजीर्ण के दोषानुसार विभिन्न भेद बताये गये हैं[2]—

1. **आमाजीर्ण**—कफ की अधिकता से जब अन्न में मधुरता उत्पन्न हो जाती है तब उसका नाम 'आमाजीर्ण' होता है। इसमें पाचक रसों का स्राव कम हो जाता है तथा कफ के मिश्रण हो जाने से पाचक रसों की कार्य क्षमता भी कम हो जाती है, परिणामतः अन्न का परिपाक ठीक से नहीं हो पाता। इसमें 'लंघन' कराने से लाभ होता है। इस अजीर्ण से यक्ष्मा, पीनस व प्रमेह रोग उत्पन्न हो सकते हैं।
2. **विदग्धाजीर्ण**—जब पित्त दोष के कारण पाचक रसों का स्राव बढ़ जाता है तथा भुक्त आहार कुछ पक्व व कुछ अपक्व रहता है तब रोगी में अम्लपित्त, भ्रम, दाह, तृष्णा, मुखरोग, मूर्च्छा व पित्तज रोग उत्पन्न हो सकते हैं। इस अजीर्ण में 'वमन' कर्म ही मुख्य चिकित्सा है।
3. **विष्टब्धाजीर्ण**—वृद्ध वायु दोष के कारण जब पाचक रसों का स्राव अल्प व अल्पवीर्यित होने से भुक्त अन्न का सम्यक् परिपाक सही समय पर नहीं हो पाता है, परिणाम स्वरूप उदरशूल, आनाह, आध्मान, प्रवाहण (Tenesmus), उदावर्त व वातज रोगों की उत्पत्ति होती है। इसकी चिकित्सा में 'स्वेदन' कर्म कराना चाहिये।
4. **रसशेषाजीर्ण**—कुछ आचार्य आहार के परिपाक से शेष बचे रस का परिपचन के कारण उत्पन्न चौथे प्रकार का अजीर्ण भी मानते हैं। इससे शुद्ध

1. अन्नमुक्तमदुष्टत्वात्तद्धि संधारणं स्मृतम्। (सु.सू. 46/500-501)
कालेऽपि सम्यक् लघु चापि पुरुषमदं न पाकं भजते नरस्य।
ईर्ष्याभयक्रोधपरिप्लुतेन लुब्धेन दुष्टेन्द्रियचेतसेह।
भोक्तुश्च तन्नोपयुक्तं न सम्यगन्नं न हि तज्जरां परिणमयति॥
2. क) अजीर्णं विद्यात् त्रिविधं तस्य वक्ष्यामि लक्षणम्। (सु.सू. 46/499)
आमं विदग्धं विष्टब्धं चतुर्थं रसशेषतः॥
ख) चतुर्थमन्नं रसशेषजं हि विदुर्विदग्धं पुनरम्लपित्तम्। (सु.सू. 46/502)
विष्टब्धमन्नं पुनरुक्तमुक्तं विष्टम्भसंज्ञं पवनप्रकोपात्॥
ग) तत्रैके लङ्घनं कर्म विदग्धे वमनं हितम्। (सु.सू. 46/505)
विष्टब्धं स्वेदनं कर्म रसशेषे तथैव च॥

उद्गार आने पर भी भोजन अनिच्छा, हृद गुरुता, मुख से लालास्राव आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसकी चिकित्सा में 'शयन' कराना बताया है[1]।

5. **दिनपाकी अजीर्ण**[2]—सामान्यतः भोजन का पूर्ण परिपाक काल 24 या 26 घण्टे है। यदि अधिक मात्रा में अम्लान्न या असमय भोजन किया जाता है तो परिपाक उक्त निश्चित समय में न होकर अगले दिन होता है, इसे दिनपाकी अजीर्ण कहते हैं। अधिक समय में पचने पर दिन पाकी अजीर्ण आध्मान आदि उपद्रवों को नहीं करता, अतः उपर्युक्त बातों से भिन्न है। पाचन काल तक प्रतीक्षा करना तथा भोजन न करना इसकी चिकित्सा है।
6. **प्राकृत अजीर्ण**—यह प्रतिदिन प्रतिव्यक्ति को रहता है। भोजन करने के पश्चात् परिपाक की निश्चित अवधि से पूर्व अन्न अपरिपक्व ही रहता है और अपक्व आहार को ही अजीर्ण कहते हैं। विकार उत्पन्न न करने के कारण यह अजीर्ण 'प्राकृत अजीर्ण' कहलाता है। यह स्वाभाविक है। भोजनोपरान्त वाम पार्श्व में सोने से यह ठीक रहता है।

4. संशोधन चिकित्सा

संशोधन चिकित्सा आयुर्वेदीय कायचिकित्सा का विशिष्ट व प्रधान अंग है। संशोधन चिकित्सा के अन्तर्गत पंचकर्म का समावेश किया गया है[3]। संशोधन (पंचकर्म) द्वारा दोषों का समूल निहरण हो जाता है तथा उनकी पुनः उत्पत्ति नहीं होती है जबकि लंघन-पाचन आदि शमन द्वारा जीते गये दोष व रोग के पुनः उत्पन्न होने की संभावनायें रहती हैं[4]।

सम्पूर्ण पंचकर्म को निम्नानुसार प्रदर्शित कर सकते हैं—

पंचकर्म (संशोधन चिकित्सा)

पूर्वकर्म	प्रधानकर्म	पश्चातकर्म
1. पाचन	1. वमन	1. संसर्जन क्रम
2. स्नेहन	2. विरेचन	2. परिहार काल

1. उद्गाशुद्धावपि भक्ताश्रद्धा न जायते हृदयगुरुता च यस्य। (सु.सू. 46/503)
रसावशेषेण तु रोगसेकं चतुर्थमेतत् प्रवदन्त्यजीर्णम्॥
2. अजीर्णं चान्यदेवेच्छन्तिदोषं दिनपाकि च। (मा.नि. 6/6)
वदन्ति यद्यु चाजीर्णं प्राकृतं प्रतिवासरम्॥
3. वमनं रेचनं चास्य निरूहश्चानुवासनम्। (शा.सं.उ. ख. 8/63)
एतानि पञ्च कर्माणि कथितानि मुनीश्वरैः॥
4. दोषाः कदाचित् कुप्यन्ति जिता लङ्घनपाचनैः। (च.सू. 16/20)
जिताः संशोधनैर्ये तु न तेषां पुनरुद्भवः॥

Scanned with CamScanner

3. स्वेदन	3. आस्थापन वस्ति	3. रसायन सेवन	
	4. अनुवासन वस्ति	4. शमन चिकित्सा	
	5. नस्य कर्म		

दोषों का कोष्ठ से शाखा गमन[1]

अत्यधिक व्यायाम करने से, उष्मा तीक्ष्णता से, अहितकर आहार-विहार का सेवन करने से और वायु की अतिशीघ्र गति से दोष कोष्ठ को छोड़कर शाखा (रस, रक्त, धातुओं) में चले जाते हैं एवं अनुकूल परिस्थिति पाकर रोग उत्पन्न करते हैं। अतः रोग के शमनार्थ व दोष के निर्हरणार्थ दोषों को यथास्थान (कोष्ठ) में लाना एवं निकटतम द्वार (मुख, गुदा, नासा) से बाहर निकाल देना ही चिकित्सा का एक मुख्य सिद्धान्त है।

दोषों को शाखा से कोष्ठ में लाना[2]

दोषों को शाखा से कोष्ठ में लाने के लिये निम्न 5 प्रक्रियायें सहायक होती हैं-

1. दोषों की वृद्धि करना
2. दोषों का विलय करना
3. दोषों का पाक करना
4. स्रोतों का मुख शोधन करना
5. वायु का नियन्त्रण करना।

ये सभी प्रक्रियायें पंचकर्म (पूर्वकर्म-स्नेहन, स्वेदन) द्वारा सम्पादित की जाती हैं। स्नेहन से दोषों का विलयन, मृदुता व जलीयांश की वृद्धि होती है। स्वेदन से दोषों का पाक होता है तथा स्रोतों से चिपके दोषों के स्थान छोड़ने से स्रोतसों के मुख खुल जाते हैं। वमन, विरेचन, वस्ति (निरूह) व नस्यकर्म (शिरोविरेचन) के माध्यम से दोष निकटतम मार्ग से बाहर निकाले जाते हैं।

आचार्य चरक ने निर्देश दिया है कि दोषों के उपस्थित (उत्क्लिष्ट) होने पर स्नेहन, स्वेदन कराकर मात्रा व काल का विचार करते हुये पंचकर्म कराना चाहिये[3]। उपस्थित रोग वह है जो स्वयं बाहर निकलने के लिये चलायमान हो। यदि दोष स्वयं उपस्थित न हों तो पूर्वकर्म (स्नेहन-स्वेदन) द्वारा उनको बहिर्मुख कर शोधन (पंचकर्म) का प्रयोग करना चाहिये। कुछ आचार्यों के विचार से यदि दोष स्वयं उपस्थित हो तो स्नेहन-स्वेदन करने

1. व्यायामोष्णतीक्ष्णत्वादहितस्यासेवनादपि।
कोष्ठादाशु गतत्वाच्च दुष्टवाय्वातवेन च॥
दोषलक्षणं विलम्बते कदाचित् समुदीरिताः।
तादृक्काले कुप्यन्ति भूयो हेतुप्रतीक्षिणः॥ (च.सू. 28/31-32)
2. वृद्धस्य विस्रंसनात् पाकात् स्रोतोमुखविशोधनात्॥
शाखा मुक्त्वा मलाः कोष्ठं यान्ति कायोऽयं निर्व्रणः॥ (च.सू. 28/33)
3. तत्पूर्वमतदोषाणां स्नेहस्वेदोपपादनैः।
पक्व कर्माणि कुर्वीत मात्राकालौ विचारयन्॥ (च.सू. 2/15)

आवश्यक नहीं है[1]। आचार्य चरक ने अतिगत विकारों में सम्पूर्ण पंचकर्म कराने का निर्देश दिया है[2]। प्राणाभिसर रोग के लक्षणों में इसका पंचकर्म में दक्ष होने की ओर संकेत किया गया है[3]। चरक संहिता के सिद्धि स्थान में पंचकर्म का सविस्तार वर्णन किया गया है। आचार्य सुश्रुत तथा वाग्भट् ने भी पंचकर्म में उपयोगी द्रव्यों का संग्रह व उनके नियमों का सविस्तार वर्णन किया है।

संशोधन से लाभ[4]

1. कोष्ठ शुद्ध होना
2. जठराग्नि प्रदीप्त होना
3. रोगों का शमन होकर स्वास्थ्य लाभ होना
4. इन्द्रिय, मन, बुद्धि एवं वर्ण निर्मल होना
5. बल की वृद्धि होना
6. संतानोत्पत्ति की क्षमता बढ़ना व शरीर पुष्ट होना
7. शुक्रधातु वृद्ध होकर पौरुष शक्ति बढ़ना
8. वृद्धावस्था देर से आना
9. रोगमुक्त दीर्घ जीवन प्राप्त होना
10. दूषित वात-पित्त-कफ-मूत्र-पुरीष का दोषरहित होना
11. रसायन व वाजीकरण प्रयोग से सम्यक् फल प्राप्ति

पंचकर्म का विस्तृत वर्णन कायचिकित्सा चतुर्थ भाग में किया गया है।

5. मानस रोग चिकित्सा

शरीर एवं मन ये दोनों रोग (दुःख) व सुख के आश्रय स्थल हैं[5]। मन का व्याधिग्रस्त होना अनुमान द्वारा निश्चित किया जाता है, यद्यपि शारीरिक रोग कालान्तर में मानसिक एवं मानसिक रोग शारीरिक रोगों में परिवर्तित हो जाते हैं। जिन रोगों का प्रभाव पहले मन पर पड़ता है उन्हें 'मानस रोग' कहते हैं। रज एवं तम को मानसिक दोष कहा गया है[6]। सत्व अविकारी व प्रकाशक होने से दोष की श्रेणी में नहीं आता।

1. यत्कायाग्न्यनुविक्षोभ्य दोषानाशयसंस्थितान्।
मुञ्चत्यरुक्करान् काले मन्यानां यत्नवेगिनः॥ (च.चि. 3/146-147)
2. अस्थानां व्याधीनां पञ्चकर्माणि पैचयत्। (च.सू. 28/4)
3. तथा त्रिधा हि केवले शरीरे ज्ञाने.....।
..... सम्यगवलाकतस्तत्रते व्यवस्यत्यरोगः॥ (च.सू. 29/7)
4. एवं विशुद्धकोष्ठाय कायाग्निाभिवर्धते।
.....।
तस्मात् संशोधनं काले कुर्वीत पुरुषं भिषक्॥ (च.सू. 16/17-19)
5. शरीरं सत्वसंज्ञं च व्याधीनामाश्रयौ मतः। (च.सू. 1/55)
6. मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च॥ (च.सू. 1/57)

Scanned with CamScanner

मानस दोष रज व तम को दूषित करने में निम्न तीन प्रमुख कारण होते हैं[1]—

1. असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग
2. प्रज्ञापराध
3. परिणाम या काल

मानस रोगों के जनक अन्य कारण भी हैं, यथा-इच्छित वस्तु का न मिलना तथा अनिच्छित (अवांछित) वस्तु का प्राप्त होना।

मानस रोगों की चिकित्सा में धर्म, अर्थ एवं काम का सामंजस्य स्थापित कर सबका समुचित उपभोग करना चाहिये[2]। त्रिविध चिकित्सा में 'सत्वाजय' चिकित्सा मुख्यतः मानस रोगों में ही प्रयुक्त की जाती है। मन को अहितकर विषयों से हटाना ही सत्वावजय चिकित्सा है। इसके अतिरिक्त आचार्यों ने मानस रोगों की चिकित्सा में पञ्चकर्म चिकित्सा (संशोधन) व संशमन चिकित्सा का भी वर्णन किया है। आचार्य चरक ने ज्ञान, विज्ञान, धैर्य, स्मृति व समाधि द्वारा मानस रोगों की शान्ति करने का विधान बताया है[3]।

इस प्रकार मानस रोगों की चिकित्सा का अन्तर्भाव भी कायचिकित्सा के अन्तर्गत ही समाहित है।

6. संक्रामक रोग (जनपदोध्वंस) चिकित्सा[4]

प्रकृति आदि भावों के भिन्न होते हुये भी मनुष्यों के अन्य सामान्य भाव यथा-वायु, जल, देश एवं काल के विकृत होने पर एक ही समय में, एक समान लक्षणों वाले रोग उत्पन्न होकर जनसमूह को नष्ट कर देते हैं, इस प्रकार के रोग जनपदोध्वंस या संक्रामक रोग (Epidemics) कहलाते हैं। प्राचीन समय में युद्ध के समय खाद्य-पेय पदार्थ (जलादि) में विष का प्रयोग तथा विषैली गैस, चूर्ण, तैल आदि के छिड़काव द्वारा वायु एवं भूमण्डल को दूषित करके सामूहिक नरसंहार (जनसंहार) किया जाता था। वर्तमान समय में भी प्रयुक्त कार्बन मोनो आक्साइड, क्लोरोफ्लोरो कार्बन, अश्रु गैस, क्लोरीन, मिथाइल आइसो-साइनाइड (MIC) आदि जहरीली गैसों का प्रयोग भी विनाशकारी होता है। बहुत सी व्याधियाँ यथा-विसूचिका, अतिसार, आन्त्रिक ज्वर, नेत्राभिष्यन्द, कुष्ठ रोग, ज्वर, प्लेग, डेंगू, यक्ष्मा, डिप्थीरिया, सार्स, श्लीपद, मूषिकदंश ज्वर, धनुर्वात आदि में जीवाणुओं के त्वचा या अन्य माध्यमों से शरीर में संक्रमण होने पर विभिन्न अवयवों की व्याधियां उत्पन्न हो सकती हैं एवं बहुत ही तीव्रता से संक्रामक रोगों के रूप में जनसामान्य में फैल सकती हैं।

1. तत्र खल्वेषां द्वयमपि दोषाणां त्रिविधं प्रकोपणम्।
तद्यथा-असात्म्येन्द्रियार्थसंयोगः, प्रज्ञापराधः, परिणामश्चेति॥ (च.वि. 6/6)
2. मानसं प्रति चैवैनं विद्यात्सम्यक्चतुर्विधम्। इष्टस्यैव विज्ञानत्यागादीनां च सर्वशः॥ (च.सू. 11/47)
3. मानसो ज्ञानविज्ञानधैर्य स्मृति समाधिभिः॥ (च.सू. 1/58)
4. ते खल्विमे भावाः सामान्या जनपदेषु भवन्ति; तद्यथा-वायुः, उदकं, देशः, काल इति॥ (च.वि. 3/6)

संक्रामक रोगों की चिकित्सा में निम्न दो तरह के उपाय किये जाते हैं—

(1) अनागतबाधा प्रतिषेध या स्वस्थस्योर्जस्कर या प्रतिषेधात्मक चिकित्सा (Prophylactic treatment)

(2) आगतबाधा प्रतिषेध या आतुरस्य रोगनुत चिकित्सा या आपत्स्थिक चिकित्सा (Symptomatic treatment)

अनागतबाधा प्रतिषेध चिकित्सा में दैवव्यपाश्रय चिकित्सा यथा मन्त्र-मणिधारण, बलि, उपहार, यज्ञ, हवन आदि का प्रयोग एवं रसायन चिकित्सा, स्वस्थवृत्त, सद्वृत्त आदि का प्रयोग आरोग्य लाभ दिलाता है।

आगतबाधा प्रतिषेध चिकित्सा में रोग के लक्षण उत्पन्न होने पर दोष के संशोधनार्थ पंचकर्म चिकित्सा एवं संशमन चिकित्सा प्रयुक्त की जाती है[1]। इसमें युक्तिव्यपाश्रय, दैवव्यपाश्रय व सत्वावजय चिकित्सा का समावेश है। रोग प्रतिरोधक क्षमता बढ़ाने के लिये रसायन द्रव्यों (Immunomodulators) का प्रयोग भी किया जाता है। इसके अतिरिक्त आचार्य चरक ने जनपदोध्वंस से बचने के निम्न उपाय बताये हैं[2]—

1. सत्य वचन बोलना एवं सद्व्यवहार करना।
2. प्राणिमात्र के प्रति जीवदया का भाव रखना।
3. देवताओं की पूजा करना व बलि देना।
4. दान करना।
5. सद्वृत्त व सदाचार का पालन करना।
6. ब्रह्मचर्य का पालन करना।
7. धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र की चर्चा करना।
8. ऋषि, मुनि, महर्षि, जितेन्द्रिय पुरुष की सेवा करना।
9. आचार रसायन का सेवन करना।

7. रसायन-वाजीकरण चिकित्सा

आयुर्वेद के प्रथम प्रयोजन 'स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणम्' की पूर्ति के लिये आचार्य चरक ने विविध रोगों की चिकित्सा देने के पूर्व रसायन-वाजीकरण (स्वस्थस्योर्जस्कर चिकित्सा) का उल्लेख किया है[3]। रसायन चिकित्सा का प्रयोग स्वस्थ व्यक्ति में स्वास्थ्य की रक्षार्थ एवं रोगी के रोग के उपचारार्थ प्रयोग किया जाता है। वाजीकरण का प्रयोग पुरुषों में प्रधान रूप से मैथुन शक्ति वृद्धि के लिये एवं उत्तम सन्तानोत्पत्ति (सुवहुप्रजः) की कामना से किया जाता है। आचार्यों ने रसायन-वाजीकरण सेवन से संशोधन (पंचकर्म) व संसर्जन के पश्चात अग्नि प्रदीप्त होने पर ही सेवन करने का निर्

1. कर्म पञ्चविधं तेषां भेषजं परमुच्यते॥ (च.वि. 3/13-
रसायनानां विधिवद्व्यापदः प्रशस्यते॥
2. सत्यं भूते.....। (च.वि. 3/15-
.....सुदारुणे॥ (च.वि.
3. स्वस्थस्योर्जस्करं यत्तु तद् यूयं तद्वदामहम्॥

Scanned with CamScanner

दिया है। रसायन-वाजीकरण का विस्ततः वर्णन कायचिकित्सा चतुर्थ भाग में किया गया है।

8. त्रय उपस्तम्भ[1]

आहार, निद्रा व ब्रह्मचर्य-ये स्वास्थ्य के तीन उपस्तम्भ बताये गये हैं। उपर्युक्त तीनों उपस्तम्भ स्वस्थ व्यक्ति व आतुर के लिये अति महत्वपूर्ण हैं। ये तीन जीवन के आधार हैं एवं इनका जीवन पर्यन्त सतत् पालन करना आवश्यक है। ये स्वस्थवृत्त के प्रमुख आलम्बन तो हैं ही साथ ही आतुर परिचर्या में इनको यथोचित पालना आवश्यक है।

9. सर्वदा आतुर व्यक्ति[2]

आचार्य चरक ने श्रोत्रिय (वेद पाठी-अध्ययनरत), राजसेवक, गणिका तथा वैद्य को सदा रोगी बताया है। यहां आचार्य यह कहना चाहते हैं कि ये व्यक्ति स्वस्थ में नहीं रह पाते क्योंकि इन्हें अन्य लोगों के लिये सदा तत्पर रहना पड़ता है जिससे ये स्वयं आचार रसायन एवं स्वस्थवृत्त का पालन नहीं कर पाते। वस्तुतः ये चारों ही व्यक्ति शारीरिक या मानसिक रूप से सदा अस्वस्थ रहते हैं। इस प्रकार के व्यक्तियों के लिए स्वास्थ्य संवर्धक उपाय किए जाने अत्यावश्यक हैं।

10. दोषों की सर्वसामान्य चिकित्सा

दोषों की सामान्य चिकित्सा के लिये आचार्य वाग्भट्ट ने पृथक-पृथक दोषों के लिये पृथक-पृथक व्यवस्था वर्णित की है[3]। शोधन औषध क्रम से वात हेतु वस्ति, पित्त के लिये विरेचन एवं कफ के लिये वमन कर्म उत्कृष्ट हैं। आचार्य[4] चरक ने वात दोष के शमन के लिये तैलौषध, पित्त दोष के लिये घृत तथा कफ दोष के लिये मधु प्रधान शमन औषध प्रयोग करने का विधान बताया है।

काय चिकित्सा का सामंजस्य आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में वर्णित Internal Medicine से स्थापित किया जा सकता है जिसके अन्तर्गत विभिन्न रोगों की चिकित्सा करने का निर्देश आचार्यों द्वारा किया गया है।

आयुर्वेदीय काय चिकित्सा का चिकित्सा क्षेत्र में विशिष्ट योगदान

आयुर्वेदीय काय चिकित्सा विश्व की अन्य चिकित्सा पद्धतियों व आयुर्वेद के अन्य अंगों में विशिष्ट है। इसकी निम्न मौलिक विशेषतायें हैं जिनके कारण यह आधुनिक चिकित्सा विज्ञान एवं अन्य चिकित्सा पद्धतियों से पृथक् व विशिष्ट है-

1. त्रय उपस्तम्भाः इत्याहारः स्वप्नो, ब्रह्मचर्यमिति। एभिस्त्रिभिर्युक्ति पुरुषैरुपस्तब्धमुपस्तब्धैः; शरीरं बल वर्णोपचयोपचितमनुवर्तते स्वस्थमातुरं वा संधारणं संधारणमहितसेवनमनुसेवमानस्य, य इहैवोपदेक्ष्यते॥ (च.सू. 11/35)
2. अथर्गणिकाः स्वस्थवृत्तमाकाङ्क्षन्ति हिते च प्रवर्तमानाः सदा। सदा हि परेषां सेविषणमेवमादिभिश्चैव वैद्यक शास्त्र पथ्यापथ्यविधिः॥ (च.सि. 11/37)
3. शारीरकाणां दोषाणां क्रमेण शोधनौषधम्। वस्तिर्विरेकः शमनं तथा तैलं घृतं मधु॥ (अ.हृ.सू. 1/25)
4. मधु श्लेष्मापहन्त्यग्र्यं, सर्पिर्वातपित्तहरं परं, तैलं वातहरं स्नेहाभ्यङ्गसेकाभ्यङ्गबस्तिषु, वसा मज्जा च संग्रहणी, विरेचनं पित्तहरणं, वस्तिर्वातहरः परम्॥ (च.सू. 25/40)

1. दोष परक चिकित्सा

एक ही व्याधि में दोष की प्रधानता के अनुसार चिकित्सा सिद्धान्त भिन्न हो जाता है। यथा—वातिक कास व कफज कास की चिकित्सा में भिन्नता है। उदाहरणार्थ शुष्क कास में सितोपलादि चूर्ण तथा आर्द्रकास में तालीसादि चूर्ण का, मांस अन्तपित्त में सूक्ष्मोक्षर रस का तथा निराम अन्तपित्त में कामदुधारस का प्रयोग सफलता पूर्वक किया जाता है।

2. व्यक्ति परक चिकित्सा[1]

आयुर्वेदीय सिद्धान्तों के अनुसार चिकित्सा की दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति उसी रोग से पीड़ित अन्य व्यक्तियों से पूर्णतः भिन्न है। अतः एक ही औषध रोग विशेष के अनेक रोगियों में समान लाभकारी नहीं हो सकती। प्रकृति-विकृति, वय, देश, काल आदि प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न होते हैं। उसी के अनुसार एक ही रोग की चिकित्सा भिन्न-भिन्न रोगियों में अलग-अलग ढंग से करने का विधान है। आचार्य चरक ने कहा भी है कि वही चिकित्सक श्रेष्ठ होता है जो प्रति पुरुष अलग-अलग औषध योगों की कल्पना करता है।

3. निदान परिवर्जन चिकित्सा[2]

जिन निदानों के सेवन से रोग उत्पन्न होता है सर्वप्रथम उन्हीं निदानों का परित्याग करना ही चिकित्सा है। जब तक रोग के कारण का परित्याग नहीं किया जायेगा, तब तक रोग मूलरूप से नष्ट नहीं होगा। इसलिये प्रत्येक रोग के संशोधन, संशमन उपचार के साथ निदान परिवर्जन का भी वर्णन किया गया है[3] जो कि चिकित्सा की सफलता के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

4. रोग रोगी परीक्षा[4]

किसी भी रोगी की चिकित्सा के पूर्व रोग परीक्षा पंच निदानों (निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय, सम्प्राप्ति) के द्वारा तथा रोगी परीक्षा, दशविधपरीक्षा (प्रकृति-विकृति-सार-संहनन-प्रमाण-सात्म्य-सत्व-व्यायामशक्ति, आहार शक्ति-वय) के द्वारा करने के पश्चात् ही रोग-विनिश्चय कर चिकित्सा कर्म सम्पादन के लिये औषध का निर्धारण किया जाता है।

1. योगमांस तु यो विद्याद् देशकालोपपादितम्।
पुरुषं पुरुषं वीक्ष्य स ज्ञेयो भिषगुत्तमः॥ (च.सू. 1/124)
2. संक्षेपतः क्रियायोगो निदान परिवर्जनम्। (सु.उ.त. 1/25)
3. संशोधनं संशमनं निदानस्य च वर्जनम्।
एतावद्भिषजा कार्यं रोगे रोगे यथाविधि॥ (च.वि. 7/30)
4. योगीव चिकित्सा हि देशादीन्पेक्ष्य पण्डितैः।
बलौचित्यात्तदादिष्टा हि महती मताः॥
सम्यक्प्रयोगैर्भैषजादैर्यथोक्त दश लक्षणैः॥
कुर्याच्चिकित्सितं प्राज्ञो न योगैरेव केवलम्। (च.वि. 30/320, 326)

Scanned with CamScanner

5. उपद्रव रहित चिकित्सा

आयुर्वेद में वही चिकित्सा मान्य एवं श्रेष्ठ है जो रोग विशिष्ट का शमन करे, अन्य रोग (उपद्रव) को उत्पन्न न करे[1]। आयुर्वेदीय चिकित्सा में प्रयुक्त विधित औषध प्रायः उपद्रव एवं विपाक प्रभाव (Side/Toxic effects) रहित होती है।

6. जरा (Premature Ageing) पर नियन्त्रण

रसायन औषध के प्रयोग से दीर्घ आयु, स्मृति, बल, वर्ण, मेधा, आरोग्य आदि प्राप्ति होती है[2]। रसायन चिकित्सा के विधिवत प्रयोग (वातातपिक व कुटीप्रावेशिक) बल, वर्ण, स्फूर्ति, यौवन तथा आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति अनेक मनीषियों ने स्वीकार है। रसायन चिकित्सा का विधिपूर्वक सेवन व्यक्ति को वाक्सिद्धी युक्त महापुरुष बन सकता है।

7. संशोधन (पंचकर्म) चिकित्सा द्वारा रोगों का अपुनर्भव

आयुर्वेदीय कायचिकित्सा अन्तर्गत वर्णित संशोधन (पंचकर्म) चिकित्सा से समावस्था में आये हुये दोष पुनः प्रकुपित होकर शीघ्र रोग उत्पन्न नहीं करते एवं रोगी चिरकालीन लाभ प्राप्त होते हैं। शोधन द्वारा कुपित हुये दोषों को समीपस्थ मार्ग (आमाशय, पक्वाशय, नासा) से निर्हरित कर देने के पश्चात उनके पुनः उत्पन्न होने की संभावना नहीं रहती[1]।

8. काष्ठौषधि प्रयोग

आयुर्वेदीय कायचिकित्सा में काष्ठौषधियों का प्रचुरता से प्रयोग किया जाता है। पन्चविध कषाय कल्पना के आधार पर स्वरस, कल्क, श्रृतशीत, फाण्ट एवं कषाय रूप में काष्ठौषधि का प्रयोग रोगियों के रोग निवारणार्थ उनके बल, वय एवं रोग के आधार पर किया जाता है। काष्ठौषधियों के किस भाग को, किस स्थान से, किस ऋतु में तथा किस समय एकत्र करना चाहिये, इस सम्बन्ध में स्पष्ट नियम एवं विधान संहिता व निघण्टु में वर्णित हैं। यथा—तेजपत्र के पत्ते, विडंग के बीज, आमलकी का फल, नागकेसर, पुंकेशर आदि का चयन औषधि निर्माणार्थ किया जाता है। कौन सा द्रव्य कब्बं एवं पुराना लेना चाहिये उसके भी स्पष्ट संकेत हैं। औषध निर्माण व उसके संरक्षण का

1. ॥ उपद्रवः स्यान्नोपद्रवकरमनुद्दीपयेत्॥
   तत्रापि भिषक्: शुद्धानु शमयेत्तो न कोपयेत्॥ (च.चि.1/...)
   ॥ यत् उपद्रवं..... शमयन्नुद्दीपयेत्॥ (सु.सू.35/...)
2. दीर्घायुषः स्मृति मेधाऽऽरोग्यं तरुणं वयः।
   प्रभावर्णस्वरौदार्यं देहेन्द्रियबलं परम्॥
   वाक्सिद्धिं प्रणतीं कान्तिं लभते न रसायनात्॥ (च.चि.1/...)
3. दोषः कदाचित् कुपितो जिता लङ्घनपाचनैः।
   जिता संशोधनैर्ये तु न तेषां पुनरुद्भवः॥ (च.सू.16/...)

सुस्पष्ट उल्लेख संहिताओं में उपलब्ध है। काष्ठौषधियों का भौतिक संगठन (रस-गुण-वीर्य-विपाक आदि का)पन्चमहाभौतिक होने से यह पान्चभौतिक शरीर (पिण्ड) के लिए हानिप्रद नहीं होती है।

9. रसौषधि प्रयोग

आयुर्वेद में रसौषधियों का प्रयोग प्राचीन काल से होता आ रहा है। पारद, महारस, उपरस, साधारण रस, रत्न, उपरत्न, धातु, उपधातु, विष, उपविष एवं मुख्यवर्ग के द्रव्यों का प्रयोग उनके शोधन-मारण पश्चात् औषध योग के रूप में किया जाता है। शोधन से उनमें मिश्रित दोष, मल व अशुद्धियां अलग हो जाती हैं तथा मारण से निर्मित भस्म व पिष्टी उत्तम गुणवत्ता वाली होती हैं। भस्म अतिसूक्ष्म (Micro particles) रूप में होने से शीघ्र ही शरीर में अवशोषित होकर अपने औषधीय प्रभावों को प्रकट करती हैं। रसौषधियों का प्रयोग दोष-दूष्य-देश-काल एवं रोगी परीक्षा की अपेक्षा के बिना किया जाता है[1]। रस धर्मी[2] अत्यन्त अल्प मात्रा में प्रयुक्त होने के कारण, स्वादहीन होने के कारण एवं रुचिकर व शीघ्र ही रसादि धातुओं में शोषित होने के कारण रोग हर व श्रेष्ठ होती हैं।

10. वाजीकरण चिकित्सा

वाजीकरण में अल्प, दुष्ट, क्षीण एवं शुष्क वीर्य वाले मनुष्यों के वीर्य की पुष्टि, शोधन, वृद्धि और उत्पत्ति तथा स्वस्थ लोगों में मैथुन के समय हर्ष बढ़ाने के लिये उपाय और औषध का वर्णन किया गया है। यह चिकित्सा आयुर्वेद की मौलिक चिकित्सा है।

11. पथ्यापथ्य चिकित्सा

आचार्य लोलिम्बराज ने कहा है कि "यदि रोगी पथ्य सेवन कर रहा है तो औषध सेवन की क्या आवश्यकता? और यदि अपथ्य सेवन कर रहा है तो भी औषध सेवन से क्या लाभ?" इससे "पथ्य-अपथ्य" के महत्व का ज्ञान होता है[1]। आयुर्वेद में पथ्य का बहुत महत्व है। अतः देश-काल-प्रकृति सार-संहनन-मात्रा-भूमि इन सभी को देखते हुये पथ्य का निर्धारण करना चाहिये। आचार्य चरक ने कहा है कि शरीर रूपी मार्ग (पथ) का जो अपकार करने वाला नहीं है और जो मन को प्रिय है, वह पथ्य कहलाता है[2]। किसी व्याधि के निवारण हेतु चिकित्सा के साथ-साथ पथ्य सेवन का स्पष्ट निर्देश

1. न रोगार्थं न दोषार्थं न दूष्यार्थं पचेदौषधम्।
   न देहस्य न कालस्य किन्तु रोगचिकित्सितै॥ (रसरत्नसमुच्चय 4/29)
2. अल्पमात्रोपपन्नोऽपि गन्धादेवेह लक्ष्यते।
   सिद्धयाद्येन्यदवियाद्यौषधेभ्योऽधिको रसः॥ (रसेन्द्र सार संग्रह 1/4)
3. पथ्ये सति गदार्तस्य किमौषधनिषेवणे।
   पथ्येऽसति गदार्तस्य किमौषधनिषेवणे॥ (वैद्य जीवन)
4. पथ्यं पथोऽनपेतं यद्यच्चोक्तं मनसः प्रियम्।
   यच्चानिष्टादिसंयुक्तं न तत्पथ्यं तत्र लक्षयेत्॥ (च.सू. 25/45)

Scanned with CamScanner

आचार्यों ने किया है। पथ्य सदैव व्याधि जनक कारणों के विपरीत गुण वाले होते हैं अतः चिकित्सक को प्रत्येक दृष्टि से विचार कर समुचित पथ्य का निर्देश करना चाहिये।

12. दयालुता का भाव[1]

रोगी के प्रति दया का भाव रखना, पुत्रवत् उपचार करना एवं उसके दैन्यता आदि दुःखों को दूर करना ही आयुर्वेद का उद्देश्य है। आयुर्वेद में दया, परोपकार में स्वार्थ की कल्पना, त्याग व संयम को सदाचार का मन्त्र कहा गया है।

13. धर्म परायणता की भावना

आयुर्वेद मतानुसार रोगों का एक कारण पूर्व जन्मकृत पाप को माना जाता है। दूर करने के लिये दैवव्यपाश्रय चिकित्सा वर्णित है। आचार्य चरक ने चिकित्सा व्यवसाय का साधन नहीं वरन निस्वार्थ सेवा का माध्यम कहा है एवं चिकित्सक रोगी से धनग्रहण करने को सोने की गठरी के बदले धूल की गठरी बाँधने की भाँति है[1]।

प्राचीन काल में आयुर्वेद का उपयोग दुःखी जनों की निस्वार्थ सेवा के लिये होता था, वर्तमान समय में इसका स्वरूप बदल गया है।

14. मोक्षप्रवर्तक नैष्ठिकी चिकित्सा

आयुर्वेद में नैष्ठिकी अर्थात् मोक्ष प्रवर्तक चिकित्सा का वर्णन मिलता है। पुरुषार्थ चतुष्टय प्राप्ति के उपायों का वर्णन भी किया गया है। दुःख से पूर्णतः निवृत्ति उपायों को नैष्ठिकी चिकित्सा के माध्यम से बतलाया है। मोक्ष प्राप्ति के साधनों [illegible] विधि विधान से निरन्तर अभ्यास करने से मनुष्य जीवन-मृत्यु के चक्र से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्ति कर सकता है। यह आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति की विशेषता है[1]।

15. आयुर्वेद प्रकृति के समीप प्राकृतिक चिकित्सा

आयुर्वेद चिकित्सा के सिद्धान्त प्रकृति के सिद्धान्तों के बहुत ही नजदीक प्राकृतिक संसाधनों यथा वनस्पति, खनिज, धातु, फल, जाङ्गम द्रव्य आदि के मध्य

1. [illegible]
   [illegible] (अ.सं.)
2. [illegible]
   [illegible] (च.सू.)
3. [illegible]
   [illegible] (च.वि.)
4. [illegible]
   [illegible] (च.वि.)

की जाने वाली चिकित्सा आयुर्वेद में वर्णित है। आयुर्वेद में पञ्चमहाभूत प्रधान द्रव्यों से चिकित्सा की जाती है एवं शरीर भी इन्हीं पंच महाभूतों से बना है। अतः "यद् पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे" के क्रम में आयुर्वेदीय चिकित्सा सिद्धान्तों के अनुसार चिकित्सा करने से शीघ्र ही लाभ प्राप्त होता है।

16. सस्ती एवं सर्व सुलभ चिकित्सा

किंचिद् स्वर्ण-रजत आदि जीवन रक्षक औषध योगों को छोड़कर सामान्यतः आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति सस्ती व सर्व सुलभ है। अधिकांश औषध द्रव्य आसानी से प्राप्त हो जाते हैं। दैनिक जीवन में उपयोग में आने वाले अनेक द्रव्यों का प्रयोग आयुर्वेद में चिकित्सा के रूप में किया जाता है। यथा-हिंगु, जीरक, हरिद्रा, सैंधव लवण, अजवाइन, लवंग, पुष्प, मुनक्का, शुण्ठी, मेथी, दालचीनी, तेजपत्र, कपूर, घृत, मधु, मरिच, छिलती, गुड़, शर्करा आदि का प्रयोग औषध के रूप में किया जाता है जो कि सर्व सुलभ सस्ते द्रव्य हैं और विशिष्ट लाभकारी हैं।

17. विश्व स्वास्थ्य संगठन द्वारा मान्यता प्राप्त चिकित्सा पद्धति

आयुर्वेदीय चिकित्सा पद्धति को विश्व स्वास्थ्य संगठन ने वैकल्पिक चिकित्सा पद्धति (Alternative System of Medicine) के रूप में मान्यता प्रदान की है। आयुर्वेद में वर्णित स्वस्थ पुरुष की परिभाषा विश्व स्वास्थ्य संगठन की स्वस्थ पुरुष की परिभाषा से अत्यधिक सामंजस्य रखती है।

समदोषः समाग्निश्च समधातुमल क्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते॥

(सु.सू. 15/41)

आयुर्वेद में शारीरिक, मानसिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक सुख की प्राप्ति कराने वाली अवस्था को ही 'स्वस्थ' माना है। केवल रुग्ण या रोगाभाव को ही स्वास्थ्य नहीं कहा जा सकता। इसी भाव को द्योतक एवं स्वास्थ्य को अद्यतनिकतम व्यापक परिभाषा विश्वस्वास्थ्य संगठन ने भी स्वीकार की है जिसके अनुसार—

"Health is a state of complete physical, mental, social and spiritual well being and not merely absence of disease or infirmity".

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विश्व में अनेक प्रकार की चिकित्सा पद्धतियां उपलब्ध एवं प्रचलित हैं। परन्तु आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति की अपनी विशिष्ट पहचान है और अपने विशिष्ट गुणों के कारण वर्तमान में उपलब्ध अनेक वैकल्पिक व पारम्परिक चिकित्सा पद्धतियों (Alternative Systems of Medicine) में आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति सर्वोपरि एवं अग्रण्य है।

Scanned with CamScanner

पञ्चम् अध्याय

व्याधि विवेचन

व्याधि की निष्पत्ति

1. "रुज् पीडायां अङ्गे च" धातु से 'घञ्' प्रत्यय लगाने पर 'रोग' शब्द बनता है जिसका अर्थ है—पीड़ा देने वाला।
2. वि+आङ् उपसर्गपूर्वक धारण तथा पोषण अर्थ की "डुधाञ् धारण पोषणयो" (जुहोत्यादि) धातु से "उपसर्गे धो: कि:" (पाणिनीय सूत्र 3/3/92) से 'कि' प्रत्यय होने पर व्याधि शब्द बनता है।
3. "डुधाञ्" धातु में "वि" उपसर्ग लगाकर "विविधा आधयोऽस्मात्" (अमरकोश) विविधं दु:खमादधातीति व्याधि (च.चि. 1/5) अर्थात् जिस शरीर एवं मन में विविध दु:ख हो उसे व्याधि कहते हैं।
4. व्याधि शब्द "व्यधताडने" धातु से बनता है जिसका अर्थ है ताड़न कष्ट पहुंचाना, पीड़ित करना। "व्यध ताड़ने इति-अस्य रूपं व्याधि:"

व्याधि की निरुक्ति

1. 'पुंस्याधिर्मानसी व्यथा' (अमरकोश 1/7/28) तथा "आधीयते दु:खमनेन इति व्याधि:।" (रामाश्रमी टीका) अर्थात् जिसके द्वारा दु:ख हो उसे 'व्याधि' कहते हैं। यहां 'आधि' शब्द मानसी पीड़ा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।
2. "बन्धक्लेशव्यसनं पीडाधिष्ठान माधव:।" (अमरकोश 3/3/97) अर्थात् 'व्याधि' शब्द से बन्धक, व्यसन, मानसी पीड़ा एवं अधिष्ठान का बोध होता है।
3. "विविधं दु:खमादधातीति व्याधि:" (च.नि. 1/15) अर्थात् जिससे शरीर एवं मन में अनेक प्रकार के दु:ख हों उसे व्याधि कहते हैं।
4. पुरुष का दु:ख के साथ संयोग व्याधि कहलाता है[1]।

1. दु:खसंयोग: व्याधय: उच्यन्ते।

5. उन सभी अवस्थाओं को व्याधि कहा जाता है जिनसे मन को कष्ट होता है एवं जिनके प्रतिकार करने के लिये मन प्रयत्न करता रहे[2]।
6. जो शरीर, मन अथवा दोनों को कष्ट दें उसे व्याधि कहते हैं[3]।

व्याधि की परिभाषा

1. धातु वैषम्य की अवस्था जिससे शरीर या मन को कष्ट हो 'रोग' कहलाती है। धातुओं की साम्य स्थिति रहने पर आरोग्य रहता है। आरोग्य को सुख कहते हैं तथा विकार को दुख कहते हैं[4]।
2. चिकित्सा पुरुष अर्थात् चिकित्सा करने योग्य पुरुष का कायिक, वाचिक या मानसिक दु:ख के साथ संयोग होना ही 'व्याधि' है[5]।
3. दोषों की विषमावस्था का नाम 'रोग' अथवा 'व्याधि' है। दोषों के विषम या विकृत होने पर ही रोग की उत्पत्ति होती है[6]।
4. लक्षणों के समूह को व्याधि कहते हैं क्योंकि इन्हीं लक्षणों के समूह से व्याधि विनिश्चय किया जाता है[7]।
5. दोष-दूष्य सम्मूर्च्छना (दोष दूष्य की एक दूसरे के साथ प्रतिक्रिया संयोग) ही रोग या व्याधि है। दोष एवं दूष्य के विशेष प्रकार के संयोग को ही दोष-दूष्य सम्मूर्च्छना कहा जाता है[8]। यह दो प्रकार से प्रकट होती है—

   प्रकृति समसमवेत—दोष-दूष्य के अनुरूप ही रोग के लक्षणों की उत्पत्ति होना यथा—आमवात, अतिसार आदि में दोष-दूष्य के अनुसार ही विकृति होती है।

   विकृति विषमसमवेत—दोष-दूष्य के अनुरूप लक्षण प्रकट न होकर विभिन्न प्रकार के विशिष्ट लक्षण प्रकट होते हैं। यथा—आवरण जन्य व्याधियां।
6. वात-पित्त-कफ (त्रिदोष) के तारतम्य में किसी भी प्रकार के वैषम्य आ जाने से रोग उत्पन्न होता है। अत: त्रिदोष की विषमता ही रोग है तथा इनकी साम्यावस्था ही आरोग्य है[9]।

1. विशेषेण आधीयते अधिनिवेश्यते इष्टेऽनिष्टजनके मनोऽनेन इति व्याधि। (शब्दकल्पद्रुमाभिधि)
2. विविधं दु:खमादधाति शरीरे मनसि चेति व्याधि:। (अरुण दत्त)
3. विकलो यस्मुनैवस्थ्यं तस्य प्रकृतिरुच्यते। (च.सू. 9/4)
4. सुख संज्ञकमारोग्यं विकारो दु:खमेव च। (सु.सू. 1/23)
5. तद् दु:ख संयोग व्याधय: उच्यन्ते। (अ.हृ.सू. 1/20)
6. रोगास्तु दोषवैषम्यं। (गंगाधर)
7. लिङ्गसमूहात्मको व्याधि:। (विजयरक्षित)
8. दोष-दूष्य सम्मूर्च्छना विशेषो व्याधि रूपे व्याधि:। माधव टीका
9. धातुसाम्यात्मकं तन्त्रं धातुवैषम्यं तु व्याधिसंज्ञकम्। धातुसाम्यात्मकस्तन्त्रं तस्मादेषां प्रकृतिश्च सा। (कल्पना संहिता सू. 27/6)

Scanned with CamScanner

7. शरीर या मन में उत्पन्न प्रतिकूल वेदना को दुःख या 'व्याधि' कहते हैं।
8. पुरुष के आगन्तुज, मानस, शरीर एवं स्वाभाविक रोगों के साथ दुःख जनक संयोग को 'व्याधि' कहते हैं[1]।
9. संताप जनक अनुभव ही 'व्याधि' है[2]।
10. जिनके रहने पर या जिनके कारण या जिन परिस्थितियों से दुःख उत्पन्न होता है वे 'व्याधि' कहलाती हैं[3]।

यहां पर संदेह होता है कि जब हम दुःख को ही व्याधि मानते हैं तो शरीर में होने वाली व्याधि को हम दुःख नहीं कह सकते, क्योंकि सुख-दुःख की अनुभूति तो आत्मा का लक्षण है न कि शरीर का। अतः व्याधि आत्मा में होगी, परन्तु आत्मा तो निर्विकार है।

इसके समाधान में आचार्य विजयरक्षित ने कहा है "दुःखयति इति दुःखम्" अर्थात् दुःख के हेतु धातुवैषम्य एवं उसके कार्य को ही व्याधि स्वीकार करते हैं। यह धातु वैषम्य शरीर में होता है आत्मा में नहीं।

धातु वैषम्य होने के पश्चात् उसके कार्य स्वरूप जो लक्षण प्रकट होते हैं वह व्याधि ही है। आचार्य चरक ने कहा है कि जिन रोगों का उल्लेख किसी विशिष्ट रोग के ज्ञानार्थ होता है उन्हें उस अवस्था में लक्षण ही मानना चाहिये न कि व्याधि, जैसे ज्वर (Fever) एक स्वतंत्र रोग भी है किन्तु 'कास' एवं 'रक्तपित्त' के साथ प्रकट होने पर ज्वर राजयक्ष्मा रोग का प्रमुख लक्षण होता है।

सुविधा की दृष्टि से लक्षणों को निम्न दो भागों में विभक्त किया जा सकता है-

1. **लक्षण (Symptoms)**—जिन लक्षणों की अनुभूति रोगी स्वयं करता है तथा जिनका ज्ञान रोगी से प्रश्न पूछकर किया जाता है वे लक्षण कहे जाते हैं। यथा— अरुचि, अतिनिद्रा, क्षुधा, तृषा, दाह आदि।
2. **चिह्न (Signs)**—जिन लक्षणों की अनुभूति चिकित्सक स्वयं परीक्षा द्वारा करता है उन्हें 'चिह्न' कहते हैं। यथा—पाण्डुता (Pallor), नेत्र का वर्ण (Icterus), यकृत प्लीहा की स्थिति, नाड़ी गति (Pulse Rate), श्वासगति (Respiration Rate), हृदय गति (Heart Rate), क्ष-किरण परीक्षा (X-Ray) आदि का ज्ञान चिकित्सक रोगी की परीक्षा करके करता है।

1. तत्र शरीरमनसोर्वेदनं दुःखम्। (चक्रपाणि)
2. तत्र पुरुषस्य दुःखसंयोगेषु वैद्यमानमनुप्रभृतीनां ते व्याध्यः। (सु.सू. 1/23 पर डल्हण टीका)
3. दुःखसंज्ञेन उपशयहेत्वनुभवं गमयति। (आतंक दर्पण)
4. तत्र पुरुषस्य येषु सत्सु वैषम्यसमुद्भूतिः वेदना वा दुःख जायते ते व्याध्यः। (सु.सू. 1/23 पर डल्हण टीका)

व्याधि के पर्याय

"व्याधीनां व्यवहारार्थं लक्षणार्थं च पर्यायानाह व्याधिरित्यादि।" (च.नि. 1/5 पर चक्रपाणि टीका) से स्पष्ट है कि व्यवहारार्थ तथा लक्षणार्थ एकार्थवाची अनेक शब्दों का प्रयोग शास्त्रों में मिलता है उन्हें पर्याय कहते हैं।

आचार्य पुनर्वसु आत्रेय ने व्याधि के निम्न पर्याय वर्णित किए हैं[1]—

1. व्याधि	2. आमय
3. गद	4. आतंक
5. यक्ष्मा	6. ज्वर
7. विकार	8. रोग

आचार्य वाग्भट्ट ने इन पर्यायों के अतिरिक्त पाप्मा, अत्याध एवं राम को भी व्याधि के पर्याय बताया है[2]। इन सभी से कष्ट या वेदना का बोध होता है।

1. **व्याधि**—अर्थात् जिसके उत्पन्न होने से शरीर एवं मन को किसी प्रकार का कष्ट हो वह व्याधि है।
2. **आमय**—"प्रायेणासमुत्थत्वेनामय इत्युच्यते।" (च.नि. 1/5 पर चक्रपाणि टीका) अर्थात् सभी रोगों के मूल में आम रस या आम कारण भूत बनता है। अतः सभी रोगों को आमय भी कहते हैं। अधिकांश रोगों का मूल कारण मंदाग्नि है एवं मंदाग्नि से निश्चित ही आम दोष की उत्पत्ति होती है। आमाशयोत्थ व्याधि हो या पक्वाशयोत्थ दोनों में ही "आम दोष" अवस्थित हो सकता है।
3. **गद**—"गद इव गदः।" अनेक कारण जन्यत्वाद् भयादि यथाहि गदोनेक कारणजस्तथा गदोपीति गद शब्दस्यार्थः। (अरुण दत्त)जिस प्रकार अनेक कारणों से 'गद' बनता है उसी प्रकार व्याधि भी अनेक कारणों से उत्पन्न होती है अतः उसे भी 'गद' कहते हैं।
4. **आतंक**—'तकि कृच्छ्रजीवने' धातु से आतंक शब्द बनता है। रोगी को अत्यन्त कष्ट के साथ दुःख पूर्ण जीवन बिताना पड़ता है इसलिये व्याधि को आतंक भी कहते हैं[3]।
5. **यक्ष्मा**—आयुर्वेद में रोगों के समूह को भी यक्ष्मा कहते हैं। प्रत्येक रोग में अनेक लक्षण होते हैं एवं प्रत्येक लक्षण रोग भी हो सकता है। इसलिये

1. तत्र व्याधिशब्दो गद आतंङ्को यक्ष्मा ज्वरो विकारो रोग इत्यनर्थान्तरम्। (च.नि. 1/5)
2. व्याधयो विकार आतंङ्क पाप्मा गदो व्याधिरात्माधे दुःखमामयो यक्ष्मा रोग इत्यनर्थान्तरम्। (अ.स.नि. 1/6)
3. आतंक शकि कृच्छ्र जीवने इतयस्य धातो रोग पूर्वस्य रूपम्।
रोगैरातङ्क्यतेऽत्यर्थं स्त्री पान भोजनादिभ्यो नित्यमा कृच्छ्रेण जीवति॥ (आतंक दर्पण)

Scanned with CamScanner

यक्ष्मा के समान अनेक रोग समूह से युक्त होने के कारण व्याधि का एक पर्याय 'यक्ष्मा' भी माना गया है[1]।

6. **ज्वर**—व्याधि का एक पर्याय 'ज्वर' भी है क्योंकि प्रत्येक व्याधि में शरीर एवं मन में संताप होता है[2]। ज्वर के होने पर शरीर में ताप वृद्धि एवं शारीरिक वैचित्य, अरति, ग्लानि आदि मनःसंताप के लक्षण उत्पन्न होते हैं अतः रोग की एक संज्ञा 'ज्वर' भी है।

7. **विकार**—व्याधि से ग्रसित होने पर मन, शरीर, बुद्धि तथा इन्द्रियों के कार्य विषम या विकृत हो जाते हैं अतः व्याधि को विकार भी कहते हैं[3]।

8. **रोग**—प्रत्येक रोग में रूजा (पीड़ा) होती है, कोई रोग ऐसा नहीं है जिसमें पीड़ा न हो। अतः व्याधि का एक पर्याय 'रोग' भी है[4]।

9. **पाप्मा**—पूर्वजन्म में या इस जन्म में किए गए पापों से व्याधि उत्पन्न होती है। अतः आचार्य वाग्भट्ट ने व्याधि का एक पर्याय 'पाप्मा' भी बताया है[5]।

10. **आबाध**—व्याधि के कारण रोगी के विभिन्न कार्य सम्पादन में बाधा उत्पन्न होती है एवं रोगी को अनेक प्रकार की पीड़ा होती है। अतः व्याधि का एक पर्याय 'आबाध' भी है[6]।

11. **दुःखम्**—'दुःखमित्यनेन उपतापकत्वं अनुभवं गमयति।' (अरुण दत्त)। रोगावस्था में शरीर एवं मन को कम या अधिक मात्रा में दुःख की अनुभूति अवश्य होती है। अतः व्याधि का पर्याय दुःख भी है।

इनके अतिरिक्त निम्न संज्ञाओं को भी रोग-व्याधि के पर्याय के अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है।

12. **रुक्**—'रुजति देहम् इति रुक्।' (अमरकोश) जो देह को पीड़ा से तोड़ दे या अत्यधिक व्यथित या दुःखी कर दे उसे 'रुक्' या 'रोग' कहते हैं।

13. **रूजा**—'रूजा त्वामदभङ्गयोः।' (हेमः) शरीर में पीड़ा या भङ्ग होना 'रूजा' या 'रोग' है।

14. **उपताप**—'उपतापो गदे तापे।' (हेमः) शरीर एवं मन में ताप या संताप करने के कारण रोग को उपताप कहते हैं।

1. यक्ष्मशब्देन राजयक्ष्मवत् अनेक रोग मुक्तसंविकासाणां दर्शयति तथा यक्ष्मावज्जयक्ष्मा यथा यक्ष्मा रोग अनुशयवान् इत्युक्तः। (अरुण दत्त)
2. ज्वरशब्देन च देहमनः सन्तापकत्वम्। (च.नि. 1/5 पर चक्रपाणि)
3. विकारो बुद्धीन्द्रियादिव मनः शरीराद्यम् विकृति अन्यथात्वं जनयतीत्यर्थः। (अरुण दत्त)
4. रोग शब्देन रुजाकृतत्वम्। (च.नि. 1/5 पर चक्रपाणि)
5. पाप्मा इति विद्धि सर्वे रोगः, पापस्य कर्मणः फलम् इति पाप्मा इत्युच्यते। (अरुण दत्त)
6. आबाध इति अत्यन्तम् काय मनसोः बाधनं पीडा इत्यर्थः। (अरुण दत्त)

15. **आधि**—'आधीयतेऽनेन अस्मिन् वा इति आधिः।' (अमरकोश)। शरीर एवं मानसिक पीड़ा उत्पन्न करने के कारण रोग को 'आधि' कहते हैं।

16. **तम**—'ताम्यति इति तमः।' रोग होने पर जीवन में निराशा छा जाती है एवं आंखों के सामने अंधेरा दिखता है। इसलिए रोग को 'तम' भी कहते हैं।

17. **दोष प्रकृति**—रोगों के मूल कारण दोष ही होते हैं। अतः रोग को दोष प्रकृति कहते हैं[1]।

18. **दोष**—दोष ही रोग को उत्पन्न करते हैं। अतः रोग को 'दोष' भी कहते हैं[2]।

चरक संहिता, सुश्रुत संहिता, अष्टांग संग्रह एवं अष्टांग हृदय में दिए गए व्याधि के पर्यायों का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। विभिन्न ग्रंथों में व्याधि के पर्यायों को एकत्रित करने पर व्याधि के निम्न 36 पर्याय मिलते हैं—

1.	व्याधि	19.	दुःख
2.	गद	20.	रुक्
3.	आर्तक	21.	आम
4.	आमय	22.	अघटत्वम्
5.	रूजा	23.	पाप्मन्
6.	उपधान	24.	भङ्ग
7.	उपताप	25.	आर्ति
8.	अमः	26.	मनोविकार
9.	अनार्जवम्	27.	ग्लानि
10.	मृत्युभय	28.	क्षय
11.	मान्ध	29.	विकट
12.	आकल्यम्	30.	विकृति
13.	यक्ष्मा	31.	दोष
14.	ज्वर	32.	दोषिक
15.	विकार	33.	शरीरज
16.	रोग	34.	यक्ष्मन्
17.	पाप्मा	35.	व्याध्य
18.	आबाध	36.	तक्मा

1. निजस्य तु मुख्यं या व्याधित्वभूम्यार्थं वैद्यस्य। (च.सू. 20/6)
2. समानो हि रोगशब्दो दोषेषु च व्याधिषु च। (च.वि. 6/4)

Scanned with CamScanner

वेदों में भी गुणकर्म भेद से ज्वर के लिए निम्नांकित शब्द प्रयुक्त होते हैं[1]।

शीर्षतोकः	अथर्ववेद	19/36/10	शिर को पकड़ने वाला
अर्चिः	अथर्ववेद	1/25/2	ज्वाला
तपुः	अथर्ववेद	6/20/1	तपानेवाला
तक्मा:	अथर्ववेद	5/22/1	कृच्छ जीवनकर्ता
ग्राहोता:	अथर्ववेद	1/12/2	पकड़ने वाला
अभिशोकः	अथर्ववेद	1/25/3	सन्ताप कारक
विषदः	अथर्ववेद	5/22/6	विशेष रोग
व्यङ्गः	अथर्ववेद	5/22/6	विकलाङ्ग बनाने वाला
रुद्रः	अथर्ववेद	6/20/2	रुलाने वाला
परुषः	अथर्ववेद	5/22/3	त्वचा में रुक्षता करने वाला
विश्वशारदः	अथर्ववेद	9/8/6	शरद ऋतु में व्यापक फैलनेवाला
ध्वनः	अथर्ववेद	7/116/1	स्वेद लाने वाला
अङ्गभेदः	अथर्ववेद	9/8/5	जिससे अङ्गों में पीड़ा हो
शुष्मः	अथर्ववेद	1/12/3	शोषण करने वाला
सदन्दिः	अथर्ववेद	5/22/3	सदा रहनेवाला
शारदः	अथर्ववेद	5/22/3	शरद ऋतु में होनेवाला
वार्षिकः	अथर्ववेद	5/22/3	वर्षा ऋतु में होनेवाला
अवृतः	अथर्ववेद	7/116/2	विषमज्वर
वभ्रुः	अथर्ववेद	6/20/3	पीत ज्वर
अरुणः	अथर्ववेद	6/20/3	रक्त ज्वर
अभ्रजः	अथर्ववेद	1/12/3	मेघ से उत्पन्न होनेवाला

व्याधि भेद

'त एवाप्रतिसंख्येयाः भिद्यमाना भवन्ति हि।' तथा 'न हि सर्वविकाराणां नामतोऽस्ति ध्रुव स्थितिः।' (च.सू. 18/42-44)। आचार्य चरक के अनुसार रोगों के असंख्य भेद हो सकते हैं और उनका नामतः उल्लेख नहीं भी मिल सकता है परंतु शास्त्रों में जिन नानात्मज एवं सामान्यज या आविष्कृततम रोगों का वर्णन मिलता है, उनके आधार पर रोगों के भेदों एवं प्रकारों का ज्ञान करना संभव है। विभिन्न आयुर्वेदीय संहिताओं में व्याधि को विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न वर्गों से वर्गित किया है। विभिन्न संहिताओं के आधार पर व्याधि का विस्तृत वर्गीकरण निम्न प्रकार है-

1. वेदों में ज्वरभेद।

(पुस्तक से साभार उद्धृत)

आचार्य सुश्रुतोक्त व्याधि भेद (सु.सू. 24)

आचार्य सुश्रुत के मतानुसार व्याधि को निम्न भेदों में वर्गीकृत कर सकते हैं-

I. i. शारीरिक
   ii. मानसिक
II. i. साध्य
   ii. असाध्य
III. i. स्नेहादिक्रियासाध्य
   ii. शस्त्र साध्य
IV. i. औपसर्गिक
   ii. प्राकृबल
   iii. अन्यलक्षण
V. i. आध्यात्मिक-इस वर्ग के पुनः 3 भेद बतलाये गए हैं-
   (अ) आदिबल प्रवृत्त - पुनः 2 भेद हैं-
      (1) मातृज
      (2) पितृज
   (ब) जन्मबल प्रवृत्त - पुनः 2 भेद हैं-
      (1) रसकृत
      (2) दौहृदापचारकृत
   (स) दोषबल प्रवृत्त - पुनः 2 भेद हैं-
      (1) शारीरिक
      (2) मानसिक
   ii. आधिभौतिक - इसका पुनः एक भेद है-
   (अ) संघात बल प्रवृत्त - पुनः 2 भेद हैं-
      (1) शस्त्रकृत
      (2) व्यालकृत
   iii. आधिदैविक - इस वर्ग के पुनः 3 भेद बताये हैं-
   (अ) कालबल प्रवृत्त - पुनः 2 भेद हैं-
      (1) व्यापन्न ऋतु कृत
      (2) अव्यापन्न ऋतु कृत
   (ब) दैवबल प्रवृत्त - पुनः 2 भेद हैं-
      (1) विद्युत दशनिकृत
      (2) पिशाचादिकृत
   (स) स्वभावबलप्रवृत्त - पुनः 2 भेद हैं-
      (1) काल कृत
      (2) अकाल कृत

Scanned with CamScanner

vi. i. आगन्तुज
ii. शारीरिक
iii. मानसिक
iv. स्वाभाविक

आचार्य वाग्भट्टोक्त व्याधि भेद

आचार्य वाग्भट्ट ने व्याधि को निम्न भेदों में वर्गीकृत किया है-

I. i. शारीरिक
ii. मानसिक
II. i. साध्य
ii. असाध्य
III. i. निज
ii. आगन्तुज
IV. i. स्वतंत्र
ii. परतंत्र
V. i. दुष्टापचारज (दोषज)
ii. पूर्वापचारज (कर्मज)
iii. दृष्टादृष्ट कर्मज (दोष-कर्मज)
VI. i. सहज- इसके पुनः 2 भेद हैं-
(अ) मातृज
(ब) पितृज
ii. गर्भज - पुनः 2 भेद हैं-
(अ) अन्न रसज
(ब) दौहृदापचारज
iii. वातज - इसके पुनः 2 भेद हैं-
(अ) संतर्पणज
(ब) असंतर्पणज
iv. कालज - पुनः 2 भेद है-
(अ) व्यापन्नज
(ब) अव्यापन्नज
v. पौड़ाज - पुनः 2 भेद हैं-
(अ) शारीरिक
(ब) मानसिक
vi. प्रभावज

vii. स्वाभावज - पुनः 2 भेद हैं -
(अ) कालज
(ब) अकालज

आचार्य काश्यपोक्त व्याधि भेद

आचार्य काश्यप के मतानुसार व्याधि के निम्न भेद हैं-

I.	i.	निज	ii.	आगन्तुज
II.	i.	साध्य	ii.	याप्य
	iii.	असाध्य		
III.	i.	आगन्तुज	ii.	वातज
	iii.	पित्तज	iv.	कफज
IV.	i.	आगन्तुज	ii.	वातज
	iii.	पित्तज	iv.	कफज
	v.	त्रिदोषज		
V.	i.	मधुरज	ii.	अम्लज
	iii.	लवणज	iv.	कटुज
	v.	तिक्तज	vi.	कषायज
VI.	i.	वातज	ii.	पित्तज
	iii.	कफज	iv.	वात-पित्तज
	v.	वात-कफज	vi.	पित्त-कफज
	vii.	सान्निपातज		
VII.	i.	वातज	ii.	पित्तज
	iii.	कफज	iv.	वात-पित्तज
	v.	वात-कफज	vi.	पित्त-कफज
	vii.	सन्निपातज	viii.	आगन्तुज
VIII.	i.	अपरिसंख्येय (सम हीनाधिक दोषभेदात्)		

I. **एकविध व्याधि**—'रुक् सामान्यात्' व्याधि एक प्रकार की होती है। आचार्य काश्यप ने महर्षि भार्गव के मत को लिखा है कि सभी रोगों में रुजा (पीड़ा) समान होने से रोगों का वर्ग एक ही है[1]। आचार्य चरक के अनुसार सभी व्याधियों में दुःख सामान्य होने से रोग एक ही प्रकार के होते हैं[2]।

आचार्य हारीत व्याधियों की उत्पत्ति इस जन्म के या पूर्व जन्म के कर्मों को मानते हैं इनके अनुसार सभी व्याधियां 'कर्मज' हैं[3]।

1. एकी रुजो रुजाकरणे सामान्यादिति भार्गवः। (काश्यप संहिता)
2. एकार्थ रोगानीकं, दुःखसामान्यात्। (चि.वि. 6/3)
3. कर्मजा व्याध्यः सर्वे भवन्ति हि शरीरिणाम्। (हारीत संहिता)

Scanned with CamScanner

II. द्विविध व्याधि—व्याधि के भेद आचार्यों ने अनेक दृष्टिकोणों से किए तथा उन्हीं के आधार पर व्याधि के भिन्न-भिन्न प्रकार से द्विविध भेद किए गए हैं जो कि प्रकार हैं-

I. दशरोगनीक से द्विविध भेद

i. प्रभाव भेद से - इसके पुनः 2 भेद हैं-
   (अ) साध्य (ब) असाध्य
ii. बल भेद से - पुनः 2 भेद हैं-
   (अ) मृदु (ब) दारुण
iii. अधिष्ठान भेद से - पुनः 2 भेद हैं-
   (अ) मनोधिष्ठान (ब) शरीराधिष्ठान
iv. निमित्त भेद से - पुनः 2 भेद हैं-
   (अ) स्वधातु वैषम्यज (ब) आगन्तुज
v. आशय भेद से - पुनः 2 भेद हैं-
   (अ) आमाशयोत्थ (ब) पक्वाशयोत्थ

II. शल्य तंत्र की दृष्टि से
   i. शस्त्रसाध्य ii. स्नेहादिक्रियासाध्य

III. द्विविध भेद
   i. प्राकृत ii. वैकृत

IV. द्विविध भेद
   i. अनुबन्ध्य
   ii. अनुबन्ध - पुनः 2 भेद हैं-
      (अ) पूर्वज (ब) पश्चाज्जात्

V. कर्म भेद से
   i. प्रत्युत्पन्न कर्मज ii. पूर्वकर्मज

VI. साध्यता की दृष्टि से
   i. सुखसाध्य ii. कृच्छ्रसाध्य

VII. असाध्यता की दृष्टि से
   i. याप्य ii. प्रत्याख्येय

VIII. दोषानुसार भेद
   i. सामान्यज ii. नानात्मज

I. दश रोगानीक

आचार्य चरक ने विमान स्थान में प्रभाव, बल, अधिष्ठान, निमित्त व आशय भेद से रोग के द्विविध प्रकारों का वर्णन किया है तथा इन्हें सम्मिलित रूप से 'दश रोगानीक' कहा है[1]।

(I). प्रभाव भेद से —प्रभाव भेद से रोग दो प्रकार के होते हैं-
   i. साध्य ii. असाध्य

साध्य रोग वे हैं जो चिकित्सा द्वारा शांत हो जाते हैं यथा ज्वर। असाध्य रोग वे हैं जो चिकित्सा द्वारा साध्य नहीं होते तथा सभी उपक्रम करने पर भी असफलता प्राप्त होती है और रोगी की मृत्यु निश्चित होती है। यथा-अर्बुद (Cancer)।

(II). बल भेद से—बल भेद से रोग दो प्रकार का होता है-
   i. मृदु ii. दारुण

जब निदान, दोष व दूष्य परस्पर अनुबद्ध नहीं रहते या काल के प्रभाव से निर्बल होकर अनुबद्ध होते हैं तब रोग मृदु स्वरुप का अल्पबलयुक्त होता है। परन्तु जब निदान, दोष व दूष्य अनुबद्ध होकर काल के प्रभाव से बलवान होकर रोग उत्पन्न करते हैं तब वह दारुण स्वरुप का होता है।

(III). अधिष्ठान भेद से—अधिष्ठान भेद से रोग दो प्रकार के होते हैं-
   i. मनोधिष्ठान ii. शरीराधिष्ठान

मनोऽधिष्ठान अर्थात् मन को आक्रांत करने वाले रोग या मानसिक रोग तथा शरीराधिष्ठान वह रोग अर्थात् सर्वाङ्ग शरीर में होनेवाले शारीरिक रोग। अंततोगत्वा मानसिक रोग शारीरिक रोगों में एवं शारीरिक रोग मानसिक रोगों में बदल सकते हैं एवं देह-मानस रोग (Psycho-somatic disorders) के रुप में प्रकट हो सकते हैं।

(IV). निमित्त भेद से—निमित्त भेद से व्याधि के दो भेद हैं-
   i. स्वधातु वैषम्यज ii. आगन्तुज

स्वधातु वैषम्यज-दोष-धातु-मल (3 दोष), 7 धातु (रस, रक्तादि), 3 मल तथा सन्धि, अर्तवादि उपधातुओं में विषमता (क्षय-वृद्धि) होने से जब रोगोत्पत्ति होती है वह स्वधातु वैषम्य निमित्तज व्याधि कहलाती है।

---

1. द्वे रोगानीके खलु: प्रभावभेदेन - साध्यम् असाध्यं च।
   द्वे रोगानीके बलभेदेन - मृदु दारुणं च।
   द्वे रोगानीके अधिष्ठानभेदेन - मनोऽधिष्ठानं, शरीराधिष्ठानं च।
   द्वे रोगानीके निमित्तभेदेन - स्वधातुवैषम्यनिमित्तम्, आगन्तुनिमित्तं च।
   द्वे रोगानीके आशयभेदेन - आमाशयोत्थम्, पक्वाशयसमुत्थं चेति। (च.वि. 6/3)

Scanned with CamScanner

आगन्तुज-अभिघात, अभिशाप, अभिचार एवं अभिषंग आदि द्वारा उत्पन्न होने वाले रोग आगन्तुज कहलाते हैं। आधुनिक चिकित्सा शास्त्र में वर्णित आघात (Traumatic) एवं संक्रमण जन्य (Infectious) व्याधियाँ आगन्तुज व्याधियों के अंतर्गत ही आती हैं।

(V). आशय भेद से—आशय भेद से व्याधियां दो प्रकार की होती हैं-

i. आमाशयोत्थ ii. पक्वाशयोत्थ

आमाशयोत्थ व्याधियाँ वे हैं जो आमाशय स्थल में विकृति उत्पन्न होने पर होती हैं यथा श्वास, कास, ज्वर रोग आदि।

पक्वाशयोत्थ व्याधियां वे हैं जो पक्वाशय स्थल में विकृति होने पर उत्पन्न होती हैं यथा अतिसार, आनाह, विसूचिका आदि।

II. शल्य तंत्र की दृष्टि से व्याधि भेद

शल्य तंत्र की दृष्टि से आचार्य सुश्रुत ने व्याधि के द्विविध भेद किए हैं[1]-

i) शस्त्र साध्य ii) स्नेहादि क्रिया साध्य

शस्त्रसाध्य (Surgical Disorders)

शस्त्रसाध्य व्याधियां वे हैं जो शस्त्रकर्म या शल्य चिकित्सा द्वारा साध्य होती हैं अर्थात इनमें स्नेहन-स्वेदनादि कर्म भी निषिद्ध नहीं है यथा अर्श, भगन्दर, मूढ़गर्भ आदि। शल्य तंत्र के अन्तर्गत वर्णित समस्त व्याधियां प्रायः शल्य कर्म (Surgery) साध्य होती हैं।

स्नेहादिक्रिया साध्य—इसके अन्तर्गत वे व्याधियां आती हैं जो केवल स्नेहादि क्रिया द्वारा साध्य होती हैं इनमें शस्त्रकर्म की आवश्यकता नहीं होती है। यथा ज्वर, रक्तपित्त, गुल्म आदि। कायचिकित्सा के अन्तर्गत वर्णित समस्त व्याधियां प्रायः स्नेहादि क्रिया साध्य होती हैं।

III. प्राकृत-वैकृत भेद

i) प्राकृत रोग—जिस ऋतु में जिस दोष का प्रकोप प्राकृत रूप से होता है उस ऋतु में उस दोष से होने वाला रोग प्राकृत कहलाता है। यथा—वर्षा में वात प्रकोप, वसन्त में कफ प्रकोप तथा शरद में पित्त प्रकोप होता है। अतः वर्षा, वसन्त तथा शरद ऋतु में होने वाले क्रमशः वातज, कफज एवं पित्तज रोग प्राकृत रोग कहलाते हैं[2]।

1. द्विविधमनुष्यानां - शस्त्रसाध्यः, स्नेहादिक्रिया-साध्यश्च तत्र शस्त्रसाध्येषु स्नेहादिक्रिया न प्रतिषिध्यते, स्नेहादिक्रियासाध्येषु शस्त्रकर्म न क्रियते। (सु.सू. 24/3)
2. ऋतुस्वभावतो यत्र दोषः प्रकृतिः कथ्यते।
वैकृतं तत्र यद् यस्य प्रकोपाय प्रकल्पते॥ (अ.हृ.नि. 2/2)

ii) वैकृत रोग—जिस ऋतु में जिस दोष का स्वाभाविक प्रकोप नहीं होता, उस ऋतु में उस दोष से होने वाला रोग वैकृत रोग कहलाता है यथा—वर्षा ऋतु में कफज ज्वर, शरद ऋतु में वातज ज्वर या वसन्त ऋतु में पित्तज ज्वर आदि वैकृत रोग के उदाहरण हैं।

IV. अनुबन्ध्य-अनुबन्ध भेद[1]

i) अनुबन्ध्य—इसे स्वतंत्र व्याधि भी कहते हैं। जो रोग शास्त्रों में वर्णित निदानों से उत्पन्न हुआ हो, स्पष्ट लक्षणों वाला हो तथा शास्त्रोक्त चिकित्सा द्वारा शांत हो, उसे अनुबन्ध्य या स्वतंत्र व्याधि कहते हैं।

जैसे—अधिक परिश्रम जन्य क्षुद्र श्वास विश्राम करने से ठीक हो जाता है तथा ऊष्ण, तीक्ष्ण विदाही अन्न सेवन से उत्पन्न अम्लपित्त पित्त शामक (कषाय-तिक्त-मधुर) आहार व शीतल उपचार से शांत हो जाता है।

ii) अनुबन्ध—इसे परतन्त्र रोग भी कहते हैं। अर्थात् जो रोग दूसरे रोग के कारणों से उत्पन्न हुआ हो तथा दूसरे रोग की चिकित्सा से शांत होने वाला अस्पष्ट लक्षणों वाला हो उसे अनुबन्ध या परतन्त्र रोग कहा है।

जैसे—राजयक्ष्मा से पीड़ित रोगी में ज्वर, कास, छर्दन आदि रोग यक्ष्मा की चिकित्सा करने पर स्वतः ही शांत हो जाते हैं। आचार्य वाग्भट्ट ने अनुबन्ध के दो भेद कहे हैं[2]—

(अ) पूर्वज

(ब) पश्चाज्जात

पूर्वज—जो लक्षण रोग के पूर्व उत्पन्न होते हैं वे पूर्वरूप कहे जाते हैं।

पश्चाज्जात्—जो लक्षण रोग उत्पन्न होने के बाद में उपद्रव स्वरूप उत्पन्न होते हैं। यथा—राजयक्ष्मा के अंत में कर्णमूलशोथ उपद्रव स्वरूप उत्पन्न होता है।

V. कर्म भेद से[3]

कर्म की दृष्टि से रोग के दो भेद हैं—

i) प्रत्युत्पन्न कर्मज ii) पूर्वकर्मज

i) प्रत्युत्पन्न कर्मज—इस जन्म में शरीर द्वारा किये गये कर्म। यथा—मिथ्या आहार-विहार, विरुद्धाहार सेवन एवं प्रज्ञापराध आदि द्वारा उत्पन्न होने वाले रोग।

ii) पूर्व कर्मज—पूर्वजन्मकृत कर्मों से इस जन्म में होने वाले रोग पूर्वकर्मज रोग कहे जाते है यथा—कुष्ठ रोग।

1. स्वतन्त्रो व्यक्तलिङ्गो यथोक्तसम्प्राप्तिसम्भवो व्याधिरनुबन्धः, तद्विपरीतलक्षणसम्भवस्त्वनुबन्धः। (च.वि. 6/11)
2. पूर्वजः पूर्वरूपाख्य, जातः पश्चादुपद्रवः। (अ.हृ.नि. 12/60)
3. ते पुनः समासतः पुनर्द्विविधा भवन्ति प्रत्युत्पन्नकर्मजः पूर्वकर्मजश्च। (अ.सं.नि. 22/2)

Scanned with CamScanner

VI. साध्यता की दृष्टि से[1]

साध्यता की दृष्टि से रोग के 2 भेद हैं-

i) सुखसाध्य ii) कृच्छ्रसाध्य

i) **सुखसाध्य**[2]—जिस रोग के हेतु, पूर्वरूप, रूप, अल्प हों, दूष्य रोगानुसार दोष के समान न हों, दोष रोगी की प्रकृति के समान न हों, देश एवं काल भी दोष के समान न हो, रोग मर्मस्थान पर न हो, रोग की गति एक मार्गी हो, रोग नवीन व उपद्रव रहित हो, शरीर बलवान हो, चिकित्सा के चतुष्पाद सम्पन्न हों तब वह रोग 'सुख साध्य' होता है। इस प्रकार के रोग चिकित्सा करने पर शीघ्र शांत हो जाते हैं।

ii) **कृच्छ्रसाध्य**[2]—जब रोग के हेतु, पूर्वरूप व रूप मध्यम बल के हों, काल-प्रकृति या दूष्य में से कोई दोष के समान हो, रोगी गर्भिणी, बालक या वृद्ध हो तथा रोग उपद्रव युक्त हो, रोग पुराण व मर्मास्थित हो, द्विमार्गी हो या क्षय, क्षार या अग्निकर्म साध्य हो तथा चिकित्सा के चतुष्पाद सम्पन्न न हों तब रोग 'कृच्छ्रसाध्य' कहलाता है। इस प्रकार के रोग कठिनाई से ठीक होते हैं।

VII. असाध्यता की दृष्टि से

किसी रोग की असाध्यता के अनुसार रोग दो प्रकार के होते हैं—

i) याप्य ii) प्रत्याख्येय

i) **याप्य**—रोग असाध्य हो किन्तु पथ्य सेवन व औषध सेवन के बल पर रोगी जीवित रहता है। इस प्रकार के रोग चिकित्सा चलने तक शांत रहते हैं एवं चिकित्सा बंद होने पर उसका पुनर्भव हो जाता है[3]।

1. सुखकार्यं यत् साध्यं कृच्छ्रसाध्यमथापि च। (च.सू. 12/3)
2. हेतवः पूर्वरूपाणि रूपाण्यल्पानि यस्य च।
न च दुष्यानुगे दुष्टे न दोषैः प्रकृतिर्समैः॥
न च कालानुबन्धित्वे न देशे दुरुपक्रमः।
गतिर्ऋजुका नवत्वं च तेष्वल्पेष्वथो न च॥
संसर्गैकैः समुदितैः सर्वैर्वाऽपि यथायथम्।
चतुष्पादोपपन्नं च सुखसाध्यं तदा स्मृतम्॥ (च.सू. 10/11-13)
3. द्विमार्गपूर्वरूपाणां रूपाणां मध्यमे बले।
कालप्रकृतिदूष्याणां समानेऽन्यतमस्य च॥
गर्भिण्यां बालवृद्धयोश्च रोगे दुष्टोपसर्गिणि।
क्षारकर्माग्निकर्मभ्यां कृच्छ्रोपक्रमणे च॥
विपरीतेऽथवा हेतौ चतुष्पादोपपादने।
द्विरूपं तन्निदानार्थं च कृच्छ्रसाध्यं द्विदोषवत्॥ (च.सू. 10/14-16)
4. असाध्यानामुपदेष्टव्यमप्रवृत्तौ फलमेवच।
अकर्तव्यानुपक्रम्यौ हेतुतः कुशलेन च॥
त्यजेत्..... विधिना भिषक्तमः। (च.सू. 10/17-19)

ii) **प्रत्याख्येय**[1]—इसे 'अनुपक्रम' भी कहते हैं। जिसमें किसी भी प्रकार की चिकित्सा से लाभ न हो, रोगी की इन्द्रियां शिथिल हों, रोगी दुर्बल हो तथा उसमें अरिष्ट लक्षण उत्पन्न हो जायें तब वह रोगी अचिकित्स्य होता है अर्थात् चिकित्सा द्वारा ठीक नहीं होता। इस प्रकार के रोगों में चिकित्सा प्रारंभ करने के पूर्व रोगी के परिजनों को रोग के परिणाम (Prognosis) (असाध्यता) के बारे में स्पष्ट रूप से जानकारी दे देनी चाहिये।

VIII. दोषानुसार भेद

रोगारम्भक दोष के आधार पर स्थूल रूप से रोग दो प्रकार के होते हैं—

i) सामान्यज (Non Specific) ii) नानात्मज (Specific)

i) **सामान्यज**[2] **(Non Specific Disorders)**—इस वर्ग के अन्तर्गत वे रोग आते हैं जो वात, पित्त या कफ इनमें से किसी एक दोष, दो दोषों से या तीनों दोषों से या आगन्तुज कारणों से उत्पन्न होते हैं। इन रोगों के उत्पन्न होने में उक्त में से कोई भी एक या अधिक कारण हो सकते हैं। आचार्य चरक ने सामान्यज रोगों में निम्न 48 प्रकारों के रोगों को गणना की है—

1.	8 मूत्राघात	13.	5 श्वास
2.	8 उदर रोग	14.	5 हिक्का
3.	8 शीर दोष	15.	5 तृष्णा
4.	8 वीर्य दोष	16.	5 छर्दि
5.	7 कुष्ठ	17.	5 अरुचि
6.	7 विसर्प	18.	5 शिरो रोग
7.	7 प्रमेहपिड़िका	19.	5 हृदरोग
8.	6 अतिसार	20.	5 पाण्डु रोग
9.	6 उदावर्त	21.	5 उन्माद
10.	5 गुल्म	22.	4 अपस्मार
11.	5 प्लीहा रोग	23.	4 नेत्र रोग
12.	5 कास	24.	4 कर्ण रोग

1. ..... वक्ष्यते प्रत्याख्येयं भिषोत्तमैः।
क्रियाक्षमक्रियाकालं सर्वमार्गानुसारिणम्..... सर्वहेतुं च॥ (च.सू. 12/19-20)
2. a) तत्र विकाराः-सामान्यजाः, नानात्मजाश्च।
तत्र सामान्यजाः पूर्वमहोदोषैः व्याख्याताः॥ (च.सू. 20/10)
b) स एषोऽष्टौ प्रकारो द्विरष्टौ वा, दोषाः प्रदुष्टा दुष्टस्त्रयो वा। कुर्वन्ति रोगान् विविधान् तेषां सामान्यजानां मूलादयः स्मृताः॥ (च.सू. 20/12 का चक्रपाणिकृत)
c) इह खल्वात्मदोषाणि आहौ मूत्राघाताः, ...।
..... रोगाधिकाराश्चत्वारिंशत् संग्रहे समुद्दिष्टानि॥ (च.सू. 19/3)

Scanned with CamScanner

25. 4 प्रतिश्याय
26. 4 मुख रोग
27. 4 ग्रहणी दोष
28. 4 मद रोग
29. 4 मूर्च्छा
30. 4 शोष
31. 4 नपुंसकता
32. 3 शोथ
33. 3 किलास
34. 3 रक्तपित्त
35. 2 ज्वर
36. 2 व्रण
37. 2 आयाम
38. 2 गृध्रसी
39. 2 कामला
40. 2 आम
41. 2 अर्श
42. 2 वातरक्त
43. एक उरुस्तम्भ
44. एक संन्यास
45. एक महागद
46. 20 कृमि रोग
47. 20 प्रमेह
48. 20 योनिव्यापद्

ii) नानात्मज रोग[1] (**Specific Disorders**)—नानात्मज रोग उन्हें कहते हैं जो निश्चित रूप से किसी एक ही दोष से उत्पन्न होते हैं।

नानात्मज से अभिप्राय है कि उन-उन रोगों को उन्हीं विशेष दोषों से उत्पन्न जानना उन्हीं दोषों के विपरीत उनकी चिकित्सा की जाये क्योंकि सही दोष का ज्ञान होने पर ही समुचित चिकित्सा की जा सकती है।

नानात्मज रोग 'निज' होते हैं तथा सभी निज रोग बिना वात-पित्त-कफ के अनुबन्ध से नहीं होते[2]।

आचार्य चरक ने नानात्मज (केवल एक दोषज) विकारों में 80 प्रकार के वात विकार, 40 प्रकार के पित्त विकार व 20 प्रकार के कफज (श्लेष्मज) विकारों का वर्णन चरक संहिता के सूत्रस्थान अध्याय 20 में किया है।

80 वात नानात्मज विकार (आचार्य चरक मतानुसार)

वात दोष से उत्पन्न होने वाले रोग अनगिनत हैं। उनमें से विशेष रूप से प्रकट होने वाले 80 प्रकार के रोग हैं जो निम्नानुसार हैं[3]—

---

1. नानात्मजांस्त्वहमध्यायेऽनुव्याख्यास्यामः, तद्यथा अशीतिर्वातविकाराः, चत्वारिंशत्पित्त विकाराः, विंशतिः श्लेष्मविकाराः। (च.सू. 20/10)
2. सर्व एव निजा विकारा नान्यत्र वातपित्तकफेभ्यो निर्वर्तन्ते; यथा हि..... वातपित्तकफानुबंधेभ्यो (च.नि. 1/4)
3. तत्रेमे वातविकाराणामुपव्याख्यास्यामः;
तद्यथा-नखभेदो विपादिका च, पादशूलं च.....।
..... वातविकाराणामशीतिसंख्यानामयमुपदेशतो व्याख्यातः। (च.चि. 28/10)

1. नखभेद (नाखूनों का टूटना-Cracking of Nails)
2. विपादिका (हाथ पैर फटना- Cracking of Soles)
3. पाद शूल (पैरों में दर्द- Pain in feet)
4. पादभ्रंश (पैर लड़खड़ाना- Foot drop)
5. पादसुप्ता (पैर सुन्न होना- Numbness in feet)
6. वातखुद्दता (छोटी संधियों में दर्द- Pain in small joints)
7. गुल्फग्रह (गुल्फ में जकड़ाहट- Stiffness in ankles)
8. पिण्डिकोद्वेष्टन (पिण्डलियों में ऐंठन- Cramps in calf region)
9. गृध्रसी (गृध्रसी नाड़ी में शोथ एवं वेदना- Sciatica)
10. जानुभेद (जानुसंधि में टूटने सी पीड़ा- Tearing pain in knees)
11. जानुविश्लेष (जानु संधि में शैथिल्य- Dislocation of knees)
12. उरुस्तम्भ (उरु प्रदेश में जकड़ाहट- Stiffness in thighs)
13. उरुसाद (उरु प्रदेश में थकावट- Loss of movement in thighs)
14. पाङ्गुल्य (पंगु होना- Lameness)
15. गुदभ्रंश (गुदा का बाहर निकलना- Prolapse of rectum)
16. गुदार्ति (गुदा में वेदना- Pain in anus)
17. वृषणाक्षेपश्च (वृषण का ऊपर उठना- Twitching in scrotum)
18. शेफः स्तम्भ (लिंग स्तब्धता- Stiffness in penis)
19. वंक्षणानाह (वंक्षणप्रदेश में तनाव- Pain in groins)
20. श्रोणिभेद (कटिशूल- Pain in pelvis - backache)
21. विड्भेद (पतला मल त्याग- Diarrhoea)
22. उदावर्त (डकार आना व पेट फूलना- Upward movement of Vayu)
23. खञ्जता (लंगड़ाकर चलना- Limping)
24. कुब्जता (झुककर चलना- Hunch back)
25. वामनत्व (नाटा-बौना) होना- Dwarfism)
26. त्रिकग्रह (कटि में जकड़ाहट- Stiffness in sacral region)
27. पृष्ठग्रह (कमर में जकड़ाहट- Stiffness in back)
28. पार्श्वमर्द (Sides pain)
29. उदरावेष्ट (उदरशूल- Twisting pain in abdomen)
30. हृन्मोह (हृदकार्य अवरोध- Cardiac dysfunction)
31. हृद्द्रव (हृद गति तीव्र होना- Palpitation)
32. वक्षउद्घर्ष (वक्ष प्रदेश में घर्षण की अनुभूति- Shivering in chest)
33. वक्षोपरोध (हृद व फुफ्फुस की गतियों में रुकावट- Constriction in chest)

Scanned with CamScanner

34. वक्षस्तोद (छाती में चुभन- Chest pain)
35. बाहुशोष (बांह सूखना- Wasting of arms)
36. ग्रीवास्तम्भ (गर्दन में जकड़न- Stiffness of neck)
37. मन्यास्तम्भ (ग्रीवा नाड़ी में जकड़न- Stiffness of sternomastoid muscles)
38. कण्ठोद्ध्वंस (कण्ठ में पीड़ा होना- Hoarseness of voice)
39. हनुभेद (जबड़ों में दर्द- Pain in Jaw)
40. ओष्ठभेद (ओंठ फटना- Cracking in Lips)
41. अक्षिभेद (आंख में दर्द- Pain in eyes)
42. दन्तभेद (दांत में दर्द- Pain in teeth)
43. दन्तशैथिल्य (दांत का ढीलापन- Looseness of teeth)
44. मूकत्व (गूंगापन- Dumbness)
45. वाक् संग (बोलने में कठिनाई- Stammering)
46. कषायास्यता (मुख का कसैलापन- Astringent taste in mouth)
47. मुखशोष (मुख का सूखना- Dryness of mouth)
48. अरसज्ञता (स्वादानुभूति न होना- Loss of taste)
49. घ्राणनाश (सूंघने की शक्ति का अभाव- Loss of smelling power)
50. कर्णशूल (कान में दर्द- Otalgia / earache)
51. अशब्दश्रवण (Tinitus in ears)
52. ठच्चैःश्रुति (Difficulty in hearing)
53. बधिर्य (Deafness)
54. वर्त्मस्तम्भ (Stiffness in Eye lids)
55. वर्त्म संकोच (Contraction of eye lids)
56. तिमिर (Loss of vision / Cataract)
57. अक्षि शूल (Pain in eyes)
58. अक्षिभ्रुदास (Squint)
59. भ्रूभ्रुदास (Twisting of eyebrows)
60. शंखभेद (Pain in temporal region)
61. ललाट भेद (Pain in forehead)
62. शिरोरुक् (Headache)
63. केशभूमिस्फुटन (Cracking of scalp)
64. अर्दित (Facial Paralysis)
65. एकांग रोग (Monoplegia)
66. सर्वांग रोग (Polyplegia)

67. आक्षेपक (Convulsions)
68. दण्डक (Tetanic convulsions)
69. तम (Feeling of darkness in front of eyes)
70. भ्रम (Vertigo, giddiness)
71. वेपथु (Tremors)
72. जृम्भा (Yawning)
73. हिक्का (Hiccough)
74. विषाद (Depression)
75. अतिप्रलाप (Excessive delirium)
76. रौक्ष्य (Roughness)
77. पारुष्य (Coarseness)
78. श्यावारूणाभासता (Bluish / Reddish texture)
79. अस्वप्न (Insomina)
80. अनवस्थितचित्तत्व (Unstability of mind)

अन्य नानात्मज वात विकार[1]

आचार्य चरक ने निम्न अन्य वातजन्य लक्षण चरक संहिता सूत्र स्थान में वर्णित किए हैं—

1. स्रंस (Separation)
2. भ्रंश (Dislocation)
3. व्यास (Division or Attachement)
4. संग (Obstruction)
5. भेद (Tearing)
6. साद (Malaise)
7. हर्ष (Exhilaration)
8. तर्ष (Thirst)
9. कम्प (Tremors)
10. वर्त (Circumvention)
11. चाल (Looseness)
12. तोद (Piercing pain)
13. व्यथा (Body pains)
14. चेष्टा (Movements)

1. तत्रेमे रोगा-भ्रंश-व्यास-संग-भेद-साद-हर्ष-तर्ष-कम्प-वर्त-चाल-तोद-व्यथा-चेष्टा-घात-पक्ष-विघात-सुप्ति-आक्षेपपर्व-बन्धाय-विसमुद्भव-शोष-शूल-सुप्ति-संकोच-स्तम्भन-वेपनादीनां च वायो. कर्माणि, तैरन्विता वातिकावस्थेत्यध्यवस्येत्। (च.सू. 20/12)

Scanned with CamScanner

15. खर (Coarseness)
16. परुष (Roughness)
17. विशद (Non Sliminess)
18. सुषिर (Porousness)
19. अरुण वर्ण (Reddish Lustre / Texture)
20. कषाय (Astringent taste)
21. विरसमुखत्व (Unnatural taste of mouth)
22. शोष (Wasting)
23. शूल (Pain)
24. सुप्ति (Numbness)
25. संकोच (Contraction)
26. स्तम्भन (Stiffness)
27. खञ्जता (Limping)

आचार्य सुश्रुतसेन ने भी अन्य प्रकार के नानात्मज वात विकारों का वर्णन किया जो निम्न हैं'-

1. आध्मान (Tympanitis)
2. स्तम्भन (Stiffness)
3. रौक्ष्य (Roughness)
4. स्फुटन (Crackling)
5. विमथन (Pricking pain)
6. शोष (Imitation)
7. कम्प (Tremors)
8. प्रतोद (Piercing pain)
9. कण्ठध्वंस (Hoarseness of voice)
10. अवसाद (Depression)
11. भ्रमक (Vertigo)
12. क्लिपन (Tenderness)
13. स्रंस (Separation)
14. शूल (Pain)
15. पारुष्य (Coarseness)
16. कर्णनाद (Tinitus)

1. "अथवा नानाविधान् मरुतः विविधान् क्षोभकान् प्रति:।
.....विद्यात् कर्मसमुत्थि प्रकृतिः वातः स्यात् कषायेताः।"
(च.वि. की वसुधर टीका से उद्धृत)

17. पाचन विषमता (Indigestion)
18. भ्रंश (Dislocation)
19. दृष्टि प्रमोह (Disturbance of vision)
20. विस्पन्दन (Throbbing, Pulsations)
21. उद्घट्टन (Opening up as a lid)
22. ग्लपन (Cold Extremities, Numbness)
23. अनिद्रा (Insomnia)
24. ताड़न (Beating)
25. पीड़न (Pressing)
26. नाम (General movements)
27. उन्नाम (Raising, Lifting up)
28. विषाद (Depression)
29. भ्रम (Vertigo)
30. परिपतन (Falling, Injuring)
31. जृम्भा (Yawning)
32. रोमहर्ष (Horripilation)
33. विक्षेप (Throwing away, hurling)
34. आक्षेप (Convulsions)
35. शोष (Wasting)
36. ग्रहण (To recieve, contraction)
37. सुषिरता (Porosity)
38. छेदन (Tearing)
39. वेष्टन (Cramps)
40. श्यावारुणता (Blackish lusture)
41. अरुणवर्णता (Reddish lusture)
42. तृष्णा (Thirst)
43. अनिद्रा (Insomnia)
44. संग (Obstruction)
45. कषायास्यता (Astringent bitter taste of mouth)

40 पित्त नानात्मज विकार (आचार्य चरक मतानुसार)'

असंख्य पित्त विकारों में विशेष रूप से व्यक्त होने वाले निम्न 40 पैत्तिक विकारों का वर्णन आचार्य चरक ने किया है-

1. पित्तविकारांस्त्वपरिसंख्यया उपदेक्ष्यामः तद्यथा)- ओषः, प्लोषः.....
.....भगवान्पुनर्वसुरात्रेयः प्रोवाच ॥ (च.सू. 20/14)

Scanned with CamScanner

1. ओष (सम्पूर्ण शरीर में तीव्र दाह व बेचैनी- Hoating sensation)
2. स्तोष (आग से जलने जैसी दाह की पीड़ा- Scorching)
3. दाह (शरीर में जलन- Burning sensation)
4. दवथु (इंद्रियों में जलन- Intense Burning)
5. धूमक (मुंह से धुंआ निकलने जैसी अनुभूति- Fuming)
6. अम्लक (खट्टी डकार आना- Hyper acidity)
7. विदाह (अंगों में जलन- Burning in stomach & oesophagus)
8. अंतर्दाह (भीतरी अंगों में जलन- Internal burning)
9. अंसदाह (कंधे में जलन- Burning in shoulder region)
10. ऊष्माधिक्य (ताप का बढ़ना- Pyrexia)
11. अतिस्वेद (Excessive perspiration)
12. अंगगन्ध (Foul smell in body)
13. अंगावदरण (अंगों का फटना- Tearing of body parts)
14. शोणितक्लेद (रक्त का पतला होना- Excessive fluidity in blood)
15. त्वग्दाह (Burning in skin)
16. त्वगवदरण (त्वचा का फटना- Tearing of superficial skin)
17. चर्मावदलन (Tearing of deeper skin)
18. मांसक्लेद (मांस का सड़ना- Pustules)
19. रक्तकोठ (लाल चकते निकलना- Urticarial patches)
20. रक्त विस्फोट (Inflammatory rashes)
21. रक्तपित्त (Internal Haemorrhage)
22. रक्त मण्डल (Haemorrhagic patches)
23. हरितत्व (नख, नेत्र, मूत्र आदि का हरा रंग होना- Greenishness of body)
24. नीलिका (नेत्र एवं त्वचा का नीलापन- Bluishness of body parts)
25. कक्षा (कांख में व्रण होना- Herpese)
26. हारिद्रत्व (Yellowishness of body parts)
27. कामला (Jaundice)
28. तिक्तास्यता (मुख का तीता होना- Bitterness of mouth)
29. शोणितगंधास्यता (मुख से रक्त की गंध आना- Bloody smell from mouth)
30. तृष्णाधिक्य (Excessinve thirst - Polydypsia)
31. पूतिमुखता (मुख से दुर्गन्ध आना- Footid smell from mouth)
32. आतृप्ति (Loss of contentment)
33. आस्यपाक (Stomatitis)
34. गलपाक (Inflammation in throat)

35. अक्षिपाक (Inflammation of eyes)
36. गुदपाक (Inflammation in anus)
37. मेढ्रपाक (Inflammation in penis)
38. जीवादान (मुख से शुद्ध रक्त निकलना- Discharge of pure blood)
39. तमः प्रवेश (आंखों के आगे अंधेरा छाना- Fainting)
40. हारिद्र-हरित नेत्र-मूत्र-वर्चस (Green or yellow colour of eyes, urine and faeces)

इन 40 विकारों के अतिरिक्त आचार्य चरक ने निम्न पित्तज विकार और बताये हैं[1]-

1. दाह (Burning)
2. ऊष्णता (Feeling of warmth)
3. पाक (Inflammation)
4. क्लेद (Fluidity)
5. कोथ (Decaying of body parts / gangrene)
6. स्राव (Increased secretions / moisture)
7. राग (Different body colours)
8. पूतिगन्ध (Fishy smell)
9. हरित-हारिद्र वर्ण (Greenish - Yellowish colour)
10. कटु-अम्ल-तिक्त रस (Bitter and Sour taste)

आचार्य सुदान्त सेन ने निम्न 21 प्रकार के रक्तज पित्त विकार बताये हैं[2]-

1. विस्फोट (Inflammatory Rashes)
2. अम्लक (Hyper acidity)
3. धूमक (Fuming)
4. प्रलपन (Talking non sense)
5. स्वेद स्रुति (Excessive sweating)
6. मूर्च्छा (Fainting)
7. दौर्गन्ध्य (Foul smell in body)
8. मद (Alcoholism)
9. दरण (Cracking)
10. विसरण (Diffusion)
11. पाक (Inflammation)

---

1. दाहोष्णपाकस्वेदक्लेदकोथकण्डूस्रावरागपूत्यर्चवर्ण-रसाधिनिर्वर्तनं पित्तस्य कर्माणि, तैरार्तिजं पित्तविकारमेवाध्यवस्येत्॥ (च.सू. 20/15)
2. विस्फोटकाम्लक धूमका: प्रलपनं स्वेदस्रुति मूर्च्छा॥

.....

वर्चः पाण्डु विवर्णितः कफविसर्पाक्लेदि पित्तन्य तै॥ (मा.नि. रक्त पित्त 5 पर मधुकोष टीका)

Scanned with CamScanner

12. अरति (Restlessness)
13. तृष्णा (Thirst)
14. भ्रम (Vertigo)
15. ऊष्मा (Feeling of heat)
16. अतृप्ति (Loss of contentment)
17. तमः प्रवेश (Fainting)
18. दाह (Burning sensation)
19. अम्ल-कटु-तिक्त रस (Sour & bitter taste of mouth)
20. क्वोथता (Decaying of body parts)
21. पाण्डु के अतिरिक्त अन्य वर्ण होना (Discolouration of body)

20 श्लेष्म नानात्मज विकार (आचार्य चरक मतानुसार)[1]

मुख्यत: प्रकट होने वाले 20 प्रकार के नानात्मज कफज (श्लेष्मज) विकार जि। जिनका वर्णन आचार्य चरक ने किया है-

1. तृप्ति (बिना खाये पेट भरा प्रतीत होना- Feeling of fullness)
2. तन्द्रा (Drowsiness)
3. निद्राधिक्य (Excessive sleep)
4. स्तैमित्य (गीले कपड़े से ढका प्रतीत होना- Feeling of being covered with wet cloth)
5. गुरुगात्रता (Heaviness in body)
6. आलस्य (Lethargy)
7. मुखमाधुर्य (Sweetness of mouth)
8. मुखस्राव (Excessive salivation)
9. श्लेष्मोद्गिरण (कफ निकलना- Mucous expectoration)
10. मलाधिक्य (Excess of dirt, waste product)
11. बलासक (Excess of mucous)
12. अपक्ति (Indigestion)
13. हृदयोपलेप (Feeling of plastering over chest)
14. कण्ठोपलेप (Plastering of throat)
15. धमनीप्रतिचय (Atherosclerosis / Hyperlipidaemia)
16. गलगण्ड (Goitre)
17. अतिस्थूलता (Obesity)
18. शीतामि (Poor appetite)
19. उदर्द (शरीर पर चकत्ते पड़ना- Urticarial eruptions)
20. श्वेतावभासता (त्वचा में सफेदी दिखना- White lusture / texture)

1. स्वं लिंगमस्य विविधस्य तथा व्याख्यास्यामः, तद्यथा-तृप्तिश्च, तन्द्रा च, निद्राधिक्यं च ..... आश्वेतावभासता व्याख्यास्यामः॥ (च.सू. 21/

आचार्य चरक ने उपरोक्त नानात्मज विकारों के अतिरिक्त अन्य श्लेष्म विकारों का भी वर्णन किया है, जो निम्न प्रकार हैं[1]-

1. शैत्यता (Coldness)
2. श्वेतता (Whiteness)
3. कण्डू (Itching)
4. स्थैर्य (Immobility)
5. गौरव (Heaviness)
6. स्नेह (Unctuousness)
7. सुप्ति (Numbness)
8. क्लेद (Moistening)
9. उपदेह (Mucous Covering)
10. बन्ध (Binding)
11. माधुर्य (Sweetness)
12. चिरकारित्व (Chronicity)
13. स्तम्भ (Stiffness)

आचार्य 'सुदान्त सेन' ने निम्नलिखित श्लेष्मज विकारों का वर्णन किया है[2]-

1. तृप्ति (Fullness of Stomach)
2. तन्द्रा (Drowsiness)
3. गुरुता (Heaviness)
4. स्तैमित्य (Feeling of being covered with wet clothes)
5. कठिनता (Hardness)
6. मलाधिक्य (Excess of waste product)
7. स्नेह (Unctuousness)
8. अपचन (Indigestion)
9. उपलेप (Feeling of Coating/Covering)
10. शैत्य (Feeling of Cold)
11. कफप्रसेक (Mucous expectoration)
12. कण्डू (Itching)
13. चिरकृर्तत्व (Chronicity)
14. शोथ (Oedema)

1. श्वैत्य-शैत्य-कण्डू-स्थैर्य-गौरव-स्नेह-सुप्ति-क्लेद-उपदेह-बंध-माधुर्य..... .....तैरिवातं श्लैष्मिकानामेकाश्मजन्मनाम्। (च.सू. 26/19)
2. तृप्तिस्तन्द्रा गुरुत्व स्तैमित्यं..... ..... फेनोपि कफस्य जानीयात्॥ (च.नि. पंचनिदान 5 पर मधुकोष टीका)

Scanned with CamScanner

15. निद्राधिक्य (Excessive sleep)
16. आलस्य (Lassitude)
17. श्वेत वर्ण (Whitish colour of body)
18. मधुर रस (Sweet taste)
19. लवण रस (Salty taste)

III. त्रिविध व्याधि भेद

अनेक आचार्यों ने व्याधि के त्रिविध भेद माने हैं। इन त्रिविध भेदों का स्वरूप एक होते हुये भी नामकरण में अन्तर है जो सूत्ररूप में प्रस्तुत निम्न सारणी से स्पष्ट है–

I. त्रिविध भेद
   (i) आध्यात्मिक (ii) आधिदैविक
   (iii) आधिभौतिक
II. त्रिविध भेद
   (i) निज (Endogenous) (ii) आगन्तुज (Exogenous)
   (iii) मानस (Psychological)
III. त्रिविध भेद
   (i) शाखागत (ii) मर्मास्थि संधिगत
   (iii) कोष्ठाश्रित
IV. त्रिविध भेद
   (i) प्रत्युपन्न कर्मज (ii) पूर्वकर्मज (दैव कर्मज)
   (iii) परकृत कर्मज
V. त्रिविध भेद
   (i) औपसर्गिक (ii) प्राक्केवल
   (iii) अन्यलक्षण
VI. त्रिविध भेद
   (i) दोषज (ii) कर्मज
   (iii) दोष-कर्मज
VII. त्रिविध भेद
   (i) आग्नेय (ii) सौम्य
   (iii) वायव्य
I. त्रिविध भेद

पुरुष शरीर में होने वाले दुःख संयोग के आधार पर व्याधि के 3 भेद वर्णित किये गये हैं। आचार्य सुश्रुत के अनुसार व्याधि तीन प्रकार की होती है[1]–

1. तत्र दुःख विविधम्-आध्यात्मिकम्, आधिदैविकम्, आधिभौतिकम्॥ (सु.सू. 24/4)

(i) आध्यात्मिक (ii) आधिदैविक
(iii) आधिभौतिक

(i) **आध्यात्मिक**—शारीरिक व मानसिक दोषों से होने वाले रोग 'आध्यात्मिक रोग' कहे जाते हैं। 'आध्यात्म' शब्द से शरीर एवं मन में होने वाले वातज-पित्तज-कफज रोग व मानस दोष रज-तम से होने वाले रोगों का ग्रहण होता है। अतः इनसे होने वाले रोगों को 'आध्यात्मिक' रोग कहा जाता है। इसके भी तीन भेद हैं–

(अ) आदि बल प्रवृत्त (ब) जन्म बल प्रवृत्त
(स) दोष बल प्रवृत्त

(अ) आदिबल प्रवृत्त रोग (Heriditary Disorders)

शुक्र-शोणित के विकार से होने वाले रोग 'आदिबल प्रवृत्त' कहलाते हैं। अर्थात् माता के रज (Ovum) एवं पिता के शुक्र (Sperm) में दोष (विकार) होने से उत्पन्न सन्तति में प्रवेश करने वाले रोग 'आदिबल प्रवृत्त' कहे जाते हैं' यथा- कुष्ठ, अर्श इत्यादि।

आधुनिक मतानुसार इसे वंशानुगत या Heriditary Disorders कहा जाता है। मनुष्य के शरीर के प्रत्येक Cell के अन्दर केन्द्रक (Nucleus) होते हैं एवं उनमें उपस्थित D.N.A. (De-oxy Ribo Neucfic acid) पर गुणसूत्र (Chromosomes) पाये जाते हैं जिनमें विकृति होने पर आगामी संतति में भी विकृति स्वरूप रोग उत्पन्न होते हैं। ये क्रोमोसोम माता पिता के गुण-दोष वाहक होते हैं। आयुर्वेद में इन्हें "बीजभागावयव" कहा है। आचार्य चरक ने स्पष्टतः कहा है कि माता-पिता के जिस 'बीज भागावयव' में दोष होता है उससे संबंधित विकार सन्तति में प्रकट होते हैं[2]।

कुष्ठ, अर्श के अतिरिक्त अनेक अन्य व्याधियों का वर्णन आधुनिक चिकित्सा शास्त्र में मिलता है जो वंशानुगत (Heriditary disorders) होते हैं। यथा-शोणितक्रियता (Haemophilia), विचर्चिका (Eczema), निकट दृष्टि दोष (Mycpia), मोतियाबिन्द (Cataract), रक्तभाराधिक्य (Hypertension), मधुमेह (Diabetes) कटा होंठ (Cleft Palate), थेलीसीमिया (Thalessaemia), शोणिवर्तुलवन्य विकार, आदि रोग Heriditary होते हैं जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में स्थानान्तरित होते हैं।

कुछ रोग ऐसे होते हैं जो सिर्फ पुरुषों में ही प्रकट होते हैं। महिलायें इन रोगों की वाहक (Carrier) होती हैं उनमें इन रोगों के लक्षण प्रकट नहीं होते पर इनसे उनकी पुरुष संतति (Male Child) में यह रोग प्रकट होता है यथा Haemophilia, Colour blindness आदि। इन व्याधियों को Sex linked व्याधियाँ कहते हैं।

1. तत्र, आदिबलप्रवृत्ता ये शुक्रशोणितदोषजाः कुष्ठार्शः प्रभृतयः। तेऽपि द्विविधा-मातृजाः, पितृजाश्च॥ (सु.सू. 24/5)
2. यस्य यस्य ह्यवयवस्य बीजे बीजभागे, वा दोषः प्रकोपमापद्यते, तं तमवयवं विकृतिरापद्यते॥ (च.शा. 4/30)

Scanned with CamScanner

आचार्य सुश्रुत ने इन्हें "आदिबल प्रवृत्त", वाग्भट्ट ने "सहज" तथा आचार्य भेल ने "प्रकृतिज" कहा है। ये भी दो प्रकार के होते हैं—

i. मातृज ii. पितृज

i. मातृज— माता के रजो दोष से उत्पन्न होने वाले रोग।

ii. पितृज—पिता के वीर्य दोष से उत्पन्न होने वाले रोग।

(ब) जन्मबल प्रवृत्त रोग (Congenital Disorders)

गर्भधारण के पश्चात माता के मिथ्या आहार-विहार से जो रोग उत्पन्न होते हैं, "जन्मबल प्रवृत्त" कहलाते हैं[1] जैसे- मूक, मिन्मिन, पंगु, जन्मांध, बधिर आदि। आचार्य सुश्रुत के अनुसार जन्म के समय आघात या उपसर्ग से उत्पन्न रोगों को भी जन्मबल प्रवृत्त रोग कहा गया है[2]-

जन्मबल प्रवृत्त रोग दो प्रकार के होते हैं[3]-

i. रसकृत ii. दौहृदापचार कृत

i. **रसकृत**—गर्भावस्था में किसी विशिष्ट आहार का निरन्तर सेवन करने से होने वाले रोग "रसकृत" कहलाते हैं। जैसे-अधिक कषाय रस के सेवन से कृष्ण वर्ण, मधुर रस के सेवन से मधुमेह तथा स्थूलता, अत्यधिक अम्ल रस के सेवन से रक्तपित्त व नेत्र विकार तथा कटु रस सेवन से शुक्राल्पता, मद्य सेवन से स्मृति नाश आदि रोग उत्पन्न हो सकते हैं।

ii. **दौहृदापचारकृत**—गर्भिणी के गर्भकाल में उसे जो विशिष्ट आहार-विहार करने की इच्छायें होती हैं उन्हें 'दौहृद' कहा जाता है। इन इच्छाओं की पूर्ति न होने से गर्भस्थ शिशु में शारीरिक व मानसिक विकार पैदा हो सकते हैं।

इसके अतिरिक्त भी जन्मबल प्रवृत्त रोग दो प्रकार के होते हैं-

1. अस्वाभाविक वृद्धि युक्त या विकृताकार संतान (Malformation & Developmental errors) यथा अंगों की अधिकता या अल्पता, कटा होंठ, तालु का न होना (Absence of Anus) या अंग विपर्यय यथा हृदय का दाहिनें ओर (Dextrocardia) होना आदि।

2. माता को गर्भावस्था के दौरान हुये उपसर्ग फिरंग (Syphilis), आंत्रिक ज्वर (Typhoid), यक्ष्मा (Tuberculosis), मसूरिका (Measels) आदि तथा प्रसव के दौरान आघात होने पर (Forceps delivery) उत्पन्न होने वाले रोग भी जन्म बल प्रवृत्त रोग कहे जाते हैं।

1. जन्मबलप्रवृत्ता ये मातृजं पितृजं वा दोषमाश्रित्य मूकमिन्मिनपङ्गुजात्यन्धबधिरत्वादयो विकारास्ते जन्मबलप्रवृत्ता जात्या उच्यन्ते। (सुसू 24/5)
2. तत्र द्विविधा - रसकृता दौहृदापचारकृताश्च। (सुसू 24/5)
3. मधुरातिरसप्रसंगात् मूकमिन्मिनपङ्गुता च।
..... शस्त्रेणोत्पीडनं च॥ (च.वि. 8/9)

(स) दोषबल प्रवृत्त रोग (Functional Disorders)

शारीरिक दोषों (वात-पित्त-कफ) व मानसिक दोषों (रज-तम) के कारण उत्पन्न हुये रोगों को "दोषबल प्रवृत्त" रोग कहते हैं। इन दोषों के रोग या तो किसी रोग के उपद्रव स्वरूप उत्पन्न होते हैं या मिथ्या आहार-विहार से दोष प्रकोप होने से उत्पन्न होते हैं। ये रोग पुनः दो प्रकार के होते हैं-

i. आमाशय समुत्थ ii. पक्वाशय समुत्थ

i. **आमाशय समुत्थ**—आमाशय स्थल से उत्पन्न होने वाले रोग जैसे हिक्का-श्वास आदि रोग।

ii. **पक्वाशय समुत्थ**—पक्वाशय स्थल से उत्पन्न होने वाले रोग जैसे अतिसार, विसूचिका आदि रोग।

(ii) **आधिदैविक**—आधिदैविक व्याधियां भी तीन प्रकार की होती हैं-

(अ) कालबल प्रवृत्त (Seasonal)

(ब) दैवबल प्रवृत्त (Providential)

(स) स्वभावबल प्रवृत्त (Natural disorders)

(अ) काल बल प्रवृत्त रोग (Seasonal Disorders)

जो व्याधि दिन, रात, ऋतु, अयन तथा संवत्सर अर्थात् "षडऋतु कल्प" के अनुसार उनके प्रभाव से उत्पन्न होती है उसे "कालबल प्रवृत्त" रोग कहते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं-

i. व्यापन्न ऋतुकृत ii. अव्यापन्न ऋतुकृत

i. **व्यापन्न ऋतुकृत**—विकृत ऋतुओं के प्रभाव से उत्पन्न व्याधियां "व्यापन्न ऋतुकृत" कहलाती हैं। जैसे ग्रीष्म ऋतु में प्रचण्ड गर्मी पड़ना या गर्मी न होकर वर्षा होना या कभी वर्षा होना कभी ठण्ड पड़ना। यह ग्रीष्म ऋतु का व्यापन्न है। इस प्रकार छः ऋतुओं का हीन अति एवं मिथ्या योग होने से 18 प्रकार की व्यापत्तियां उत्पन्न होती हैं[1]।

ii. **अव्यापन्न ऋतुकृत**—स्वाभावतः जिस ऋतु में जिस दोष का स्वाभाविक संचय, प्रकोप व प्रशमन होता है उसी क्रम के अनुसार उस ऋतु में उत्पन्न होने वाली व्याधियां "अव्यापन्न ऋतुकृत" कहलाती हैं।

यथा—वसन्त ऋतु में कफ प्रकोप होता है अतः वसन्त ऋतु में होने वाली कफज व्याधियां "अव्यापन्न ऋतुकृता" कहलाती हैं।

1. दोषबलप्रवृत्ता ये आमपक्व समुत्थास्त्रिव्याहारविधारकृताश्च, तेऽपि द्विविधाः आमाशयसमुत्थाः, पक्वाशयसमुत्थाश्च॥ (सुसू 24/5)
2. कालं तु ऋतु वर्षर्तुलिङ्गादिभिरीतलिङ्गमतिहिमं शीतलिङ्गं चतुर्भिर्व्यवस्येत्॥ (च.वि. 3/7)

Scanned with CamScanner

(ब) दैवबल प्रवृत्त (Providential or Epidemic disorders)

ग्रहों के दुष्ट होने से, दैव, गुरु, विप्र, सिद्ध, ऋषि, आदि के [illegible] अभिशाप से तथा अभिचार (मारक मंत्रों के प्रयोग) से उत्पन्न हुये रोग या [illegible] व्यक्ति को छूने से उत्पन्न संक्रमण जन्य रोगों (Epidemic) को "दैवबल प्रवृत्त" श्रेणी में रखा जाता है[1]। जनपदोध्वंसक रोगों का भी इसमें समावेश होता है। ये रोग दो प्रकार के होते हैं-

i. विद्युदशनि कृत ii. पिशाचादि कृत

i. विद्युदशनि कृत—बिजली गिरने से, उल्कापात, धूमकेतु तारा के [illegible] होने से उत्पन्न व्याधियां इसके अंतर्गत आती हैं।

ii. पिशाचादि कृत (Infectious disorders)—पिशाच (मांसभक्षी कीटाणु) जन्य व्याधियां इसके अन्तर्गत आती हैं। इसके पुनः 2 भेद हैं—

1. संसर्गज 2. आकस्मिक

1. संसर्गज (Contagious Disorders)—देवता आदि अभिशाप देने वाले की प्रत्यक्ष उपस्थिति से या संक्रामक व्याधि से ग्रस्त रोगी के साक्षात् सम्पर्क में होने वाली व्याधियों का इसमें समावेश किया जाता है। यथा-कुष्ठ, नेत्राभिष्यंद इत्यादि।

2. आकस्मिक (Sporadic Disorders)—जिन रोगों का सही कारण ज्ञात नहीं होता तथा जो व्याधियां अकस्मात् ही उत्पन्न होती हैं उन व्याधियों का समावेश इस वर्ग में किया जाता है।

(स) स्वभाव बल प्रवृत्त[2]

वो व्याधियां मानव शरीर में स्वभावतः उत्पन्न होती हैं अर्थात् जो रोग शरीर में किसी विकृति उत्पन्न हुये ही होते हैं जैसे-क्षुधा, पिपासा, वार्धक्य, निद्रा एवं मृत्यु आदि स्वभाव से ही उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार के रोगों को "स्वभाव बल प्रवृत्त" रोग कहते हैं। यह भी दो प्रकार के होते हैं-

i. कालकृत रोग ii. अकालकृत रोग

i. कालकृत—इस प्रकार के रोगों के रक्षणार्थ प्रयास करने पर भी निश्चित समय पर उत्पन्न होने वाली व्याधियां जैसे भोजन के समय क्षुधा, रात्रि में निद्रा, 70 वर्ष

1. दैवबलप्रवृत्त ये दैवोपघातविघातका अथर्वकृत उत्पद्यन्ते।
देवर्षि द्विविधः विद्युदशनिकृतः पिशाचादिकृताश्च।
पुनश्च द्विविधः- संसर्गजः, आकस्मिकाश्च। (सु.सू. 24/4)

2. स्वभावबलप्रवृत्ता, ये क्षुत्पिपासाजरामृत्युनिद्राप्रभृतयः-
तेऽपि द्विविधाः-कालजा., अकालजाश्च,
तत्र परिरक्षणकृता कालकृताः, अपरिरक्षणकृता अकालजाः॥ (सु.सू. 24/5)

की आयु पश्चात् वार्धक्य एवं 100 वर्ष की आयु पश्चात् मृत्यु काल प्रभाव से यथासमय होने वाले रोग हैं, जिन्हें "कालकृत रोग" कहा जाता है। इन्हें आचार्य सुश्रुत ने "परिरक्षणकृता रोग" भी कहा है।

ii. अकालकृत रोग—शरीर की यथोचित आहार-विहार से रक्षा न करने पर उत्पन्न होने वाले रोग, "अकालकृत रोग" कहलाते हैं। जैसा असमय बालों का सफेद होना, खालित्य, वली (त्वचा पर झुर्रियां पड़ना) आदि व्याधियां। इन्हें "अपरिरक्षणकृत रोग" के नाम से भी जाना जाता है।

(iii) आधिभौतिक (Accidental Disorders)—इसके अन्तर्गत अभिघातज व्याधियां आती हैं। इसका एक प्रकार है[1]—

(अ) संघात बल प्रवृत्त

(अ) संघात बल प्रवृत्त (Traumatic Disorders)[2]

जब दुर्बल मनुष्य अपने से बलवान पुरुष के साथ युद्ध करता है तब आघात, प्रहार, पीड़नादि से रोग उत्पन्न होते हैं। इन्हें "संघात बल प्रवृत्त" रोग कहते हैं। ये भी दो प्रकार के होते हैं-

i. शस्त्रकृत ii. व्यालकृत

i. शस्त्रकृत रोग—जो रोग शस्त्रप्रहार लाठी, तीर, तलवार आदि के प्रहार होने से आघात के परिणामस्वरूप उत्पन्न होते हैं उन्हें "शस्त्रकृत रोग" कहते हैं।

ii. व्यालकृत रोग—खूंखार एवं जंगली जानवरों, सर्प आदि के नख, तुंड, दंत, विष आदि से उत्पन्न होने वाली व्याधियां "व्यालकृत" कहलाती हैं।

इन सात प्रकार की व्याधियों में से प्रथम दो अर्थात् आदिबल प्रवृत्त व जन्मबल प्रवृत्त व्याधियां पूर्वजन्म के विकारों के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती हैं। अतः प्राग् जन्मज (Ante-natal Disorders) कहलाती हैं। शेष 5 प्रकार की व्याधियां जन्म के पश्चात् उत्पन्न होती हैं। अतः इन्हें जन्मोत्तर कालज (Post Natal Disorders) कहते हैं।

संक्षेप में निम्न सारणी द्वारा आचार्य सुश्रुत द्वारा वर्णित त्रिविध व्याधि / सप्तविध व्याधि को प्रस्तुत किया जा रहा है—

I. आध्यात्मिक-पुनः त्रिविध भेद

(I) आदिबल प्रवृत्त-पुनः दो भेद

(अ) मातृज (ब) पितृज

1. भूतेभ्योऽधिकृत्य यत्प्रवर्तते तदधिभौतिकम्। (सु.सू. 24/4 पर डल्हण)

2. संघातबलप्रवृत्ता ये अवश्यायो दुर्बलस्य बलवद्विग्रहाद् तेऽपि द्विविधः-शस्त्रकृताः, व्यालकृताश्च॥ (सु.सू. 24/6)

Scanned with CamScanner

(ii) जन्मबल प्रवृत्त-पुनः दो भेद
(अ) रसकृत (ब) दौहृदावमानज

(iii) दोषबल प्रवृत्त-पुनः दो भेद
(अ) शारीर-पुनः दो भेद
(i) आमाशयोत्थ (ii) पक्वाशयोत्थ
(ब) मानस-पुनः दो भेद
(i) राजस (ii) तामस

II. आधिदैविक-पुनः त्रिविध भेद
(i) कालबल प्रवृत्त-पुनः दो भेद
(अ) व्यापन्न ऋतुकृत (ब) अव्यापन्न ऋतुकृत
(ii) दैवबल प्रवृत्त-पुनः दो भेद
(अ) विद्युत दर्शन कृत (ब) पिशाचादिकृत-पुनः दो भेद
(i) संसर्गज (ii) आकस्मिक
(iii) स्वभावबल प्रवृत्त-पुनः दो भेद
(अ) काल कृत (ब) अकाल कृत

III. आधिभौतिक-एक भेद
(i) संघात बल प्रवृत्त-पुनः दो भेद
(अ) शस्त्रकृत (ब) व्यालकृत

II. त्रिविध व्याधि भेद[1]

निज, आगन्तुज व मानस व्याधि के भेद से रोग पुनः 3 प्रकार के होते हैं—

(i) निज व्याधि—ऐसी व्याधियां जो शारीरिक दोषों वात-पित्त कफ से उत्पन्न होती हैं अर्थात् त्रिदोष में विकृति होने से उत्पन्न होती हैं उन्हें "निज व्याधि" कहते हैं। यथा वातिक कास, पैत्तिक अतिसार, रक्तार्श आदि।

(ii) आगन्तुज व्याधि—बाह्य कारणों यथा कीटाणु, विषाक्त जल, वायु आदि से उत्पन्न होने वाले रोग या आघातज रोगों को "आगन्तुज रोग" कहते हैं। यथा-मलेरिया, आघातज व्रण, भग्न आदि।

(iii) मानस व्याधि—मानसिक दोष रज एवं तम से होने वाले रोग या इच्छित वस्तु के प्राप्त न होने से, किसी से द्वेष होने पर जो मानसिक विकार होते हैं, वे मानसिक व्याधियां कहलाती हैं। यथा-अपस्मार, उन्माद, चिंताद्वेग, अवसाद (Depression) आदि।

1. त्रयो रोगा इति-निजागन्तुमानसाः। तत्र निजः शारीरदोषसमुत्थः,आगन्तुर्भूत..... निहस्वेदपक्वयः॥ (च.सू. 11/45)

III. रोग मार्ग के आधार पर त्रिविध भेद[1]

विभिन्न स्थानों पर होने वाले रोगों के आधार पर तीन प्रकार के रोग होते हैं-

(i) शाखागत रोग—बाह्य रोग मार्ग त्वचा, रस, रक्तादि धातुओं को 'शाखा' कहते हैं तथा इनमें होने वाले रोग 'शाखाश्रित रोग' कहलाते हैं। यथा-कुष्ठ, विसर्प, ज्वर आदि।

(ii) मर्मास्थि संधिगत रोग—मध्यम रोग मार्ग सिर, हृदय, वस्ति आदि मर्मों तथा अस्थि-संधियों, स्नायु, कण्डरा आदि में होने वाली व्याधियों को 'मर्मास्थिसंधिगत' रोग कहते हैं। यथा-यक्ष्मा, आमवात, संधिवात, हृद रोग, मूत्रकृच्छ आदि।

(iii) कोष्ठगत रोग—आभ्यन्तर रोग मार्ग कोष्ठ से शरीर का मध्यभाग या महास्रोतस का ग्रहण होता है। अतः आमाशय, पक्वाशय आदि में होने वाले रोग "कोष्ठगत" कहलाते हैं। जैसे अतिसार, ग्रहणी, जलोदर आदि।

IV. कर्म की दृष्टि से त्रिविध भेद[2]

इस जन्म व पूर्व जन्म में किये गये कर्मों के आधार पर रोग तीन प्रकार के होते हैं-

(i) प्रत्युत्पन्न कर्मज—इस जन्म में शरीर द्वारा किये गये कर्मों से उत्पन्न होने वाले रोग "प्रत्युत्पन्न कर्मज" कहलाते हैं। यथा-ज्वर, अतिसार आदि।

(ii) पूर्वकर्मज रोग—पूर्वजन्म में किये गये दुष्कर्मों के परिणाम स्वरूप जो रोग उत्पन्न होते है वे 'पूर्वकर्मज' रोग कहे जाते हैं। यथा-कुष्ठ।

(iii) परकृतकर्मज रोग—दूसरों के द्वारा किये हुये अपकार से दुःख का अनुभव होता है एवं उस अपकारी के प्रति मन में रोष उत्पन्न होता है, परिणाम स्वरूप रोग की उत्पत्ति होती है। ये रोग 'परकृत कर्मज' कहलाते हैं। यथा-उद्वेग, क्रोध, विषाद आदि।

V. लक्षणों के आधार पर त्रिविध भेद[3]

रोग उत्पत्ति एवं लक्षणों के आधार पर व्याधि के तीन भेद हैं-

(i) औपसर्गिक रोग—इन्हें 'उपद्रव' भी कहते हैं। जो व्याधि प्रथम उत्पन्न हुई व्याधि के बाद उस रोग के मूल कारण से ही उत्पन्न होती है उसे 'औपसर्गिक रोग' कहते हैं।

(ii) प्राक्केवल रोग—यह व्याधि जो प्रारम्भ से ही उत्पन्न हुई हो व किसी रोग का पूर्वरूप या उपद्रव न हो वरन् स्वतंत्र रूप से उत्पन्न हुई हो उसे 'प्राक्केवल रोग' कहते हैं।

1. त्रयो रोगमार्गा-इति शाखा, मर्मास्थि सन्धयः, कोष्ठश्च।
तत्र राखा रक्तादयो.....आमपक्वाशयौ स्मृतौ॥ (च.सू. 11/48)
(अ.हृ. सू. 22/2)
2. अन्ये पुनः प्रत्युत्पन्नं कर्म परकृतमपि वर्णयन्ति।
3. तत्र, औपसर्गिको नाम यः पूर्वोत्पन्नां व्याधिं जघन्यकालजातो व्याधिरनुवर्तते, स तन्मूल इत्युपदर्शनीयः।
प्राक्केवलो नाम यः प्राग्योत्पन्नो व्याधिरपूर्वरूपोपद्रवश्च;
आगन्तवो नाम यो भविष्यद् व्याधिलक्षणकः, स पूर्वरूप मेव॥ (सु.सू. 35/15)

Scanned with CamScanner

(iii) **अन्य लक्षण व्याधि**—जो व्याधि भविष्य में होने वाली अन्य व्याधि के लक्षण के रूप में उत्पन्न हुई हो उसे 'अन्यलक्षण' या 'पूर्वरूप' कहते हैं।

VI. त्रिविध भेद[1]

पुनः रोग के तीन प्रकार होते हैं-

(i) **दोषज रोग**—जो रोग मिथ्या आहार-विहार अथवा अपचार से प्रकुपित दोष द्वारा उत्पन्न हुआ हो उसे 'दोषज रोग' कहते हैं।

(ii) **कर्मज रोग**—जो रोग पूर्वजन्मकृत कर्मों के परिणाम स्वरूप उत्पन्न हुआ हो उसे 'कर्मज' या 'अदृष्ट कर्मज' रोग कहते हैं। इस प्रकार के रोग बिना किसी दृष्ट-निदान के सेवन से उत्पन्न होते हैं।

(iii) **दोषकर्मज रोग**—पूर्वजन्म में किये गये अशुभ कर्मों तथा इस जन्म में किये गये मिथ्या आहार-विहार के सेवन से उत्पन्न रोग 'दोष-कर्मज' कहलाते हैं। इस प्रकार की व्याधि थोड़े से निदान सेवन से ही बलवान रूप में प्रकट होती है।

VII. त्रिविध भेद[2]

पुनः दोषों की प्रधानता (दोषप्राधान्य) के अनुसार रोग तीन प्रकार के होते हैं-

(i) **आग्नेय रोग**—अग्नि गुण प्रधान पित्त से उत्पन्न पित्तज व्याधियां 'आग्नेय रोग' कहलाती हैं।

(ii) **वायव्य रोग**—वात दोष से उत्पन्न वातज व्याधियां 'वायव्य रोग' कहलाती हैं।

(iii) **सौम्य रोग**—सोम-गुण प्रधान कफ से उत्पन्न होने वाले कफज रोगों को 'सौम्य रोग' कहा जाता है।

IV. चतुर्विध व्याधि

आचार्य सुश्रुत ने व्याधि के चार प्रकार बताये हैं—

I. रोगारम्भक कारणों की दृष्टि से[3]

रोग के प्रमुख निदानों (कारणों) की दृष्टि से व्याधि के निम्न चार भेद हैं-

(i) **आगन्तुज रोग**[4]—जो व्याधियां देवता, राक्षस, पिशाच आदि ग्रहों या जीवाणु (Bacteria), विषैले जन्तुओं के दंश से, अग्नि, वायु, शस्त्रादि के प्रहार से उत्पन्न होती हैं वे 'आगन्तुज रोग' कहलाती हैं। आगन्तुज व्याधियों में प्रथम व्याधि के लक्षण उत्पन्न होते हैं पश्चात दोष प्रकोप होता है। यथा-सर्पदंश, अग्निदग्ध इत्यादि।

1. दृष्टनष्टाश्रयः कश्चित् कश्चित् पूर्वोपपादकः।
तनुः संकीर्णभवश्चान्यो व्याधीनां त्रिविधा स्मृताः॥ (अ.ह.सू. 12/57)
2. अतस्त्रिविधा व्याधयः प्रकृतिपरिणामदोषाः सौम्याः वायव्याः। (च.वि. 1/4)
3. ते चतुर्विधाः- आगन्तवः, शारीराः, मानसाः, स्वाभाविकाश्चेति। (सु.सू. 1/24)
4. सुखार्थिनः सुखसाधनेषूद्यतस्यासुखमागन्तुरभिघातादिपूर्वमुपजायते तत्प्रतीकारार्थं वेदनाप्रशमनार्थं च पूर्वमागन्तवो गृह्यन्ते। (च.सू. 20/4)

(ii) **शारीरिक या निज रोग**[1]—शारीरिक रोगों को 'अन्नपान मूलक' व्याधि भी कहते हैं। क्योंकि ये व्याधियां मिथ्या आहार-विहार काल, इन्द्रिय एवं अर्थ के हीन, मिथ्या या अति योग से अथवा त्रिदोष में विषमता से उत्पन्न होती हैं। अतः शारीरिक या निज व्याधियां कहलाती हैं। इनमें प्रथम दोष प्रकोप होता है पश्चात् रोग की उत्पत्ति होती है। यथा-अतिसार, कास, पाण्डु इत्यादि।

(iii) **मानस रोग**[2]—रज एवं तम इन मानसिक दोषों के वैषम्य से होने वाली व्याधियां 'मानस रोग' कहलाती हैं। काम, क्रोध, चिन्ता, शोकादि प्रमुख मानस रोग हैं।

(iv) **स्वाभाविक रोग**[3]—शरीर में यथा समय स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होने वाली क्षुधा, पिपासा, वार्धक्य आदि व्याधियां 'स्वाभाविक रोग' कहलाती हैं। चूंकि इनसे भी शरीर में दुःख की अनुभूति होती है, अतः इन्हें व्याधि कहा गया है।

II. व्याधि के चतुर्विध भेद

रोगारम्भक दोष के आधार पर निम्न चार प्रकार के रोग होते हैं-

(i) आगन्तुज (ii) वातज
(iii) पित्तज (iv) कफज

V. व्याधि के पंच विध भेद

उपरोक्त चतुर्विध व्याधि भेद में सन्निपातज (तीनों दोषों के प्रकोप से होने वाली) व्याधि को मिलाकर व्याधि पांच प्रकार की होती हैं—

(i) आगन्तुज (ii) वातज
(iii) पित्तज (iv) कफज
(v) सन्निपातज

VI. व्याधि के षड्विध भेद

आचार्य काश्यप ने छह रसों से रोगों की उत्पत्ति के आधार पर रोग के छह प्रकार माने हैं।

(i) मधुर रस जन्य (ii) अम्ल रस जन्य
(iii) लवण रस जन्य (iv) कटु रस जन्य
(v) तिक्त रस जन्य (vi) कषाय रस जन्य

VII. सप्तविध व्याधि भेद

विभिन्न आचार्यों के मतानुसार व्याधि के निम्न सात भेद शास्त्रों में वर्णित हैं—

1. शारीरस्तत्र पानमूला वात-पित्त-कफ शोणित सन्निपात वैषम्यनिमित्ताः। (सु.सू. 1/25)
2. रजसश्च मानसौ दोषौ तयोर्विकाराः काम-क्रोध-लोभभयेर्ष्यामानशोक चिन्तोद्वेगमत्सरहर्षादयः। (च.वि. 6/5)
3. स्वभावबलप्रवृत्ताः ये क्षुत्पिपासाजरामृत्युनिद्राप्रभृतयः॥ (सु.सू. 24/7)

Scanned with CamScanner

आचार्य वाग्भट्ट ने एकदोषज, द्विदोषज व त्रिदोषज भेद से व्याधि के तीन भेद बतायें हैं-

(i) वातज— केवल विगुण वात से होनेवाली व्याधियाँ।
(ii) पित्तज— केवल विगुण पित्त से होनेवाली व्याधियाँ।
(iii) कफज— केवल विगुणित कफ से होनेवाली व्याधियाँ।
(iv) वात-पित्तज— दूषित वात एवं पित्त दोनों दोषों से होनेवाली व्याधियाँ।
(v) वात-कफज— विगुण वात एवं कफ दोष से होनेवाली व्याधियाँ।
(vi) कफ-पित्तज— दूषित कफ एवं पित्त दोष से होनेवाली व्याधियाँ।
(vii) सन्निपातज— त्रिदोष के वैषम्य (विकृति) से उत्पन्न होनेवाली व्याधियाँ।

II सप्तविध भेद[2]

आचार्य वाग्भट्ट ने व्याधि के अन्य निम्न सात भेद भी बतलायें हैं-

(i) सहज रोग— माता-पिता के बीज दोष से उत्पन्न व्याधियाँ (Genetic Disorders)।
(ii) गर्भज रोग— गर्भकाल के दौरान अपथ्य सेवन से उत्पन्न व्याधियाँ।
(iii) जातज रोग— जन्म के समय से ही उत्पन्न व्याधियाँ (Congenital Disorders)।
(iv) कालज रोग— काल (ऋतु वैषम्यादि) प्रभाव से होनेवाली व्याधियाँ (Acquired Disorders)।
(v) पीड़ाजन्य रोग— किसी प्रकार के आघात से उत्पन्न होनेवाली व्याधियाँ।
(vi) प्रभावज रोग— देवादि के प्रभाव से उत्पन्न व्याधियाँ।
(vii) स्वभावज रोग— स्वभाविक रुप से यथा समय होनेवाली व्याधियाँ।

III सप्तविध भेद[3]

आचार्य सुश्रुत द्वारा वर्णित त्रिविध व्याधियों में ही सप्तविध व्याधियों का समावेश हो जाता है। इनका विस्तृत वर्णन "त्रिविध व्याधि" के अंतर्गत किया जा चुका है।

(i) आदिबल प्रवृत्त व्याधि (ii) जन्मबल प्रवृत्त व्याधि
(iii) दोषबल प्रवृत्त व्याधि (iv) कालबल प्रवृत्त व्याधि
(v) दैवबल प्रवृत्त व्याधि (vi) स्वभावबल प्रवृत्त व्याधि
(vii) संघातबल प्रवृत्त व्याधि

VIII आधुनिक मतानुसार व्याधि भेद— आधुनिक चिकित्सा शास्त्र में व्याधि का वर्गीकरण निम्नानुसार किया गया है।

1. त्रयस्त दोष विशेषतो भूतः सप्त विधः ॥ (अ.सं.सू. 22)
2. खलिंगम्, सप्तधा गर्भाशय-सह-गर्भ-जलपीडाकालप्रभाव स्वभावजाः ॥ (अ.सं.सू. 22)
3. त्रै पुनः सप्तविधा भवन्ति; तद्यथा- आदिबलप्रवृत्ताः, जन्मबल प्रवृत्ता, दोषबलप्रवृत्ताः, संघात बलप्रवृत्ताः, दैवबल प्रवृत्ता, स्वभावबल प्रवृत्ताः इति ॥ (सु.सू. 24)

(I) प्राग्जन्मज रोग (Antinatal Disorders)
(II) जन्मोत्तरज रोग (Postnatal Disorders)

(I) प्राग्जन्मज रोग

वे व्याधियाँ जो जन्म के समय संतति में उपस्थित रहती हैं, इन्हें प्राग्जन्मज रोग कहते हैं। इसके दो भेद हैं-

(अ) आनुवांशिक (Heriditary Disorders)— जो व्याधियाँ माता-पिता से बच्चों में पीढ़ी दर पीढ़ी वंशानुगत होती है वे "वंशानुगत व्याधियाँ" कहलाती है। यथा- Haemophilia, Colour Blindness इत्यादि।

(ब) सहज रोग (Congenital Disorders)— जो व्याधियाँ संतति में जन्म के समय से ही रहती हैं, परंतु इनका अगली संतति में होना आवश्यक नहीं होता वे व्याधियाँ "सहज व्याधि" कहलाती हैं।

(ii) जन्मोत्तरज व्याधियाँ

वे व्याधियाँ जो किन्हीं कारणों से जन्म के पश्चात् जीवन के किसी भी काल में होती हैं, जन्मोत्तरज व्याधियाँ (Acquired Disorders) कहलाती हैं। इसके निम्न भेद हैं-

(अ) धातुपाक विकारज रोग (Chemical & Metabolic Disorders)
(ब) यांत्रिक रोग (Mechanical Disorders)
(स) भौतिक विकारज रोग (Physical Disorders)
(द) कीटाणुजन्य रोग (Parasitic or Infectious Disorders)

अन्य व्याधि भेदोपभेद

I इंद्रियाश्रित रोग[1]—आचार्य चरक ने कुछ ऐसे व्याधियों, जो इंद्रियों को अधिष्ठान बनाकर उत्पन्न होती हैं, का उल्लेख किया है। इंद्रियाश्रित का अर्थ है इंद्रिय में अधिष्ठान बनाकर कुपित हुए दोषों से उत्पन्न व्याधियाँ। ये तीन हैं—

1. इंद्रियोपघात—इंद्रियोपघात अर्थात् इंद्रिय विशेष का सम्पूर्ण विनाश। वस्तुतः दोषों से प्रकुपित इंद्रियाधिष्ठान का नष्ट हो जाना ही इंद्रियोपघात कहलाता है।
2. इंद्रिय अप्रवृत्ति—किसी इंद्रिय विशेष का स्वविषय प्रवृत्ति में पूर्णतः विनष्ट हो जाना।
3. इंद्रिय अयथाप्रवृत्ति—विकृत इंद्रिय का स्वक्रिया-कलाप में यथावत् न होना।

1. इंद्रियाश्रिता समाश्रित्य प्रकुप्यन्ति यदा मलाः।
उपघातोऽप्रवृत्तिश्च यथास्वं तेषामतीन्द्रियाणि ते ॥ (च.सू. 25/20)

Scanned with CamScanner

4. इंद्रियोपताप—इंद्रिय अधिष्ठानों में ईषत् वैगुण्य हो जाना।

II निदानार्थकर रोग[1]—एक रोग भी अन्य रोग की उत्पत्ति का कारण बन जाता है। अर्थात् जब एक रोग किसी अन्य रोग का कारण या हेतु निदान बन जाता है तो वह निदानार्थकर रोग कहते हैं। अभिप्राय यह है कि पूर्वरोग जिन कारणों से उत्पन्न हुआ बाद में होनेवाला रोग भी उन्हीं कारणों से उत्पन्न होता है। जैसे—ज्वर से रक्तपित्त की उत्पत्ति। कुछ व्याधियाँ स्वयं रहते हुये भी दूसरे रोग को उत्पन्न कर सकती हैं तथा दूसरे रोग स्वयं शांत हो जाते हैं परन्तु दूसरे रोगों की उत्पत्ति में कारण बनते हैं। इसमें तात्पर्य यह है कि एक रोग दूसरे रोग को उत्पन्न करता है तो वह निदानार्थकर (रोगार्थकर) रोग कहला सकता है। जैसे ज्वर संताप से रक्तपित्त तथा रक्तपित्त से क्षय उत्पन्न हो सकता है। इसी प्रकार प्लीहा वृद्धि से उदर रोग तथा उदर रोग से शोथ रोग उत्पन्न हो सकता है[2]।

निदानार्थकर रोग दो प्रकार के होते हैं[3]—

1. एकार्थकारी 2. उभयार्थकारी

1. **एकार्थकारी**—कोई रोग अन्य रोग का हेतु होकर उसे उत्पन्न कर स्वयं शांत हो जाता है। उसे एकार्थकारी कहते हैं। यथा—पाण्डु के बाद कामला होना, अतिसार के बाद ग्रहणी होना[4]।

2. **उभयार्थकारी**—जब रोग स्वतंत्र रूप से रोग के रूप में रहते हुये अन्य रोग को भी उत्पन्न करता है तब उसे उभयार्थकारी कहते हैं। यथा अर्श स्वयं शांत न हो एवं गुल्म को उत्पन्न करे। प्रतिश्याय रहते हुये कास होना।

III मलायतनज रोग[5]— मलायतनज अर्थात् मलों एवं उनके आशयों (अधिष्ठानों) तथा बहिर्मुख स्रोतों में दोषों के प्रकोप को ही मलायतनज अथवा मलायतन दोषज रोग कहा जाता है। सामान्यतया सर्वथा त्याज्य वस्तु की 'मल' संज्ञा होती है यथा पुरीष, मूत्र, स्वेद तथा इन्द्रियों का मल। लेकिन यहां 'दोष-धातु मल' सिद्धान्त के अनुसार यह उत्पत्ति की दृष्टि से दोषों का ही नाम है। 'मलों' (दोषों) से रोगों की उत्पत्ति का क्रम-दोष (मधुमेह) से दूषित दोष धातुओं को दूषित करते हैं तथा दूषित दोष व धातु मलों को

1. निदानार्थकरो रोगो दृश्यन्तेऽनुशयात्मकः।
उत्पाद्यव्याधिसामान्यात्तत्र पूर्वोऽपि। (च.नि. 8/16)
2. प्लीहार्शोवृद्धय उदरं जठरश्चोदरं शोथ इव च।
ज्वरोऽपि ज्वरं तु एवं कुर्यात्सामान्यकारणात्। (च.नि. 8/18)
3. स पूर्वं केवलं रोगः पश्चादुत्पन्नकारणः।
उभयार्थकरः पूर्वजातलक्षणकारणः॥ (च.नि. 8/20)
4. पाण्डु रोगे तु पीतत्वं निष्क्रामति विवर्धते।
तस्य विवृद्धस्य भावात्पक्वं गौरव कारणं॥ (च.चि. 16/51)
5. दोषः दूषयति दोषैर्दूष्य दूष्यान्मलान्मलाः।
अर्थं हि, सर्वशरीरं, स्रोतांसि स्वेदवहानि च।
मल मलायतनानि स्युर्दोष एव तथोत्तरो गदः॥ (अ.हृ.नि. 11/35-36)

दूषित करते हैं। तत्पश्चात् दूषित मल मलायतनों को दूषित करते हैं तत्पश्चात् इनके अपने अपने प्रकुपित दोषादि के अनुसार रोग उत्पन्न होते हैं। शरीर में प्रमुख मलायतन हैं गुदा, मेढ्र, दो कान, दो नेत्र, दो नासिका तथा एक मुखी स्त्रोतसी कुक्षि मल के स्थान हैं। मल को दोष-दूषणात्मक प्रकृति के कारण, धातु शरीर का धारक होने के कारण तथा मल उत्पत्ति की दृष्टि से रोगा देते हैं। उपर्युक्त मलायतन रोगों के संदर्भ में मल का तात्पर्य मात्र मल मूत्रादि ही नहीं अपितु दोष धातु, मल का समष्टि रूप अभिप्रेत है। इसके अंतर्गत निम्नलिखित व्याधि भेदों का परिगणन किया जाता है-

1. मल भेद
2. मलों का संग
3. मलों का शोष
4. मलों की वृद्धि
5. मलों की अप्रवृत्ति
6. मलों की अमनद वृत्ति

व्याधि सांकर्य[1]

जब दो स्वतंत्र व्याधियां एक साथ मिलती हैं तब उसे व्याधि सांकर्य कहते हैं। अर्थात् जो रोग स्वयं शांत नहीं होता, वरन् अन्य रोग की उत्पत्ति में निदानार्थकर (हेतु के समान) क्रिया भी करता है उन्हें व्याधि संकर कहते हैं। जब दो रोग एक साथ विद्यमान हों तो उनके दोष-दूष्य-स्रोतस में समानता हो सकती है। यथा-प्रतिश्याय स्वयं रहते न ही अपितु कास व राजयक्ष्मा को उत्पन्न करे। प्रतिश्याय एवं कास में मुख्य दोष वात-कफ है व क्षय त्रिदोषज है। रोग से रोगान्तर की उत्पत्ति होने के कारण चिकित्सा पूर्ण सफल नहीं होती। अतः इनकी विशिष्ट चिकित्सा करना चाहिये।

व्याधि हेतु

किसी व्याधि विशेष को उत्पन्न करने में जो मूलभूत हेतु हों उन्हें व्याधि हेतु कहा जाता है। यथा-मृद भक्षण से पाण्डु रोग होता है। यहां "मृदभक्षण" व्याधि सभी पाण्डु रोग का व्याधि हेतु है। इस संदर्भ में निदान के तीन भेद बताये गए हैं—

1. **दोष हेतु**—ऐसे हेतु जो दोष प्रकोप करने में रत हों।
2. **व्याधि हेतु**—व्याधि विशेष को उत्पन्न करने में कारणभूत हेतु व्याधि हेतु कहलाते हैं।
3. **उभय हेतु**—ऐसे हेतु जो दोष प्रकोप करने के साथ-साथ व्याधि विशेष को भी उत्पन्न करें। जिन कारणों से दोष वृद्धि, सवैगुण्य एवं विशिष्ट दूष्यों के माध्यम से विशिष्ट रोग उत्पन्न होते हैं उन्हें उभय हेतु कहा जाता है।

1. मलवृद्धिं गुरुतया स्रोतोबन्धतसंक्षयम्।
मलक्षयाणां मुख्येषु संग्रहोत्सर्गौ तथैव च॥ (च.सू. 7/42-43)
2. एवं कृष्णतया नृणां दशधा व्याधिसंकुलाः।
प्रयोगपरिशुद्धत्वात्तथा चान्योन्यसम्भवात्॥ (च.नि. 8/22)

Scanned with CamScanner

लक्षण

दोष-दूष्य-अधिष्ठान एवं सम्मूर्च्छना वैशिष्ट्य तथा अनेक अन्य भावों के समूह से सभी व्याधियों के अनेक लक्षण उत्पन्न होते हैं। परन्तु उनमें से कुछ विशेष लक्षण किसी रूप से उसी व्याधि के बोधक होते हैं। उन्हीं के आधार पर उस व्याधि का अनुमान निदान किया जाता है। ऐसे लक्षणों को उस व्याधि के प्रत्यात्म लक्षण (Cardinal Characteristic / Diagnostic features) कहा जाता है। आयुर्वेद चिकित्सा लक्षण के निम्न भेद कर सकते हैं—

1. **सामान्य लक्षण**—रोग विनिश्चयार्थ व्याधि के ऐसे लक्षण जो भेदोपभेद सहित पाये जाते हैं, उन्हें उस व्याधि विशेष के सामान्य लक्षण कहा जाता है। यथा-स्वेदावरोध, सन्ताप एवं सर्वाङ्ग पीड़ा, यह ज्वर के सामान्य लक्षण हैं। ये लक्षण ज्वर के सभी भेदों में अवश्य पाए जाते हैं।
2. **विशिष्ट लक्षण**—किसी भी व्याधि के भेदोपभेद के लक्षणों को उस व्याधि के विशिष्ट लक्षण कहा जाता है। यथा- वातज ज्वर के लक्षण-शरीर में कंपकपी, विषम वेग, मुख सूखना तथा जम्भाई अधिक आना। पित्तज ज्वर के लक्षण-ज्वर का तीक्ष्ण वेग, अतिसार, वमन, तृषाधिक्य तथा भ्रम। कफज ज्वर के लक्षण-ज्वर का मंद वेग, आलस्य, अरुचि, कफष्ठीवन तथा निद्राधिक्य आदि कफज ज्वर के विशिष्ट लक्षण हैं।
3. **प्रत्यात्म लक्षण**—ऐसा लक्षण जो रोग के प्रति आत्म हो व उस व्याधि विशेष में समवाय के संबंध से स्थित हो, उसे उस व्याधि का प्रत्यात्म लक्षण कहते हैं। उदाहरणार्थ-आविल, भूत्र की अति मात्रा में प्रवृत्ति प्रमेह का, प्रवाहिका में प्रवाहण एवं उत्सेध उदर रोग का प्रत्यात्म लक्षण है। इस प्रकार प्रत्यात्म लक्षण ऐसा लक्षण अथवा ऐसे लक्षण होते हैं जो उस व्याधि विशेष में समवाय सम्बन्ध से स्थित हों अर्थात् उस लक्षण के बिना उस व्याधि की सत्ता ही निश्चित न हो पाये।

टिप्पणी / **व्याधि-नामकरण के आधारभूत सिद्धान्त**

आचार्यों द्वारा स्पष्ट निर्दिष्ट किया गया है कि यदि चिकित्सक किसी रोग का नामकरण करने में असमर्थ हो तो उसे अपने इस क्षुद्र ज्ञान पर ग्लानि नहीं करनी चाहिये क्योंकि संसार में जितने भी रोग उत्पन्न होते हैं उन सभी का नामकरण असम्भव है, क्योंकि नवीन एवं अद्भुत रोग भी सदा उत्पन्न होते रहते हैं। अतः चिकित्सक को दोष-दूष्य-स्रोतस-प्रकृति-देश-काल आदि के आधार पर रोगों का ज्ञान कर अपने विवेक के आधार पर युक्ति पूर्वक चिकित्सा करनी चाहिये[1]।

1. विकाराणामनुत्पत्तौ न जिह्रीयात् कदाचन।
न हि सर्वे विकाराणां नामतोऽस्ति ध्रुवा स्थितिः॥
स एव कुपितो दोषः, समुत्थानविशेषतः।
स्थानसंश्रयभेदेन नानात्वमधिगच्छति बहुधा॥ (च.सू. 18/44-45)

रोग प्रकृति (सन्निकृष्ट कारण), अधिष्ठान (स्थान), लिङ्ग (लक्षण), आयतन (हेतु) एवं विकल्प (दोषों की अंशांश कल्पना) की विशेषता से आधिसंख्येय हो सकते हैं[1]।

व्याधि रूजा (वेदना), वर्ण, समुत्थान (निदान या कारण), स्थान, संस्थान (लक्षण या चिह्न) एवं नाम के भेद से भी असंख्य हो सकते हैं पर सभी की गणना करना अथवा उनका वर्णन असंभाव्य है। अतः स्थूल रूप से चिकित्सा करने के लिये उनका संग्रह किया गया है[2]।

निम्नलिखित कुछ प्रमुख रोगों का नामकरण इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर किया गया है—

व्याधि/नामकरण आधार	रोग/व्याधि
1. रूजा के आधार पर	अर्श, विभिन्न अंगशूल, पार्श्वशूल, परिणाम शूल, ओष, प्लीह, शोथ, दाह, ग्रह, भेद आदि।
2. वर्ण के आधार पर	पाण्डु, कामला, हलीमक, श्वेत कुष्ठ, कालमेह, हारिद्र मेह आदि।
3. समुत्थान (कारण) के आधार पर	कृमिज हृद रोग, साहसजन्य क्षय, मद्यज तृष्णा, अन्नद्वेष, रक्तज गुल्म, मृदभक्षणजन्य पाण्डु आदि।
4. स्थान या अधिष्ठान के आधार पर	ग्रहणी दोष, पक्वाशय, शिरःशूल, मन्यास्तम्भ, हनुग्रह, कर्णशूल, वातरक्तादि, सर्विजात आदि।
5. लिङ्ग या संस्थान के आधार पर	उन्माद, अतिसार, कास, हिक्का, मूर्च्छा, स्वरभेद, प्रमेह, उदावर्त, कुष्ठ, अश्मरी आदि।
6. आकृति के आधार पर	मसूरिका, वेमसु, दण्डालसक, धनुस्तम्भ आदि।
7. सादृश्य के आधार पर	माञ्जिष्ठमेह, इक्षुमेह, क्रोष्टुक शीर्ष इत्यादि।
8. प्रकृति (सन्निकृष्ट कारण) के आधार पर	वातरक्त, आमवात, कम्पवात, वातकण्टक, रक्तपित्त, पित्तज ज्वर, कफज ज्वर, कफज अतिसार आदि
9. विशेष आधार पर	विसर्प, राजयक्ष्मा इत्यादि।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि उक्त विशेषताओं के आधार पर यदि रोगों का वर्गीकरण अथवा नामकरण किया जाये तो वे असंख्य हो जाएंगे। आचार्य चरक एवं सुश्रुत

1. विकाराः पुनः अपरिसंख्येयाः प्रकृतिविशेषान लिङ्गायतन विकल्प विशेषैः परिसंख्येयत्वात्॥ (सु.सू. 20/3)
2. न एकपरिसंख्येया भिद्यमाना भवन्ति हि।
रूजा वर्ण समुत्थान स्थान संस्थान नामभिः॥
व्यवस्थाकारणं तेषां यथाभूतेषु संग्रहः।
तथा प्रकृतिसामान्य विकारोपूर्वदर्शनं॥ (च.सू. 18/42-43)

Scanned with CamScanner

ने नानात्मज एवं आविष्कृततम रोग उक्त आधार पर ही बताये हैं। आचार्य [illegible] की उत्पत्ति होने की स्थिति में उनका नया नामकरण करने की स्वतंत्रता [illegible] दी है।

सामान्यज एवं नानात्मज विकारों का चिकित्सा सिद्धान्त

सामान्यज व नानात्मज विकार दोषज होते हैं। इनमें दोष-दूष्य का आश्रय-आश्रयी प्रधान दोष की ही चिकित्सा करनी चाहिये। इन दोनों विकारों के चिकित्सा सिद्धान्त निम्न प्रकार हैं—

1. ये विकार दोष की विषमता से होते हैं, अतः दोष विषमता को दूर कर दोष साम्यता स्थापित करनी चाहिये[1]।
2. संक्षेपतः सभी रोगों में निदान (प्रारंभिक कारण) का त्याग करें[2]।
3. क्षीण दोष का बृंहण, कुपित दोष का प्रशमन, वृद्ध दोष का निर्हरण (शोधन) एवं समदोष का परिपालन करना चाहिये[3]।
4. सामान्य विशेष सिद्धान्तानुसार सभी भावों की वृद्धि करने वाला 'सामान्य' होता है एवं 'ह्रास' का कारण 'विशेष' होता है[4]। अतः सामान्य एवं विशेष से दोष धातु मल की वृद्धि एवं ह्रास किया जाता है। यह सामान्य (i) द्रव्य सामान्य (ii) गुण सामान्य एवं (iii) कर्म सामान्य होता है तथा विशेष (i) द्रव्य विशेष (ii) गुण विशेष एवं (iii) कर्म विशेष होता है।
5. स्वस्थ मनुष्य के दोष, धातु एवं मलों की रक्षा करनी चाहिये। अस्वस्थ मनुष्य के बढ़े हुए दोष धातु मल का ह्रास करना चाहिये व ह्रास हुये दोष-धातु-मल को बढ़ाना चाहिये। यह कार्य तब तक करें जब तक कि दोषादि सामान्य न हो जायें[5]।
6. वात दोष की चिकित्सा में वस्ति व तैल का प्रयोग, पित्त दोष की चिकित्सा में विरेचन व घृत का प्रयोग व कफ दोष की चिकित्सा में वमन व मधु का प्रयोग उत्तम शोधन व शमन चिकित्सा है[6]।

1. दोषसाम्यं दोषसाम्यं दोषसाम्यमरोगता। (अ.हृ.सू. 1/20)
2. संक्षेपतः क्रियायोगो निदानपरिवर्जनम्। (सु.उ. 1/25)
3. दोषाः क्षीणैः बृंहणीयाः कुपिताः प्रशमितव्याः, वृद्धा निर्हरणीयाः, समाः परिपाल्या इति सिद्धान्तः। (सु.वि. 3/3)
4. सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्। ह्रास हेतु विशेषश्च प्रवृत्तिरुभयस्य तु॥ (च.सू. 1/44)
5. स्वस्थस्य रक्षणं कृत्स्नदोषधातुमलात्मनाम्। क्षयतो वृद्धयेच्चैनं दोषधातुमलान् भिषक्॥ तावद्यावद्विकाराणां सामान्यमुपजायते। (सु.सू. 15/42)
6. शोधनादौ तैलवस्ती क्रमेण परमौ मतौ। पित्तविरेकी घृतं तैक्ष्ण्यात् कफे तीक्ष्णं मधु॥ (अ.हृ.सू. 1/25)

7. कफ का प्रतिकार दुर्बलत्व तीक्ष्ण औषधि प्रयोग से, वात का प्रतिकार स्निग्धतर स्नेह द्रव्यों से तथा पित्त का प्रतिकार उनकी तरह मधुर व शीतल औषध द्रव्यों से करना चाहिये[1]।
8. सन्निपातज रोगों में सर्वप्रथम वातज दोष की चिकित्सा उसके बाद पित्त दोष की चिकित्सा अन्त में कफ दोष की चिकित्सा करनी चाहिये। अथवा जो दोष अधिक बलवान हो प्रथमतः उसकी चिकित्सा करनी चाहिये[2]।

रोगोत्पत्ति में दोष की कारणता

सभी रोगों का मूल कारण प्रकुपित दोष हैं, तथा दोष प्रकोपक कारण अनेक प्रकार के अहित पदार्थों का सेवन (असात्मेन्द्रियार्थ संयोग, प्रज्ञापराध एवं परिणाम) हैं[3]। आगन्तुज रोग अभिघातज या भूतादि (जीवाणुओं) के उत्पन्न से उत्पन्न होते हैं। इनमें उत्पत्ति काल में दोष प्रकोप नहीं होता तथापि-आगन्तुज कारणों की उपस्थिति के पश्चात् दोष प्रकोप होकर व्याधि की उत्पत्ति होती है। अतः आगन्तुज रोग भी कालान्तर में दोष जात रोग ही हो जाते हैं। निज रोगों में प्रथमतः वात-पित्त-कफ दोषों का प्रकोप होता है पश्चात् इनकी दुष्टि जनित रोग उत्पन्न होते हैं। अतः रोगों का दोषों के साथ 'अविनाभाव संबंध' कहा जाता है।

इसी प्रकार जब शारीर दोष प्रकुपित होकर शारीर रोगों को उत्पन्न करते हैं तब उनमें भी मानस दोष रज एवं तम के प्रकोप से होने वाले लक्षण मिलते हैं[4]। तथा मानस दोषों से मानसिक रोग उत्पन्न होने के बाद शारीरिक दोषों (त्रिदोष) के प्रकोप होने से शारीरिक रोग के लक्षण भी प्रकट होते हैं[5]। अतः निज, आगन्तुज-शारीरिक एवं मानसिक, ये चारों रोग परस्पर सम्बद्ध हो जाते हैं[6]।

शरीर एवं मन का एक दूसरे के साथ अतीव घनिष्ठ संबंध है एवं वे एक दूसरे से प्रभावित होते हैं[7]।

उसी प्रकार शारीरिक दोष व मानसिक दोष भी परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करते हैं एवं इनके साथ कभी पहले व कभी बाद में आगन्तुज रोग भी मिल जाते हैं अतः निज-आगन्तुज-शारीर एवं मानस रोगों का परस्पर संबद्ध होना एक स्वाभाविक प्रक्रिया है।

आगन्तुज-निज-मानस-शारीरिक रोगों की परस्पर संबद्धता

आगन्तुज रोगों में रोगोत्पत्ति पश्चात् दोष प्रकोप होता है। उसी प्रकार निज रोगों में भी

1. कफे दुर्बलमास्थाप्य स्नेहैन विजयेत्। पित्तं नातिहतमिव मधुरैः शीतलैर्जयेत्॥ (चे.र.पू.अ.)
2. वातस्यानुजयेत् पित्तं पित्तस्यानुजयेत् कफम्। प्रवृद्धौ वा जयेत् पूर्वं यो वाधेद्बलवत्तरः॥ (च.वि. 19/22)
3. सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः। तत्प्रकोपस्य तु प्रोक्तं विविधाहितसेवनम्॥ (अ.हृ.नि. 12-13)
4. ज्वर प्रत्यात्मिके लिङ्गे सन्तापो देहमानसः। (च.चि. 3/31)
5. काम-शोक-भयाद् वायु क्रोधात् पित्तं, श्रमेणतः। (च.सू. 20/7)
6. सर्वेऽपि खल्वेते ऽभिघातभूताद्यागन्तवो रोगाः प्रकृतिमनुबध्नन्ति। (च.वि. 6/8)
7. शारीरमनुविधीयते मनो, न शरीरम्।

Scanned with CamScanner

बाह्य कारणों से आगन्तुज रोग होना संभव है। जैसे ज्वर एवं उन्माद रोग [illegible] हुआ हो परन्तु बाद में उनमें भूताभिषेक-ज्वर में जीवाणुसंक्रमण तथा उन्माद में [illegible] का प्रवेश हो सकता है। इसी प्रकार अभिघातज ज्वर या भूतोन्माद में बाद में [illegible] प्रकोप होकर लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं[1]।

जब पूर्व में उत्पन्न किसी रोग के साथ पश्चात् उत्पन्न किसी रोग का अनुबन्ध होता है अनुबन्ध के फलस्वरूप ये रोग परस्पर एक दूसरे के बल की वृद्धि करते हैं जिससे उन रोग की साध्यता कृच्छ्रसाध्यता में बदल जाती है। यथा कामादि मानस विकारों व [illegible] शारीर विकारों का परस्पर अनुबंध होता है। कामवासना की अतृप्ति से, क्रोध या भय से ज्वर तथा ज्वर होने पर मानसिक दोषों के प्रकोप से अरति, ग्लानि, क्रोध आदि मानसिक लक्षण प्रकट होते हैं[2]।

भय एवं शोक से अतिसार या अनिच्छित् मूत्रोत्सर्ग हो जाता है। चिन्ता से रक्त प्रकोप होकर रक्तविकार या हृदरोग हो जाता है। स्मरण से भी रोग उत्पन्न हो जाता है यथा विषमज्वर के वेगकाल का स्मरण करने से उस काल में ज्वर आ जाता है। वात प्रकोप से भ्रम हो जाता है[3]।

दोष चाहे शारीरिक हों या मानस, इन दोनों का आश्रय शारीर है। शारीर दोषों का संसर्ग एवं सन्निपात होता ही रहता है[4]। उसी प्रकार मानस दोष भी शारीर दोषों से प्रभावित होते हैं। रजो गुण का वायु से तथा तमोगुण का कफ से सम्बन्ध होता है।

जब दोष प्रकोप का कारण मिथ्या आहार-विहार होता है तब उसके साथ अन्य दोष भी प्रकुपित हो जाते हैं जैसे कटु, तिक्त व कषाय रस वात वर्धक हैं। कटु रस के अति सेवन से वात के साथ पित्त का भी प्रकोप कुछ अंशों में होता है। अम्ल रस के अति सेवन से पित्त के अतिरिक्त कफ का भी प्रकोप होता है। वर्षा ऋतु में पित्त का संचय होता है तब वात का प्रकोप भी होता है तथा शरद ऋतु में पित्त का प्रकोप होता है तब उसके साथ कफानुबन्ध अवश्य रहता है। अतः ऐसी स्थिति में प्रधान व अप्रधान का निर्धारण करके ही प्रधान दोष की प्रथम चिकित्सा करनी चाहिये[5]।

1. [illegible] पूर्वं व्याधावथ वैषम्यमापन्ने, [illegible] केवलं दौर्बल्ये विशेषः॥ (अ.सं.सू. 22/9)
2. [illegible] संक्लेशविशुद्धाभ्यां क्लेशं यत्र भूताभिषङ्गजः॥ (च.वि. 3/114)
3. रज. विक्षिप्तमद् भ्रमः। (सु.उ. 4/56)
4. शारीरं दोषसम्बन्धमेकदोषादयं संश्रितः; संसर्गो वा समानगुणत्वात्, दोषा हि दूषणैः समाना:। (च.वि. 6/12)
5. [illegible] व्याधिः, व्याधेर्गुणभूता दोषाः, तत्र प्राप्तः; प्रधानप्राप्ते प्रधानो भवति। (च.वि. 21/4)

निदान पंचक विवेचन

नैष्ठिक एवं लौकिक व्याधि हेतु

दुःख से हमेशा के लिये पूर्ण रूपेण मुक्त हो जाना ही 'सिद्धि' है। अतः ऐसी व्याधियाँ जो दुःख मुक्ति में व्यवधान उत्पन्न करें उन्हें 'नैष्ठिक व्याधि' कहते हैं तथा ऐसे रोग के कारणों को 'नैष्ठिक व्याधि हेतु' कहते हैं।

मानवीय दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति में सबसे बड़ी बाधा है तृष्णा। तृष्णा के दो प्रकार कहे हैं–

1. सुख के प्रति इच्छा रूपी तृष्णा। 2. दुःख के प्रति द्वेष रूपी तृष्णा।

इसी तृष्णा के वशीभूत होकर प्राणी असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग, प्रज्ञापराध एवं काल के हीन, मिथ्या व अतियोग आदि के कारण, उन-उन वेदनाओं के कारणों का संग्रह करता है[1] तथा विविध प्रकार की शारीरिक या मानसिक वेदनाओं का व्यवस्थान बन जाता है।

उपधा—इस संसार में प्रवृत्ति के कारण मोह, इच्छा एवं द्वेषवश किये गये कर्म ही हैं[2]। यह प्रवृत्ति ही 'उपधा' या 'तृष्णा' कहलाती है, जो शरीर व मन में होने वाले दुःखों का मूल कारण है। जिस प्रकार रेशम का कीड़ा अपने शरीर के तंतुओं से निर्मित सूत्रजाल में फंस जाता है जिससे निकल पाना उसके लिये संभव नहीं होता, उसी तरह अज्ञानी मनुष्य तृष्णा के वशीभूत होकर इन्द्रियों के विषयों की ओर तथा सांसारिक विषय वासना में फंसकर भोग लालसा में लिप्त होकर उनमें ही उलझ कर रह जाता है, परिणामतः जन्म-मरण के चक्र में घूमता हुआ नानाविध वेदनाओं का पात्र बन जाता है[3]।

उपधा की एक संज्ञा 'भावदोष' है[4] जिसका अर्थ है 'प्रवृत्ति'। 'भाव दोष' के कारण

1. चिकित्सा तु नैष्ठिकी या विशेषाणाम्। (च.शा. 1/94)
2. इच्छाद्वेषात्मिका तृष्णा सुखदुःखात् प्रवर्तते। तृष्णा च सुखदुःखयोः कारणं पुरुषस्यते। (च.शा. 1/134)
3. तत्र खल्वेषां दुःखव्याधीनां दोषाणां विविधं प्रकोपणं, तथा आसात्म्येन्द्रियार्थसंयोगः प्रज्ञापराधः परिणामश्चेति। (च.वि. 6/6)
4. पुरुषो खलिसंज्ञस्तु मोहेच्छाद्वेषकर्मजः। (च.शा. 1/94)
5. उपधा हि भवे हेतुर्दुःखस्यापदः। स्वतः सर्वोपधा च सर्वदुःखप्रवर्तकः॥ (च.शारीरम 1/3)
6. भावदोष उपधाऽदोषोऽपि पुरुषः। (च.शारीरम 1/3)

Scanned with CamScanner

ही पुरुष संसार में बंधा रहता है। मोह, इच्छा व द्वेष ही भाव दोष हैं। (1) [illegible] अधर्म (3) ज्ञान (4) अज्ञान (5) वैराग्य (6) अवैराग्य (7) ऐश्वर्य (8) [illegible] इनमें से ज्ञान को छोड़ शेष सात भावों को 'उपधा' कहते हैं[1]।

संसार में दुःख का कारण 'प्रवृत्ति' है[2]। मिथ्या ज्ञान रूपी मोह से इच्छा [illegible] भावना होती है[3]। इस प्रकार मोह, इच्छा व द्वेष से उत्पन्न कर्मों के फल भोगने के [illegible] मनुष्य बार-बार शरीर धारण करता है एवं जन्म-मरण के क्लेश का भागी होता [illegible] आचार्य चरक ने 'प्रवृत्ति' को 'दुःख' कहा है एवं 'तृष्णा' को ही दुःखों का कारण [illegible] हैं। अतः आत्यन्तिक दुःखों की निवृत्ति में बाधक होने से तृष्णा या उपधा ही 'व्याधि हेतु' या मूल कारण है।

I. लौकिक व्याधि हेतु या निदान/हेतु

रोग विनिश्चय (Diagnosis) को आयुर्वेद में अत्यधिक महत्व दिया गया है। [illegible] सूत्र एवं लिङ्ग सूत्र के द्वारा त्रिसूत्र आयुर्वेद में सर्वप्रथम रोग परीक्षा का उपदेश किया [illegible] रोग परीक्षा के लिये पांच उपायों का उपयोग किया जाता है जिन्हें 'निदान पंचक' कहते हैं। रोग के परिज्ञान को 'निदान' कहा जाता है[4] एवं रोग निदान के साधनों को निदान पंचक कहा जाता है। इनका ज्ञान रोग निदान के लिये परमावश्यक होता है। ये निम्न हैं-

1. निदान (हेतु)
2. पूर्वरूप
3. रूप
4. उपशय
5. सम्प्राप्ति

निदान या रोगोत्पादक कारण को ही 'हेतु' या लौकिक 'व्याधि हेतु' कहते हैं।

हेतु के पर्याय[5]—आचार्यों ने हेतु के विभिन्न पर्यायों का वर्णन किया है। हेतु, निमित्त, आयतन, कर्ता, कारण, प्रत्यय, समुत्थान, निदान, मूल, योनि, मुख, प्रेरण एवं प्रकृति ये सभी निदान के पर्याय हैं। इन सभी से रोगोत्पादक कारण का बोध होता है। 'योनि' एवं 'मूल' पर्याय आचार्य वाग्भट ने तथा 'मुख' एवं 'प्रेरण' पर्याय आचार्य चक्रपाणि ने विशेष बतलाये हैं[7]। आधुनिक चिकित्सा शास्त्र में इसे Aetiology कहा जाता है।

1. रूपैः सप्तभिरेव बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः।
   सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण॥ (सांख्य कारिका)
2. प्रवृत्तिर्दुःखम्। (च.शा. 1/3)
3. मोहेच्छा द्वेष कर्ममूला प्रवृत्तिः। (च.शा. 1/4)
4. क. निर्दिश्यते व्याधिरनेनेति निदानम्। (माधव)
   ख. व्याधिर्यतोनिश्चय करणं निदानम्। (मधुकोष च.नि. 1/1)
5. हेतु कर्तु हेतुर्निमित्तमायतनं कर्ता कारणं प्रत्ययः समुत्थानं निदानमित्यर्थान्तरम्। (च.नि. 1/3)
6. निदानमर्थान्तरम्-हेतुर्निमित्तमायतनं कारकः कर्ता कारणं प्रत्ययः समुत्थानं मूलं योनिरिति। (अ.हृ.नि. 1/2)
7. मुखादि कारकश्चेह प्रेरणं कारणम्। (च.सू. 20/1-5 पर चक्रपाणि)

हेतु का लक्षण—जो मिथ्या आहार-विहार आदि बाह्य निमित्त कारणों से धातुओं में विषमता उत्पन्न करके शारीर या मानस रोग उत्पन्न करे या विष-शस्त्र-अग्नि-जीवाणु-अभिघात आदि अन्य बाह्य निमित्त कारणों से बिना दोषों में विषमता उत्पन्न किए साक्षात् आगन्तुज रोग उत्पन्न करे उसे 'हेतु' या 'निदान' कहते हैं[1]।

'मधुकोषकार' ने निदान की एक अन्य परिभाषा दी है जिसका अर्थ है-दोष प्रकोपण आदि अनेक कार्यों को करते हुए जो रोग उत्पन्न करता है उसे निदान कहते हैं[2]। इस प्रकार विविध अहित आहार-विहार जिनके सेवन से दोषों का प्रकोप होता है तथा वे दोष जो स्वयं दूषित होकर दूष्यों को दूषित कर रोग उत्पन्न करते हैं वे निदान कहलाते हैं।

विशेष

आचार्य चरक एवं आचार्य सुश्रुत ने बाह्य कारण को निदान कहा है। आचार्य सुश्रुत ने सभी रोगों की संक्षिप्त चिकित्सा 'निदान परिवर्जन' कहा है अर्थात् जिन कारणों से दोष वैषम्य जन्य रोग हुआ है उन कारणों का त्याग करना चाहिये। आचार्य चरक ने भी विमान स्थान में निदान, दोष तथा दूष्य की विशेषता होने से रोग की उत्पत्ति तथा अनुत्पत्ति का वर्णन किया है। अतः दोनों आचार्यों ने ही निदान को दोष-दूष्य से भिन्न अर्थात् बाह्य कारण माना है। परन्तु आचार्य सुदर्शन शास्त्री ने 'माधव निदान' की विद्योतनी टीका में केवल बाह्य निमित्त को ही निदान मानना अपूर्ण एवं युक्ति विरुद्ध कहा है तथा निदान के बाह्य एवं आभ्यन्तर इन दो भेदों को स्वीकार किया है[3]। उनके अनुसार प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति के लिये निमित्त, समवायी एवं असमवायी इन तीन कारणों की अपेक्षा होती है।

रोग एक कार्य है तथा इसकी उत्पत्ति के लिये बाह्य आहार-विहार आदि निमित्त कारण, दोषवैषम्य समवायि कारण तथा विकृत दोष-दूष्य सम्मूर्च्छना असमवायि कारण होते हैं। अतः तीनों कारण ही रोगोत्पत्ति में कारण माने गये हैं। रोग विशेष के अनुसार इनकी प्रधानता व अप्रधानता होती है। रोगोत्पत्ति के पूर्व दोष वैषम्य होना तो सभी आचार्य मानते हैं। दोष प्रकोप पूर्वक बाह्य निदान रोगोत्पादक होता है इस धारणा से भी 'दोषा एवहि सर्वेषां रोगाणामादिकारणम्' का विरोध नहीं होता, अतः बाह्य निदान को ही निदान मानना उपयुक्त है।

निदान के प्रकार

विभिन्न आचार्यों ने अनेक प्रकार से निदान का वर्गीकरण किया है जो निम्नानुसार है—

1. बाह्यं निमित्तं रोगाणां निदानमिति कीर्तितम्।
   विषाग्न धातुवैषम्यं साक्षाद् या रोगकारि तत्॥ (सि.वि.ह.ख. 2/2)
2. सेतिकर्तव्यतारूपः रोगोत्पादकहेतुर्निदानम्। (मधुकोष)
3. बाह्याभ्यन्तरभेदाच्च द्विधा-बाह्या अहिताहारादयः, आभ्यन्ता दोषा दूष्याश्च। (सु.वि. पंचविधिज श्लोक 5 पर मधुकोष)

Scanned with CamScanner

I. चतुर्विध निदान—ये निम्न हैं—
   (i) सन्निकृष्ट निदान (ii) विप्रकृष्ट निदान
   (iii) व्यभिचारी निदान (iv) प्राधानिक निदान
II. त्रिविध निदान—ये निम्न हैं—
   (i) असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग (ii) प्रज्ञापराध
   (iii) परिणाम (काल)
III. त्रिविध निदान—ये निम्न हैं—
   (i) दोष हेतु (ii) व्याधि हेतु
   (iii) उभय हेतु
IV. द्विविध भेद—ये निम्न हैं—
   (i) उत्पादक हेतु (ii) व्यंजक हेतु
V. द्विविध भेद—ये निम्न हैं—
   (i) बाह्य (ii) आभ्यंतर

दोषों की गति के भेद से निदान के अन्य प्रकार निम्न हैं—

VI. त्रिविध भेद—ये निम्न हैं—
   (i) क्षय (ii) वृद्धि (iii) स
VII. द्विविध भेद—ये निम्न हैं—
   (i) प्राकृत (ii) वैकृत
VIII. द्विविध भेद—ये निम्न हैं—
   (i) अनुबन्ध्य (ii) अनुबन्ध
IX. द्विविध भेद—ये निम्न हैं—
   (i) प्रकृति (ii) विकृति
X. एक भेद—
   (i) आशयापकर्ष

I. निदान के चतुर्विध भेद

(i) सन्निकृष्ट निदान[1]

स्वाभाविक रूप से दिन, रात व भोजन के आदि, मध्य एवं अन्त में क्रमशः क फ पित्त तथा वायु का प्रकोप होता है। इस प्रकोप के लिये दोष संचय की आवश्यकता नहीं होती, यह 'सन्निकृष्ट हेतु' कहलाता है।

1. कर्फः होषादि भुक्तानां तेऽन्तमध्यादिगाः क्रमात्। सन्निकृष्टौ यथा-कर्फादिर्नुभुक्तांश्च दोष प्रकोपयत हेतवः, [illegible] कर्फप्रकोपहेतवे किंचं सन्निकृष्टे स्वराव्य व्यक्तिं सेवा। (सुश्रुत

(ii) विप्रकृष्ट निदान[2]

इस प्रकार के हेतु एक नियत समय तक संचय के बाद दोष प्रकोप कर रोग उत्पन्न करते हैं। यथा-हेमन्त ऋतु में संचित हुआ कफ वसन्त ऋतु में सूर्य की गर्मी से पिघलकर कफज रोगों को उत्पन्न करता है। इसमें विप्रकृष्ट हेतु 'सूर्य की गर्मी' है[3]। इसी प्रकार रोगाणु जन्य रोग भी निश्चित संचयकाल (Incubation Period) के बाद ही उत्पन्न होते हैं।

(iii) व्यभिचारी हेतु[4]

जो हेतु कभी रोग उत्पन्न करने में समर्थ हों एवं कभी असमर्थ हों उसे व्यभिचारी हेतु कहते हैं। निर्बल या अल्प बल हेतु अल्पांश में ही दोष प्रकुपित करता है। अतः रोग उत्पन्न नहीं होता एवं बलवान हेतु रोगोत्पादक होता है। इस प्रकार कभी रोग उत्पन्न करना एवं कभी रोग उत्पन्न न करना इस प्रकार का व्यभिचार होने से ही इसे 'व्यभिचारी हेतु' कहा गया है।

(iv) प्राधानिक हेतु[5]

उग्र स्वरूप के कारण शीघ्र ही दोषों को प्रकुपित कर रोग उत्पन्न करने वाला हेतु प्राधानिक हेतु कहलाता है। जैसे विष आदि।

II. निदान के त्रिविध भेद[6]

(i) असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग

त्वक्, श्रोत्र, नेत्र, जिह्वा एवं घ्राण इन पांच इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों क्रमशः, स्पर्श, शब्द, रूप, रस एवं गंध के साथ अतियोग, हीनयोग या मिथ्यायोग 'असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग' कहलाता है[4]।

त्वचा समस्त इन्द्रियों में व्यापक है तथा मन का त्वचा के साथ समवाय सम्बंध रहता है। व्यापक होने से त्वचा सर्व इन्द्रियाधिष्ठानों में व्याप्त है। अतः त्वचा का असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग सभी इन्द्रियों से असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग माना जाता है।

इन्द्रियां पाँच हैं अतः असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग भी पाँच प्रकार का होता है—

1. कर्णेन्द्रिय असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग
2. त्वक् असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग
3. नेत्र असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग

1. हेमन्ते निचितः श्लेष्मा शैत्यगौरुत्वसंहतेः। (सु.उ.त. 64/32)
2. ग्रीष्मसूर्यांशु कुपितः कुरुते च गदान् बहून्। (सु.उ.त. 64/32)
3. व्यभिचारी यथा-यो दुर्बलत्वाद् व्याधिकरणासमर्थः। (मा.नि. 1/4 पर मधुकोष)
4. प्राधानिको विषादिः। (मा.नि. 1/4 पर मधुकोष)
5. त्रिविधो वा, असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग-प्रज्ञापराधपरिणामभेदात्। (मा.नि. 1/4 पर मधुकोष)
6. असात्म्येन्द्रियार्थसंयोगोऽतियोगहीनयोगमिथ्यायोगभुक्ता रूप इत्यादयः।

Scanned with CamScanner

4. रसना असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग
5. घ्राणेन्द्रिय असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग

इनके पुनः हीन, अति एवं मिथ्या योग के भेद से कुल 15 प्रकार के आहारोपयोग संयोग हो सकते हैं जिनका संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है—

1. **चक्षु इन्द्रियं विषयातियोग**—अति तेजस्वी सूर्य, विद्युत आदि को अधिक समय तक देखना[1]।
2. **चक्षु इन्द्रिय विषय अयोग**—किसी भी वस्तु या दृश्य को बिल्कुल भी न देखना[2]।
3. **चक्षु इन्द्रिय विषय मिथ्या योग**— अतिदूर, उग्र, भयंकर, वीभत्स, विकृत आदि दृश्यों को पुनः पुनः देखना[3]।
4. **कर्णेन्द्रिय विषयाति योग**— अति उच्च शब्द, मेघगर्जन, नगाड़े का शोर, रोने की आवाज, सिंह-व्याघ्रादि की अति गर्जना आदि शब्दों को अति मात्र में सुनना[4]।
5. **कर्णेन्द्रिय विषय अयोग**— किसी भी प्रकार के शब्द का सर्वथा न सुनना।
6. **कर्णेन्द्रिय विषय मिथ्यायोग**— कठोर, प्रिय वस्तु नाश, तिरस्कार सूचक, भयानक, अप्रिय एवं दुःख सूचक शब्दों को सुनना कर्णेन्द्रिय का मिथ्या योग है।
7. **घ्राणेन्द्रिय विषयातियोग**— अतितीक्ष्ण, उग्र, अभिष्यन्दी गंधो का अधिक सूंघना[5]।
8. **घ्राणेन्द्रिय विषय अयोग**— किसी भी प्रकार की गन्ध का न सूंघना।
9. **घ्राणेन्द्रिय विषय मिथ्या योग**— दुर्गन्ध, अप्रिय गंध, सड़ने की गंध, जहरीली वायु की गंध, शवादि की गंध का सूंघना[6]।
10. **रसनेन्द्रिय विषयातियोग**—मधुर आदि रस युक्त द्रव्यों का अति भक्षण करना[7]।
11. **रसनेन्द्रिय विषय अयोग**— षड्रसों का सर्वथा सेवन न करना[8]।
12. **रसनेन्द्रिय विषय मिथ्या योग**[9]— अहितकर द्रव्यों का सेवन, अष्टविधि विसंक्रमण के विरुद्ध आहार सेवन।

1,2. तत्रातितेजस्कं दुष्करमतिदर्शनमित्येतत्, सर्वतोऽदर्शनमयोः। (च.सू. 11/37)
3. अतिनिष्प्रतिपक्षकृशदीप्तीष्टकृमिद्रव्यीभत्सविकृताधिबलसदिदृक्षतादीनां मिथ्या योगः। (च.सू. 11/37)
4. तथातिनिष्प्रतिपक्षगम्भीरमृदुतोयानां शब्दानामतिमात्रं श्रवणमतियोगः, सर्वतोऽश्रवणमयोगः, ... मिथ्यायोगः। (च.सू. 11/37)
5,6,7. गन्धानामतीक्ष्णोग्राभिष्यन्दिनां तीव्रासह्यानिष्टानां घ्राणमतियोगः, सर्वतोऽघ्राणमयोगः, दुर्गन्धिद्रव्यगन्धाकल्पविकृतसत्त्वपुरुषगन्धादि घ्राणं मिथ्यायोगः॥ (च.सू. 11/37)
8,9,10. तथा मधुराम्ललवणानामतियोगः, सर्वतोऽनादरणयोगः, मिथ्यायोगोऽहितैर्द्रव्यैरष्टविधविशेषायतनविपरीतोपपादनेन योगः। (च.सू. 11/37)

13. **स्पर्शनेन्द्रिय विषयातियोग**[1]— अति शीत या ऊष्ण जल में स्नान, अभ्यंग एवं उत्सादनादि का अतिशय स्पर्श करना।
14. **स्पर्शनेन्द्रिय विषय अयोग**[2]— शीत-ऊष्ण जल का तथा अभ्यंग उत्सादनादि का सर्वथा स्पर्श न करना।
15. **स्पर्शनेन्द्रिय विषय मिथ्यायोग**[3]—विषम (ऊंचे-नीचे) स्थान का स्पर्श, आघात लगना, जहरीली वायु का स्पर्श एवं शीत-ऊष्ण क्रम विरुद्ध सेवन करना आदि।

(ii) **प्रज्ञापराध**— मन, वचन एवं कर्म के अतियोग, हीन योग एवं मिथ्यायोग को "प्रज्ञापराध" कहा जाता है[4]।

बुद्धि, धैर्य एवं स्मरणशक्ति के भ्रष्ट हो जाने से मनुष्य शारीरिक एवं मानसिक दोषों को प्रकुपित करने वाले जिन अशुभ कर्मों को करता है उन्हें "प्रज्ञापराध" कहते हैं[5]।

मिथ्या आहार-विहार के सेवन से रोगोत्पत्ति प्रज्ञापराध जन्य होती है। संसार के समस्त संक्रामक (Infectious diseases) एवं यौन रोगों (Veneral diseases) का हेतु प्रज्ञापराध ही है।

वेगधारण करना, गतिमान वेगों को बलात् निकालना, अति साहस, अति स्त्री सेवन, विनम्रता एवं सदाचार का परित्याग, पूज्यजनों का तिरस्कार, असमय-अनुचित स्थान गमन, नीच कर्म करने वालों से मैत्री, सद्वृत्त का पालन न करना, ईर्ष्या-काम-क्रोध-लोभ-मद-मोह में लिप्त होना या तम से प्रभावित होकर दुष्कर्म करना "प्रज्ञापराध" है[6]।

1. **प्रज्ञापराधजन्य कर्मातियोग**— मन, वचन एवं शारीरिक कर्मों में अति प्रवृत्ति होना।
2. **प्रज्ञापराधजन्य कर्मायोग**— मन, वचन एवं शरीर को स्वकार्यों में सर्वथा अप्रवृत्ति।
3. **प्रज्ञापराधजन्य मिथ्यायोग**— वेग विधारण, प्रवृत्त वेगों को हठात् निकालना, दूषित पदार्थ स्पर्श, अंगों का अत्यधिक मर्दन, क्षमता से अधिक श्वास रोकना, शरीर को कष्ट देने वाले कार्य व्रत, उपवास, अति-उष्ण धूप-शीत का सेवन आदि शारीरिक मिथ्यायोग है।

1,2,3 तत्रातितीक्ष्णानां स्पृश्यानां स्नानाभ्यङ्गोत्सादनादीनां कायकुशलेनातियोगः, सर्वतोऽकुशलेनायोगः, स्नानादीनां शीतेष्णादीनां च स्पृश्यानामनुपयुक्तैर्योगैर्विषमस्थानोपपादनादिभिश्च मिथ्यायोगः॥ (च.सू. 11/37)
4. इति त्रिविधमिष्टकल्पं त्रिविधमेव कर्म प्रज्ञापराध इति व्यवस्येत्॥ (च.सू. 11/41)
5. धीधृतिस्मृतिविभ्रंशः कर्म यत् कुरुतेऽशुभम्।
प्रज्ञापराधं तं विद्यात् सर्वदोषप्रकोपणम्॥ (च.शा. 1/102)
6. उदीर्णं गतिमतामुदीर्णानां च निग्रहः। वेगानां साहसानां च नखानां दन्तिभेदनम्।
कर्मकालातिया.....प्रज्ञापराधं जानीयात्सर्वत्र दोषं हि तत्॥ (च.शा. 1/103-109)

Scanned with CamScanner

कठोर वचन बोलना, झूठ बोलना, चुगली करना, अप्रासंगिक प्रलाप बोलना व कलहपूर्ण वातावरण पैदा करना वाणी (वचन) का मिथ्या योग है।

पूज्य का निरादर व अपूज्य का सम्मान करना, शोक, क्रोध, भय, लोभ, मान, ईर्ष्या आदि मानसिक मिथ्यायोग है।

(iii) **परिणाम या काल**— काल ही प्रत्येक अच्छे बुरे कर्म को धर्म-अधर्म रूप में परिणित कर यथा समय फल देने वाला होता है। काल की इकाई वर्ष (संवत्सर) है। एक वर्ष 12 माह, 6 ऋतु या तीन मौसम में विभाजित है तथा दो-दो ऋतुओं का एक-एक संयोग होता है।

1.	हेमन्त-शिशिर	:	सर्दी (जाड़ा)
2.	बसन्त-ग्रीष्म	:	गर्मी
3.	वर्षा-शरद	:	वर्षा

काल के लक्षणों का अतियोग, अयोग व मिथ्या-योग, सभी प्रकार के शारीरिक व मानसिक रोगों का निमित्त कारण है।

1. **कालातियोग**— शीत ऋतु में अधिक सर्दी (जाड़ा) पड़ना, ग्रीष्म ऋतु में अधिक गर्मी व वर्षा ऋतु में वर्षा का अधिक होना "काल का अतियोग" है[1]।

2. **कालायोग**— शीत ऋतु में ठण्ड, ग्रीष्म में गर्मी व वर्षा में बारिश का न होना[2]।

3. **काल मिथ्या योग**— शीत ऋतु में भीषण गर्मी होना, ग्रीष्म में वर्षा होना तथा वर्षा ऋतु में ठण्ड पड़ना[3]।

III. **निदान के त्रिविध भेद**[4]— हेतु के दोष-व्याधि भेद से पुनः तीन भेद हैं-

(i) **दोष हेतु**— दोष प्रकोपक या दोषोत्पादक हेतु "दोष हेतु" कहलाते हैं। दोषों का संचय, प्रकोप, प्रसर करानेवाले स्वभावतः उत्पन्न मधुर आदि रस "दोष हेतु" कहलाते हैं।

यथा- हेमन्त, शिशिर ऋतु में स्वभावतः मधुर रस की उत्पत्ति होने से कफ दोष का संचय होता है। यही संचित कफ दोष बसंत ऋतु में सूर्य की गर्मी से पिघलकर रोगोत्पत्ति करता है।

1,2,3 शीतोष्णवर्षलक्षण: पुनर्हेमन्तशिशिरवर्षा: संवत्सर:, स काल:। तत्रातिमात्रस्वलक्षण: काल: कालातियोग:, हीनलक्षण: काल: कालायोग:, यथास्वलक्षणविपरीतलक्षणस्तु काल: कालमिथ्यायोग:।
काल: पुन: परिणाम उच्यते। (च.सू. 11/41)

4. दोषप्रकृतिसमवायस्य स त्रिविध:। दोषहेतवे यथा-चयप्रकोपप्रसरनिमित्ता यथास्वं रसा मधुरादय:।
व्याधिहेतवे यथा-मृत्पिण्डस्य पाण्डुरोगस्य कारणम्। यद्यपि मृत्तिका दोषं प्रकोपयत्येव,
मधुरै-चाकै-रुपक्रम्यते, पित्तमुदीर्य., मधुरा: कफस्य इति। (च.वि. 1/4 पर मधुकोष)

(ii) **व्याधि हेतु**— किसी दोष की अपेक्षा न कर किसी निश्चित व्याधि को उत्पन्न करने वाला हेतु "व्याधि हेतु" कहलाता है। यथा मक्षिका भक्षण से छर्दि रोग, मृत्तिका भक्षण से पाण्डु रोग की उत्पत्ति।

(iii) **उभय हेतु**— जिसके द्वारा विशिष्ट दोष का प्रकोप होने के साथ ही विशिष्ट रोगोत्पत्ति होती है उसे "उभय हेतु" कहते हैं। यथा-हाथी, ऊँट एवं घोड़े आदि की सवारी करने से वात की तथा विदाही अन्न के सेवन से पित्त व रक्त की वृद्धि होती है तथा लटके हुए अंगों एवं संधियों में इसका प्रभाव होता है। यह उभय हेतु वातरक्त नामक रोग को उत्पन्न करते हैं। यद्यपि इन निदानों के सेवन से दोष प्रकोपपूर्वक ही व्याधि की उत्पत्ति होती है फिर भी ये जिस प्रकार निश्चित दोष के प्रकोपक हैं उसी प्रकार निश्चित व्याधि के उत्पादक भी हैं, अतः इन्हें उभय हेतु कहा है।

IV. **निदान के द्विविध भेद**[1]— पूर्व वर्णित दोष हेतु भी दो प्रकार के होते हैं।

(i) **उत्पादक हेतु**—हेमन्त ऋतु में उत्पन्न मधुर रस कफ दोष का उत्पादक हेतु है।

(ii) **व्यंजक हेतु**— हेमन्त ऋतु में संचित कफ दोष, बसंत ऋतु में सूर्य के ताप से पिघलकर कफज रोगों को उत्पन्न करता है। अतः सूर्य का ताप कफ का व्यंजक हेतु है।

V. **निदान के द्विविध भेद**[2]

बाह्य एवं आभ्यांतर भेद से हेतु पुनः दो प्रकार का होता है-

(i) **बाह्य हेतु**— मिथ्या आहार-विहार, भूत (जीवाणु), अभिघात, कीट, विष, काल, मुख द्वारा सेवन किया गया विष तथा विद्युत आदि बाह्य हेतु हैं। ये दोष प्रकोपपूर्वक व्याधि उत्पन्न करते हैं।

(ii) **आभ्यांतर हेतु**— शारीरगत दोष व दूष्य आभ्यन्तर हेतु कहलाते हैं।

VI. **निदान के त्रिविध भेद**[3]

दोषों की गति के अनुसार हेतु तीन प्रकार के कहे गये हैं-

(i) I. क्षीण, ii. वृद्ध, iii. सम भेद से दोषों की गति तीन प्रकार की होती है। ये गतियाँ दोष के बढ़ने, घटने या सम रहने की अवस्थाओं की सूचक हैं।

---

1. स एवोत्पादकव्यञ्जकभेदाच्च द्विधा। तत्रोत्पादके यथा-हेमन्तजो मधुरस: कफस्य।
व्यञ्जके यथा-तस्यैव कफस्य व्यञ्जको वसन्ते सूर्यांशव: इति मधुकोषकार:। (च.वि. 1/4 पर मधुकोष)

2. बाह्याभ्यन्तरभेदाच्च द्विधा-तत्र बाह्या आहारविहारकालादय:। आभ्यन्तरा यथा दोष दूष्यास:।
(च.वि. 1/4 पर मधुकोष)

3. गतितो यथा-गतिर्दोषाणां क्षीणवृद्धत्वादय:। यदुक्तं चरके-क्षय: स्थानं च वृद्धिश्च दोषाणां त्रिविधा गति:।
ऊर्ध्वमेषामथ तिर्यक् च विज्ञेया त्रिविधा पर:॥ त्रिविधा चापि कोष्ठशाखामर्मास्थिसंधिषु॥
(च.सू. 17 एवं च.वि. 1/4 पर मधुकोष)

Scanned with CamScanner

(ii) i. ऊर्ध्व, ii. अध:, iii. तिर्यक् भेद से तीन प्रकार के हेतु होते हैं। इससे दोष की गति,की दिशा का ज्ञान होता है।

(iii) आश्रय भेद से दोषों की गति तीन प्रकार की होती है।

i. कोष्ठ ii. शाखा iii. मर्मास्थिसंश्रिता। इससे दोषों के स्थानसंश्रय का ज्ञान होता है।

इनका ज्ञान चिकित्सा के लिये अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि दोषों की भिन्न-भिन्न गतियों के अनुसार उनकी चिकित्सा भी भिन्न-भिन्न होती है।

VII. निदान के द्विविध भेद[1]

प्राकृत एवं वैकृत भेद से हेतु के दो प्रकार हैं—

(i) प्राकृत हेतु—जिस ऋतु में जिस दोष का स्वभावत: प्रकोप होता है जैसे वर्षा में वात, शरद में पित्त व बसन्त में कफ का प्रकोप 'प्राकृत' कहलाता है।

(ii) वैकृत हेतु—बसन्त में वात का, शरद में कफ का तथा वर्षा में पित्त का प्रकोप 'वैकृत' कहलाता है। इसका ज्ञान रोग की साध्यासाध्यता जानने के लिये परम आवश्यक है। यथा प्राकृत ज्वर सुखसाध्य व वैकृतज्वर कृच्छ्रसाध्य होते हैं। पर अपने स्वरूप वर्षा में उत्पन्न वातज ज्वर (प्राकृत) भी कृच्छ्रसाध्य होता है।

VIII. निदान के द्विविध भेद[2]

पुन: हेतु के दो भेद कहे गये हैं—

(i) अनुबन्ध्य हेतु—स्वतंत्र व स्पष्ट लक्षणों वाला व शास्त्रोक्त चिकित्सा से शांत होने वाला 'अनुबन्ध्य' व 'प्रधान' हेतु होता है।

(ii) अनुबन्ध हेतु—परतंत्र व अस्पष्ट लक्षणों वाला व शास्त्रोक्त चिकित्सा से शांत न होने वाला 'अनुबंध' या 'अप्रधान' हेतु कहलाता है। प्रधान दोष की चिकित्सा करने पर अप्रधान दोष स्वयं ही शांत हो जाता है। यथा कफ प्रधान वात-कफज व्याधि में रूक्षोष्ण चिकित्सा से कफ के साथ वात का भी शमन हो जाता है।

IX. निदान के द्विविध भेद[3]

प्रकृति, विकृति भेद से पुन: हेतु के दो भेद हैं—

(i) प्रकृति—रोगी की जो दोष प्रकृति हो उसी दोष से होने वाला रोग 'प्रकृति जन्य' कहलाता है तथा कृच्छ्र साध्य होता है। यथा-कफ प्रकृति के रोगी में कफज रोग कृच्छ्रसाध्य होते हैं।

1. यैर्यैर्हि प्रकृति: प्रकृतिदोषैरनुबन्धिका। (मा.नि. 1/4 पर मधुकोश)
2. अनुबन्ध्यानुबन्धौ च द्विधा-अनुबन्ध्य: प्रधानम् अनुबन्धोऽप्रधानवत्। (मा.नि. 1/4 पर मधुकोश)
3. प्रकृतिर्विकृतिश्चेति यथा-यत्र प्रकृतिर्वातोल्वण: कदाचाद्यं भवति, कफ-पित्तप्रकृते सुखसाध्य: ॥ (मा.नि. 1/4 पर मधुकोश)

(ii) विकृति—मिथ्या आहार-विहार का लगातार सेवन करने से व्यक्ति की दोष प्रकृति से भिन्न अन्य दोष के दुष्ट होने से 'विकृति' जन्य रोग होते हैं। ये सुखसाध्य होते हैं। यथा-मिथ्या आहार-विहार से कफ प्रकृति के व्यक्ति में होने वाला पैत्तिक ज्वर सुखसाध्य है।

X. आशयापकर्ष हेतु[1]

कई बार दोष अपने नियत आश्रय स्थान में स्वयं प्रकुपित न होते हुये भी अन्यत्र जा सकते हैं। 'आशयापकर्ष' भी व्याधि का हेतु होता है। इसमें दोष वायु की प्रेरणा से अन्य स्थान पर गमन कर रोग उत्पन्न करता है इस प्रकार के दोष को 'आशयापकर्ष' कहा जाता है।

जब वायु उचित मान में अपने स्थान पर स्थित किसी दोष को दूसरे स्थान में ले जाता है तब उचित प्रमाण में होते हुये भी वह दोष इस स्थान के लिये अतिकुपित हो जाने से उस आशय स्थान में विकारोत्पत्ति करता है। इसे आचार्य विजयरक्षित ने 'आशयापकर्ष' कहा है तथा इसी की पुष्टि आचार्य चरक ने भी की है। यथा-क्षोभ के कोप होने पर बढ़ा हुआ वायु उचित स्थान में स्थिति पित्त को उसके प्रधान स्थान पक्वाशय से खींचकर शरीर के जिस-जिस भाग में लेकर घूमता है वहां पर अल्पित शूल से भेदनवत् पीड़ा (तोद), दाह, श्रम व दुर्बलता का अनुभव होता है[2]।

इस प्रकार के रोगी में स्थानान्तरित पित्त को यथा स्थान पर लाना ही उपयुक्त चिकित्सा होती है।

XI. कार्मुकता की दृष्टि से निदान के भेद

कार्मुकता की दृष्टि से निदान को पुन: दो भागों में विभक्त करते हैं—

(i) सामान्य निदान—मिथ्या आहार-विहार से दोष वृद्धि कर रोग उत्पन्न करने वाले निदानों को सामान्य निदान कहते हैं।

(ii) विशिष्ट निदान—विष, शस्त्र, कृमि आदि से भी दोष प्रकोप होता है। अत: इन निदानों को विशिष्ट निदान कहते हैं।

जीवाणुओं का निदान में समावेश

(i) आयुर्वेद में जीवाणुओं व कृमियों का रोगोत्पत्ति में स्पष्ट संकेत मिलता है। 'केचित् सूक्ष्म्यात् अदर्शना:' से कुछ सूक्ष्म कृमियों की उपस्थिति एवं उनसे होने वाले विकारों की ओर संकेत किया गया है।

1. आशयापकर्षजे यथा-तदा स्वस्थानस्थितावेव दोषे स्वस्थलक्षणकृत्य वायु: स्वाश्रयं गमयति, तदा स्वस्थानस्थोऽपि स विकारं जनयति। (च.वि. 1/4 पर मधुकोश)
2. प्रकुपितो यदा पित्तं मारुत: श्लेष्मणो बले।
स्थानादाशय मादेषु यत्र यत्र विसर्पति ॥
तदा भेदश्च दाहश्च तत्र तत्रोपजायते।
गात्रदेशे भवत्यस्य श्रमो दौर्बल्यमेव च ॥ (च.सू. 17/45-46)

Scanned with CamScanner

कृमियों की शरीर में उपस्थिति मात्र ही रोगोत्पादक नहीं होती वरन् जब शरीर की बल (Immunity) कम हो जाता है तब ये कृमि रोग पैदा करते हैं। प्रसिद्ध जीवाणु वैज्ञानिक 'लुईसपाश्चर' ने भी कहा है-

"Microbe is nothing, Soil is everything" यहां Microbe जीवाणु एवं Soil रोगी के शरीर का द्योतक है।

(ii) कृमियों को निमित्त कारण मान सकते हैं, क्योंकि इनसे प्रथम दोष प्रकोप होता है पश्चात् रोगोत्पत्ति होती है।

(iii) "संक्रामन्ति नरान्नरम्" कहकर आचार्य सुश्रुत ने ज्वर, प्रतिश्याय, कुष्ठ, यक्ष्मा आदि रोगों का एक रोगी से दूसरे व्यक्ति में संक्रमण होना बताया है। इस प्रकार इन्होंने भी जीवाणु/कृमि की सत्ता स्वीकार की है।

(iv) वायु एवं जल के माध्यम से शरीर में आघात लगने पर विदीर्ण त्वक् द्वारा ये कृमि शरीर में प्रविष्ट होकर रोग उत्पन्न करते हैं, अतः इन्हें 'आगन्तुज कारण' में समाहित करते हैं।

जीवाणु मिथ्या आहार-विहार द्वारा शरीर में प्रविष्ट नहीं होते, अतः इन्हें आगन्तुज कारण मानना ही उचित प्रतीत होता है।

निदान के कार्य

"विकृतिमापन्नास्तु: (दोषाः) खलु नानाविधै विकारैः, शरीरमुपतापयन्ति।" से रोगोत्पत्ति में दोषों का कर्तृत्व बताया गया है। तथा "स्वधातुवैषम्यनिमित्तजाः" ये विकार सधा बहवः शरीरे" से दूष्य की विकृति तथा "तदेतत् स्रोतसां प्रकृतिभूतत्वात् न विकारैरुपलक्ष्यते शरीरम्" से स्रोतों की विकृति भी बताई गई है।

इस प्रकार रोगोत्पत्ति में निम्न तीन अवस्थाओं की उपस्थिति आवश्यक है—

(i) दोषों का प्रकोप
(ii) 'ख' वैगुण्य
(iii) दोषों द्वारा दूष्य की दुष्टि

इन तीन अवस्थाओं के सम्बन्ध में निम्न तीन प्रश्न उत्पन्न होते हैं—

(i) दोष प्रकोप का रोगोत्पत्ति के प्रकरण में क्या अर्थ है, यह किससे और कैसे उत्पन्न होता है?

(ii) 'ख' वैगुण्य कब और कैसे होता है एवं उसे कौन उत्पन्न करता है?

(iii) प्रकुपित दोष किसी विशिष्ट दूष्य को ही दूषित क्यों करते हैं?

इन तीनों प्रश्नों का समाधान यह है कि निदान तीन स्तरों पर उपरोक्त कार्यों का सम्पादन करता है एवं रोगोत्पत्ति में कारण बनता है। अर्थात् रोग के वर्णित निदानों में से कुछ—

1. निदान दोष प्रकोपक होते हैं।
2. कुछ निदान धातु शैथिल्यकर होते हैं।
3. कुछ निदान 'ख' वैगुण्योत्पादक होते हैं।

1. निदान से दोष प्रकोप

I. रोगोत्पत्ति में दोष वृद्धि का ही कर्तृत्व है। निदान से दोषों की वृद्धि होती है क्षय नहीं। दोष वृद्धि अधिक (चय प्रकोप) या कम (अचय प्रकोप) द्वारा हो सकती है। उग्र निदानों से दोषों की वृद्धि शीघ्र होती है। वात-पित्त-कफ के प्रकोपक हेतुओं का वर्णन आगे किया जा रहा है।

दोष प्रकोपक हेतु

वे निदान जो निश्चित रूप से किसी एक दोष को प्रकुपित करते हैं "दोष प्रकोपक हेतु" कहलाते हैं। आचार्य डीसटाचार्य ने "चिकित्सा कलिका" में वात-पित्त व कफ दोष के प्रकोपक हेतुओं का वर्णन किया है। आचार्य चरक, सुश्रुत एवं वाग्भट ने भी विभिन्न दोष प्रकोपक हेतुओं का वर्णन किया है जो निम्न प्रकार हैं—

वात प्रकोपक हेतु

I. आचार्य चरक मतानुसार[1]

1. विषम उपचार	2. दोष या मल का अतिक्षपण
3. रक्त विस्रावण	4. चिन्ता
5. शोक	6. रोग जन्य कृशता
7. दुःखद शैय्या	8. दुःखद आसन
9. क्रोध	10. भय
11. आम दोष	12. मर्माभिघात
13. शीघ्र गति करने वाले यान से गिरना	
14. धातु कर्षण	

II. आचार्य सुश्रुत मतानुसार[2]

1. बलवानों से मल्लयुद्ध करना	2. अति व्यायाम

1. स्थानोत्क्लेशनान्नव्यापत्तिरनागतिः।
विषमदुष्टयश्च दोषधातुकुलजवातादिः।
लंघनस्रवणरूक्षान्नव्यवायव्यतिविषेवेहैः।
धातूनां संक्षयाच्चतु शोकरोगातिकर्षणात्।
दुःखाभ्यासात्तु क्रोधादिजन्यप्रज्ञापराधात्।
वेगाघातात्प्रपतनात्क्षपणाद्धीरवात्।
मर्माभिघातादभिक्षतदोषवीर्यात्। (च.वि. 28/15-18)

2. तत्र बलवद्विग्रहतिव्यायामाध्यशनतत्क्षणान्नपानोपवासजागरणशोकहर्षभयतं लंघनस्रवण——
——— वेगविषमातिचिन्तादिभिर्वातप्रकोपणैश्च प्रकोपमापद्यते। (सु.सू. 21/19)

Scanned with CamScanner

3. अति व्यवाय
4. अति अध्ययन
5. प्रपतन (ऊंचाई से गिरना)
6. प्रधावन (अधिक दौड़ना)
7. प्रपीड़न (दबना या दबाना)
8. अभिघात
9. लंघन (उपवास)
10. प्लवन (कूदना)
11. प्रतरण (तैरना)
12. रात्रि जागरण
13. भार हरण (भार उठाना)
14. गज अतिचर्या (हाथी की सवारी करना)
15. रथ अतिचर्या
16. तुरग अतिचर्या (घोड़े की सवारी करना)
17. पदातिचर्या
18. कटु तिक्त, कषाय, रूक्ष, लघु, शीत पदार्थों का सेवन, शुष्कशाक, वल्ल, कुधान्य, उद्दालक, कोदों, सावां, मूंग, मसूर, अरहर, चना का सेवन
19. अनशन
20. विषमाशन
21. अध्यशन
22. वेगावरोध

iii. आचार्य वाग्भट्ट मतानुसार[1]

1. विष्टम्भी पदार्थ सेवन
2. अंकुरित अन्न सेवन
3. करीर, खरबूज, कमलदण्ड, कमलमूल, तिन्दुक का सेवन।
4. हीन भोजन
5. शुष्क भोजन
6. तृषित होने पर भोजन
7. क्षुधित होने पर जलपान
8. विरेचन का अतियोग
9. वेग उदीरण
10. विक्षेपण
11. भ्रमण
12. चलन (अधिक चलना)
13. क्रियातियोग (किसी भी कार्य का अति में करना)
14. पराघातन
15. साहस
16. अत्युच्च भाषण

iv. आचार्य तीसटाचार्य मतानुसार (चिकित्साकलिका 29)

1. अति व्यायाम
2. अपतर्पण
3. लंघन
4. प्रपतन (ऊंचाई से गिरना)
5. भान
6. धातुक्षय
7. रात्रिजागरण
8. वेगधारण
9. अतिशोक
10. अतिशीत सेवन
11. अतिभय
12. रुक्षान्न सेवन

1. विष्टम्भिकदन्नस्याहितभोजनैः।
पानेर्वेगैर्विसङ्गाद्यैरुपघातैः॥
क्रियातियोगधीशोकैर्बन्धव्यापदपर्पणैः।
क्षीणक्षोभैश्च भुक्तान्ते प्रकुप्यति समीरणः॥

(अ.हृ.नि. 1/14-15)

13. कषाय, कटु, तिक्त पदार्थ सेवन
14. वर्षा ऋतु
15. भोजन के पचने पर
16. शरदऋतु
17. क्षोभ

पित्त प्रकोपक हेतु

i. आचार्य सुश्रुत मतानुसार[1]

1. क्रोध-शोक
2. भय
3. आयास (परिश्रम)
4. तैल, पिण्याक सेवन
5. कुलत्थ, सर्षप सेवन
6. हरित शाक सेवन
7. गोधामांस सेवन
8. मत्स्य, अजा मांस सेवन
9. भेड़ के मांस का सेवन
10. तक्र, कूर्चिका सेवन
11. मस्तु सेवन
12. सौवीरक सेवन
13. सुरा विकार सेवन
14. अम्ल फल सेवन
15. कट्वर सेवन
16. ऊष्म काल
17. उपवास

ii. आचार्य वाग्भट्ट मतानुसार[2]

1. क्षार सेवन
2. शुक्त सेवन
3. शाण्डाकी सेवन
4. मूत्र सेवन
5. धान्याम्ल सेवन
6. निष्पाव, पिण्याक सेवन
7. आम्रातक, अम्लिका सेवन
8. पीलु सेवन
9. भल्लातकास्थि सेवन
10. लाङ्गलिका सेवन
11. अग्नि सेवन
12. मरिच सेवन
13. रज, धूम सेवन
14. ईर्ष्या
15. अजीर्ण में मैथुन
16. वर्षा ऋतु
17. क्षुधा व तृषावरोध

iii. आचार्य तीसटाचार्य मतानुसार (चिकित्सा कलिका 30)

1. कटु, अम्ल, लवण, उष्ण, तीक्ष्ण, विदाही द्रव्यों का सेवन
2. क्रोध
3. उपवास
4. आतप
5. स्त्री सेवन
6. तिल सेवन
7. तीसी सेवन

1. क्रोधशोकभयायासक्षुधाक्षारविदग्धपैषुनोपगमन कटूवम्ल लवण तीक्ष्णोष्ण-
रूक्षकट्वप्रभृतिभिः पित्तं प्रकोपमापद्यते॥ (सु.सू. 21/2)
2. पित्तं कटूवम्लतीक्ष्णोष्णापटूक्षोपविदाहिभिः।
शरत्प्रावृड्वयोऽन्नार्धविदाहसमयेषु च॥ (अ.हृ.नि. 1/1)

Scanned with CamScanner

8. दधि सेवन
9. सुरा सेवन
10. सिरका सेवन
11. कांजी सेवन
12. मध्याह्न
13. अर्धरात्रि
14. भोजनोत्तर
15. भोजन पचन काल
16. शरद ऋतु
17. ग्रीष्म ऋतु

कफ प्रकोपक हेतु

i. आचार्य सुश्रुत मतानुसार[1]

1. दिवाशयन
2. अव्यायाम-आलस्य
3. मधुर, आम्ल, लवण, शीत पदार्थों का अति सेवन
4. पिच्छिल, अभिष्यन्दी द्रव्यों का सेवन
5. यवक सेवन
6. इक्षट सेवन (धान्य विशेष)
7. वैपथ सेवन (धान्य विशेष)
8. माष, महामाष, गोधूम अति सेवन (उड़द, राजमा, गेहूँ अति सेवन)
9. तिलकुट सेवन (गजक)
10. पिष्ट विकृति सेवन
11. कृशरा सेवन
12. पायस सेवन
13. आनूप, औदकमांस सेवन
14. बिस, मृणाल, कशेरु सेवन
15. रसा सेवन
16. श्रृङ्गाटक (सिंगाड़ा)
17. मधुर फल
18. जल्ली फल
19. समशन (हित-अहित पदार्थ एक साथ सेवन करना)
20. अध्यशन (अजीर्ण में भोजन करना)

ii. आचार्य वाग्भट्ट मतानुसार[2]

1. नवान्न सेवन
2. स्थूल भक्ष्य सेवन
3. शष्कुली सेवन
4. आमदुग्ध सेवन
5. किलाट सेवन (भक्ष्य पदार्थ)
6. भोरट सेवन (भक्ष्य पदार्थ)
7. कूर्चिका सेवन
8. तक्रपिण्ड सेवन
9. पीयूष सेवन
10. कदलीफल सेवन
11. खजूर, कमरख सेवन
12. नारियल सेवन

1. ..... (सु.सू. 21/20)
2. ..... (अ.हृ.नि. 1/13-15)

13. रात्रि जल सेवन
14. अति जल सेवन
15. अति संतर्पण
16. अतिव्यायाम
17. हर्ष
18. छर्दि रोकना
19. विरेचन अयोग
20. आध्मानयुक्त
21. अजीर्ण
22. मंदाग्नि
23. अवश्याय (ओस लगना)

iii. आचार्य तीसटाचार्य मतानुसार (चिकित्सा कलिका 31)

1. गुरु द्रव्य सेवन
2. मधुर, स्निग्ध, द्रव द्रव्य सेवन
3. दुग्ध, इक्षु रस सेवन
4. दही सेवन
5. दिवाशयन
6. अपूप भक्षण (पूआ का भक्षण)
7. घृत निर्मित द्रव्य भक्षण
8. हेमन्त ऋतु
9. शिशिर ऋतु
10. प्रातः काल
11. भोजन के पश्चात्
12. वसन्त ऋतु

II. निदान से दोष वृद्धि—विभिन्न रोगों की सम्प्राप्तियों में निदान सेवन से दोष वृद्धि को विभिन्न शब्दों द्वारा वर्णित किया गया है। जिन में से कुछ शब्दों का वर्णन निम्न तालिका में किया जा रहा है—

क्र.सं.	शास्त्र वाक्य	रोगनाम	प्रधानदोष	सन्दर्भ ग्रंथ
1.	"तर्होतुभिः संपुत्क्लिष्टं पित्तं....।"	रक्तपित्त	पित्त	च.चि.4/7
2.	"बहुत्वः श्लेष्मादोषाविशेष....।"	प्रमेह	कफ	च.नि.4/6
3.	"वातादयस्त्रयो दुष्टाः....।"	कुष्ठ	त्रिदोष	च.चि.7/9
4.	"हैरल्पसत्वस्य मलाः प्रदुष्टाः....।"	उन्माद	त्रिदोष	च.चि.9/5
5.	"दुष्यत्यग्निः....।"	ग्रहणी	पित्त	च.चि.15/44
6.	"दोषः पित्तप्रधानास्तु यस्य कुप्यन्ति धातुषु....।"	पाण्डु	पित्त (त्रिदोष)	च.चि.16/4
7.	"स वायुः प्रकुपितः....।"	अतिसार	वात	च.चि.19/5
8.	"वायुर्विवृद्धोः वृद्धेन....।"	वातरक्त	वात	च.चि.29/10
9.	"दोषाः विगुणा....।"	हृदोग	त्रिदोष	सु.43/4
10.	"विदग्धं पित्तम्....।"	अम्लपित्त	पित्त	मा.नि. 51/1
11.	"दोषाः सम्मूर्छिताः....।"	अर्बुद	त्रिदोष	सु.नि.11/13

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि दोष वैषम्य ज्ञापक निम्न शब्दों का प्रयोग संहिताओं में मिलता है-दोष प्रकोप, दोष वृद्धि, दोष दुष्टि, दोष वैगुण्य, सम्मूर्च्छित दोष, उच्छ्रित दोष, सङ्क्लिष्ट दोष, संचित दोष, बलवान दोष, एवं विदग्ध दोष इत्यादि इन सभी शब्दों से दोष प्रकोप (वृद्धि) ही समझना चाहिये।

Scanned with CamScanner

III. निदान में दोष के जिस अंश को बढ़ाने वाले भाव होंगे, [illegible] विशिष्ट अंश की वृद्धि होगी। इस प्रकार दोष की सर्वांगीण या आंशिक [illegible] है।

IV. निदान से अग्निमांद्य भी होता है जो सीधे ही निदान के प्रभाव से [illegible] सकता है या किसी दोष विशेष की वृद्धि से अग्नि पर क्षणात्मक प्रभाव [illegible] होता है।

2. निदान से खवैगुण्य उत्पत्ति

निदान के एक अंश से "खवैगुण्य" उत्पन्न होता है। सम्प्राप्ति को [illegible] स्पष्ट है कि दोषों का संग या स्थानसंश्रय उसी स्थान में होता है जहां "[illegible] उपस्थित हो। इसका एक अर्थ यह भी है कि प्रसरणशील दोषों को पूर्व में ही [illegible] "खवैगुण्य" उपलब्ध होता है जहां वे स्थानसंश्रय करते हैं। यह "खवैगुण्य" [illegible] वहां पहुंचने से पूर्व किसने उत्पन्न किया? सम्भवतः इसका एकमात्र उत्तर यही है कि "खवैगुण्य" निदान के विशिष्ट अंश से ही उत्पन्न होता है। इसी तथ्य को यहां पर कुछ उदाहरणों से स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है जो निम्नानुसार है—

क्र.सं.	रोग नाम	खवैगुण्योत्पादक निदान (अंश)
1.	श्वास	रज, धूम्र सेवन
2.	उरः क्षत	प्लावन, धावन, आघात
3.	जलोदर	स्नेहन, अनुवासन बस्ति बाद सहसा शीतल जलपान
4.	स्वरभेद	उच्चभाषण, विष सेवन
5.	अर्श	कठोर आसन पर बैठना, अति कुन्थन
6.	वातरक्त	ऊष्ट्रयान, प्लावन, अभिघात
7.	अतिसार	वेगधारण, प्रदुष्ट जलपान
8.	उरु स्तम्भ	अत्यायास, उरुक्षोभ

अतः यह स्पष्ट है कि किसी विशिष्ट निदान के सेवन से विशिष्ट व्याधि ही उत्पन्न होती है, अन्य नहीं।

3. निदान से धातुशैथिल्य (दूष्य वैषम्य) प्रक्रिया

I. निदान के एक अंश से किसी विशिष्ट दूष्य में शैथिल्य या विषमता उत्पन्न होती है। अतः स्रोतस में अन्य दूष्यों की उपस्थिति होने पर भी उस विशिष्ट दूष्य में ही विकृति उत्पन्न होकर विशिष्ट रोग की उत्पत्ति होती है।

II. शास्त्रों में धातु प्रदूषक कारण बताये गये हैं उन्हें निदान का धातु शैथिल्यकर अंश ही समझना चाहिये।

III. किसी रोग की उत्पत्ति में शारीरिक बल (व्याधिक्षमत्व) अवश्य [illegible] है तथा सभी धातुओं के पुष्ट रहने पर शारीरिक बल सामान्य बना रहता है। यदि शारीरिक धातुयें पुष्ट नहीं होंगी तो शारीरिक बल भी स्वतः क्षीण होने लगता है तथा शरीर में रोग उत्पन्न होने की संभावना बढ़ जाती है। अतः रोगोत्पत्ति के लिये धातु दौर्बल्य, शैथिल्य या बल क्षय आवश्यक है जो कि निदान के विशिष्ट अंश से होता है।

इस प्रकार किसी भी रोग की उत्पत्ति में निदान तीन स्तरों पर कार्य करता है, (i) दोष वृद्धि, (ii) खवैगुण्य एवं (iii) दूष्य शैथिल्य या दौर्बल्य उत्पन्न होना। ज्वर के निदानों के सेवन से पित्त वृद्धि, रसवहस्रोतस् में खवैगुण्य तथा रस धातु दौर्बल्य होकर ज्वर रोग उत्पन्न होता है। इसी प्रकार रक्तपित्त के निदानों के सेवन से पित्त वृद्धि रक्तवहस्रोतस् में खवैगुण्य एवं रक्तदौर्बल्य उत्पन्न होता है एवं रक्तपित्त रोग की उत्पत्ति होती है।

II. पूर्वरूप

i. दोष विशेष के ज्ञान के बिना कुछ काल बाद उत्पन्न होने वाला रोग जिन लक्षणों से जाना जाता है उस लक्षण समूह को पूर्वरूप कहते हैं[1]।

ii. प्रसरावस्था को प्राप्त हुये प्रकुपित दोष जब किसी स्थान विशेष पर एकत्र होते हैं तब इस अवस्था में भविष्य में होने वाली व्याधि के जिन लक्षणों को उत्पन्न करते हैं उन्हें पूर्वरूप कहते हैं[2]।

iii. व्याधि उत्पन्न होने से पहले प्रकट होने वाले लक्षणों को पूर्वरूप कहते हैं[3]।

पूर्वरूप के भेद—पूर्वरूप के निम्न दो भेद हैं—

1. सामान्य पूर्वरूप 2. विशिष्ट पूर्वरूप

1. **सामान्य पूर्वरूप**—सामान्य पूर्वरूप दोष-दूष्य सम्मूर्च्छना की प्रारंभिक स्थिति में उत्पन्न होते हैं। इनसे भावी व्याधि का संकेत मात्र मिलता है किसी दोष विशेष का ज्ञान नहीं होता। यथा-ज्वर के पूर्वरूप अन्न, अरति आदि से सिर्फ ज्वर का संकेत मिलता है उसके दोषिक (वातिक, पैत्तिक आदि) स्वरूप का नहीं[4]।

2. **विशिष्ट पूर्वरूप**—भावी व्याधि के विशिष्ट भेदों यथा-वातिक, पैत्तिक, कफज, का अनुमान विशिष्ट पूर्वरूप द्वारा होता है। यथा-वातिक ज्वर में जृम्भा अधिक

---

1. प्राक्रूपं येन तद्यथते। उत्पित्सुव्याधयो दोषविशेषज्ञानाधिष्ठानम्। लिङ्गमव्यक्तव्यक्तकरं व्याधीनां तद्यथाबलम्। (अ.हृ.नि. 1/3-4)
2. स्थानसंश्रयिणः कुद्धा भाविव्याधिप्रबोधकम्। दोषाः कुर्वन्ति यल्लिङ्गं पूर्वरूपं तदुच्यते॥ (च.नि. 1/5-6)
3. पूर्वरूपं प्रागुत्पत्ति लक्षणं व्याधेः। (च.नि. 1/8)
4. अन्नेऽरतिर्विबन्धश्च वैरस्यं सदनक्लमः। इष्यतेऽन्नो मुहुश्चापि शंसेत्तत्तत्कफादिषु॥ ..... भवत्यपूर्वाप्यरति ज्वरे॥ (सु.उ.39/25-26)

Scanned with CamScanner

होना, पैत्तिक ज्वर में आँखों में जलन, श्लैष्मिक ज्वर में अन्न से अरुचि [illegible]
के विशिष्ट पूर्वरूप हैं[1]।

व्याधि के ये लक्षण जो अल्प व्यक्त हो उन्हें विशिष्ट पूर्वरूप कहते हैं।

आचार्य चक्रपाणि ने एक शंका पूर्वरूप विषयक की है कि जो रोग [illegible] हुआ उसका पूर्वरूप कैसे हो सकता है? इसका समाधान भी उन्होंने स्वयं ही [illegible] प्रकार वर्षा अभी नहीं हो रही है परन्तु मेघोदय को देखकर भविष्य में वर्षा होने का [illegible] लग सकते हैं उसी प्रकार पूर्वरूप देखकर भावी व्याधि का अनुमान लगाया जा [illegible]

पूर्वरूप का वर्णन कुछ ही व्याधियों में मिलता है जिनमें नहीं मिलता वह आशुकारी व्याधियां (Acute diseases), जिनमें दोष-दूष्य सम्मूर्च्छना अत्यधिक [illegible] हो जाती है-अलसक, विसूचिका आदि में तथा सामान्य लक्षणों वाली व्याधियों [illegible] प्रकृतिसमसमवेत संमूर्च्छना होती है उनमें पूर्वरूप व रूप प्रायः समान ही होते हैं। जैसे अम्लपित्त, उरःक्षत आदि।

III. रूप

पूर्वरूप जब व्यक्त हो जाते है तब उन्हें रूप या लक्षण कहा जाता है[2]। व्याधि का अव्यक्त अथवा व्यक्त रूप ही "रूप" कहलाता है[3]। स्रोतो दुष्टि होने के पश्चात् दोष-दूष्य सम्मूर्च्छना पूर्ण होने पर जो लक्षण उत्पन्न हुई व्याधि का बोध कराते हैं उन्हें "रूप" कहते हैं[4]।

रूप के पर्याय—संस्थान, व्यञ्जन, लिङ्ग, लक्षण, चिह्न, आकृति तथा रूप[5]।

रूप के भेद—रूप के निम्न दो भेद शास्त्रों में वर्णित हैं—

1. प्रकृति समसमवेत रूप 2. विकृति विषमसमवेत रूप

1. प्रकृति समसमवेत रूप—व्याधि के जो लक्षण दोष-दूष्य सम्मूर्च्छना के अनुसार होते हैं उन्हें प्रकृति समसमवेत रूप कहते हैं। यथा-द्वन्द्वज व सन्निपातज आदि।

2. विकृति विषम समवेत रूप—जब व्याधि के लक्षण दोष-दूष्य की समान सम्मूर्च्छना से भिन्न होते है उन्हें विकृति विषमसमवेत रूप कहते हैं। यथा-वातिक प्रमेह के लक्षण कफ दोष, मेद दूष्य व आमाशय दुष्टि के लक्षणों से भिन्न होते हैं।

लक्षण या रूप के पुनः निम्न तीन भेद होते हैं—

1. सामान्य लक्षण 2. विशिष्ट लक्षण 3. प्रत्यात्म लक्षण

1. विशेषतु दृष्टः सर्वं समाप्तम्। विज्ञानपञ्चकेभ्यः कथानावशिष्यते॥ (सु.उ. 39/3)
2. लिङ्गव्यतिरेकाभ्यां व्याधेर्यं तद्यथा सत्। (अ.हृ.नि. 1/4)
3. तदेव लक्षणं यत् स्वं व्याधिमभिनक्ति। (अ.हृ.नि. 1/5)
4. रूपं, स्थानं व्यक्तः सदृशम्। (मा.नि. 1/7 पर मधुकोश)
5. तत्पुनर्विकृतिविषमसमूर्च्छनायां लक्षणं व्याधेः, तत्कार्यत्वाच्च व्याधेः॥ (मा.नि. 1/7 पर मधुकोश)
6. तत्र लिङ्गमनुलिङ्गयते चिह्नं संस्थानं व्यञ्जनं रूपं लिङ्गमाकृतिरिति पर्यायान्तरम्। (च.नि. 4/4)

इनका सविस्तार वर्णन पूर्व में व्याधि हेतु के अन्तर्गत अध्याय में, तः "व्याधि विवेचन" में किया जा चुका है।

IV. उपशय

1. चिरकाल तक सुख देने वाले औषध अन्न एवं विहार के उपयोग को व्याधि का "उपशय" कहते हैं[1]।
2. साध्य को उपशय कहते हैं[2]।
3. गूढ लिङ्ग वाली व्याधि में रोग विनिश्चय करने के लिये जिसका प्रयोग होता है उसे उपशय या अनुपशय कहते हैं[3]।
4. व्याधि का सापेक्ष निदान (Differential diagnosis) करने के लिये उपशय का उपयोग किया जाता है। यथा-संधिगत व आमगत का सापेक्ष निदान स्नेहन कर्म से किया जाता है। स्नेहन से लाभ होने पर संधिगत तथा लाभ न होने पर आमवात का विनिश्चय किया जाता है। तत्पश्चात् चिकित्सा कर्म प्रारंभ किया जाता है।
5. उपशय चिकित्सा से भिन्न है। उपशय रोग ज्ञान का एक साधन है किन्तु चिकित्सा का क्षेत्र विस्तृत है। चिकित्सा के द्वारा व्याधि का ज्ञान नहीं होता किन्तु गूढ लिङ्ग वाली व्याधियों का ज्ञान उपशय द्वारा होता है।
6. अनुपशय—उपशय के विपरीत लक्षणों को अनुपशय कहते हैं। इसे असात्म्य भी कहा जाता है। निदान (आहार, विहार, कर्म) द्वारा ही अनुपशय या दुःख होता है अतः अनुपशय का समावेश निदान में कर लिया गया है[4]।

उपशय के भेद—उपशय के निम्न अठारह भेद होते हैं—

1. हेतु विपरीत औषध
2. हेतु विपरीत अन्न
3. हेतु विपरीत विहार
4. व्याधि विपरीत औषध
5. व्याधि विपरीत अन्न
6. व्याधि विपरीत विहार
7. उभय विपरीत औषध
8. उभय विपरीत अन्न
9. उभय विपरीत विहार
10. हेतु विपरीतार्थकारी औषध
11. हेतु विपरीतार्थकारी अन्न
12. हेतु विपरीतार्थकारी विहार
13. व्याधि विपरीतार्थकारी औषध
14. व्याधि विपरीतार्थकारी अन्न

1. हेतुव्याधि विपर्ययौ विपर्ययौत्तरार्थकरौ च। औषधान्नविहारान्नुपयोगं सुखावहम्॥ विद्यादुपशयं व्याधेः स हि॥ (अ.हृ.नि. 1/6-7)
2. साध्यमिति स्मृतः। (अ.हृ.नि. 1/7)
3. गूढलिङ्गं व्याधिमुपशयानुपशयाभ्यां परीक्षेत्। (च.नि. 4/8)
4. विपरीतोऽनुपशयः। (अ.हृ.नि. 1/7)

Scanned with CamScanner

15. व्याधि विपरीतार्थकारी विहार
16. उभय विपरीतार्थकारी [illegible]
17. उभय विपरीतार्थकारी अन्न
18. उभय विपरीतार्थकारी [illegible]

इनका सविस्तार वर्णन चिकित्सा के भेद के अन्तर्गत "पंचम अध्याय-चिकित्सा विवेचन" में किया जा चुका है।

V. सम्प्राप्ति

निदान पंचक का अंतिम घटक सम्प्राप्ति है इसका विस्तृत वर्णन अगले "अष्टम अध्याय आम-सम्प्राप्ति विवेचन" में किया गया है।

अष्टम अध्याय

सम्प्राप्ति विवेचन (Pathogenesis)

"यद्यादुष्टेन दोषेण यथा चानुविसर्पता।
निर्वृत्तिरामयस्यासौ सम्प्राप्तिर्जातिरागतिः॥"

(च.वि.वि.1/8)

अर्थात् निदान सेवन के पश्चात् रोगोत्पत्ति होने तक सर्वावस्थागत जितने परिवर्तन होते हैं वे सम्प्राप्ति कहलाते हैं। रोग की सम्यक् प्राप्ति ही सम्प्राप्ति है। आचार्य वाग्भट्ट के अनुसार दोष जिस प्रकार से निदानों से दूषित होकर विसर्पण करता हुआ शरीर गत धातुओं को दूषित करता है तथा रोग उत्पन्न करता है उसे सम्प्राप्ति कहते हैं। 'जाति' तथा 'आगति' इसके पर्याय कहे गये हैं[1]।

(i) 'जाति' अर्थात् जन्म या व्याधि जन्म।
(ii) 'आगति' अर्थात् व्याधि जनक कारण का व्याधिजनन पर्यन्त गमन।

आचार्य सुश्रुतोक्त 'षडक्रिया काल' "संचयं च प्रकोपं च" में सम्पूर्ण विकार परम्परा का समावेश सम्प्राप्ति में हो जाता है। निदान सेवन के पश्चात् दोष दुष्टि होकर लक्षणोत्पत्ति पर्यन्त सम्पूर्ण व्याधि जनक व्यापार परम्परा को "सम्प्राप्ति" कहते हैं[2]। अर्थात् व्याधि के आभ्यन्तर दोष-दूष्य विकृति क्रम को सम्प्राप्ति कहते हैं। इसका ज्ञान रोग विनिश्चय तथा चिकित्सा में सहायक होता है।

आधुनिक चिकित्सा शास्त्र में शरीरान्तर्गत वैकारिक परिवर्तन को सम्प्राप्ति या Pathogenesis कहते हैं। इसका अध्ययन "विकृति विज्ञान" या Pathology के अंतर्गत विस्तारपूर्वक किया जाता है। रोग के प्रधान या सहायक पूर्व रोग लिङ्ग (Sex), आयु (Age), काल, रोगाणु (Bacteria / Virus) या आहार-विहार एवं तद्जन्य शरीरान्तर्गत परिवर्तनों की सम्पूर्ण परम्परा Pathogenesis के अंतर्गत आती है।

आचार्य विजय रक्षित जी ने "मधुकोष टीका" में लिखा है कि दोषों की दुष्टि प्राकृत, वैकृत, अनुबन्ध्य, या अनुबन्ध, एकदोषज, द्विदोषज या त्रिदोषज भेद से नाना प्रकार की होती है। यह दोष दुष्टि दोष प्रकोपक समस्त या अल्प कारणों से हो सकती है। इस प्रकार प्रबल या स्वल्प दूषित दोष के द्वारा रोग की उत्पत्ति होने को सम्प्राप्ति कहते हैं[3]।

1. संप्राप्तिर्जातिरागतिरित्यर्थाः स्युः। (च.वि. 1/11)
2. व्याधिजनकव्यापारविशेषदुष्टं व्याधिजन्येऽह सम्प्राप्ति शब्देन वाच्यम्। (च.वि. 1/11 पर चक्रपाणि)
3. दुष्टेन दोषेण या अल्पस्य रोगस्य निर्वृत्तिरुत्पत्तिः सा सम्प्राप्तिः। (च.वि.1/10 पर मधुकोष)

Scanned with CamScanner

इस प्रकार की सम्प्राप्ति व्याधि की यथार्थ ज्ञापिका होती है। [illegible] शमनार्थ चिकित्सा में भी उतना ही वैशिष्ट्य होता है। जैसा कि ऊपर भी [illegible] आमाश्य दुष्टि एवं अग्निमान्द्य का ज्ञान होने पर लंघन, पाचन, स्नेदनादि [illegible] उपयोगिता स्वयं ही सिद्ध हो जाती है, साथ ही चिकित्सा विशेष के लिए [illegible] अध्ययन अपेक्षित है। जिस प्रकार पूर्वरूप एवं रूप दोनों में व्याधि ज्ञापन में [illegible] हुए भी चिकित्सा विशेष के लिए पृथक्-पृथक् निर्देश है, पूर्वरूपावस्था व [illegible] चिकित्सा में परस्पर भेद है, अर्थात् किसी रोग की पूर्वरूपावस्था में दी गई चिकित्सा रूपावस्था में अनुपान हो सकती है। अतः सम्प्राप्ति का चिकित्सा में अपना वैशिष्ट्य है। यथा- प्रतिश्याय की पूर्वरूपावस्था में अदूजता हर औषधियाँ (Antihistaminic drugs) उत्तम कार्य करती हैं (यथा हल्दी, गुड़ आदि) परन्तु प्रतिश्याय हो जाने पर इनका विशेष महत्व नहीं रहता।

कविराज गणनाथ सेन ने सम्प्राप्ति का लक्षण निम्न प्रकार से कहा है-

संचित वातादि दोष प्रकुपित होकर एक-एक, दो-दो या सभी मिलकर शरीर में प्रसरण करते हुए सम्पूर्ण शरीर में या शरीर के किसी आश्रय विशेष में आश्रित होकर रसादि धातुओं, स्तन्य-आर्तव आदि उपधातु एवं मूत्र-पुरीष-स्वेद आदि मलों, इनमें से एक, दो या अनेकों को दूषित कर अमुक लक्षणों वाला, अमुक नामवाला तथा अमुक प्रकार के रोग को उत्पन्न करते हैं उसे सम्प्राप्ति कहते हैं।

सम्प्राप्ति भेद

सामान्यतः सम्प्राप्ति के दो भेद होते हैं-

I सामान्य सम्प्राप्ति II विशिष्ट सम्प्राप्ति

I सामान्य सम्प्राप्ति—इसके छः भेद बताये गए हैं जिन्हें "क्रियाकाल" भी कहते हैं जो निम्न हैं-

(i) संचय (ii) प्रकोप (iii) प्रसर
(iv) स्थानसंश्रय (v) व्यक्तावस्था (vi) भेदावस्था[1]

इनका विस्तार से वर्णन आगे किया जाएगा।

II विशिष्ट संप्राप्ति—आचार्य चरक ने विशिष्ट सम्प्राप्ति के छः[2] भेद वर्णित किये हैं। अन्य आचार्यों ने इसके पाँच भेद माने हैं, जो निम्न प्रकार हैं-

1. अनुपशयस्तत्कर्म पंच प्रकाराः स्मृताः।
दृष्ट्वाऽथ विकृतान्दोषान् विद्वानादेशयेत् भिषक्॥
जनयति यदा तु सोऽपराधक प्रकोपकः।
ते संसर्गेण तनुः गम्भीर्य कर्तव्यलक्षणाः॥ (सिद्धान्त निदान प्र.सं. 9.10)
संसर्ग च प्रकोपं च प्राप्तं स्थानसंश्रयम्।
व्यक्तिं भेदं च यो वैद्य दोषाणां स न मुह्यति॥ (सु.सू. 21/39)
स संप्राप्तप्रकाश्य विधिविकल्पकल्पनातत्त्वविशेषैर्भिषक्। (च.वि. 1/11)

(i) संख्या सम्प्राप्ति (ii) विकल्प सम्प्राप्ति
(iii) प्राधान्य सम्प्राप्ति (iv) बल सम्प्राप्ति
(v) काल सम्प्राप्ति (vi) विधि सम्प्राप्ति

आचार्य वाग्भट्ट व कविराज गणनाथ सेन ने विधि सम्प्राप्ति का संख्या संप्राप्ति के अंतर्गत अन्तर्भाव मानकर पृथक् गणना नहीं की है।

(i) **संख्या सम्प्राप्ति**—दोष-दूष्य के संसर्ग की विशेषता से होने वाले कई प्रकार का होता है इसकी गणना को संख्या सम्प्राप्ति कहते हैं। यथा- ज्वर के 8 प्रकार, गुल्म के 5 प्रकार (वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज तथा एकज भेद)। चरक संहिता के अष्टोदरीय अध्याय में वर्णित 48 सामान्यज रोग "संख्या सम्प्राप्ति" के उदाहरण हैं। च.सू. 19

(ii) **विकल्प सम्प्राप्ति**—किसी रोग में परस्पर सम्बद्ध दोषों के गुणों के प्रकोपांशों का सूक्ष्म विचार ही "विकल्प सम्प्राप्ति" है। यथा- एकदोषज, द्विदोषज, त्रिदोषज व्याधियों में वातादि दोषों में से वात अपने रुक्ष-शीत-लघु-सूक्ष्म-विशद-खरादि गुणों से, पित्त अपने उष्ण-तीक्ष्ण-सर आदि तथा कफ अपने शीत-गुरु-स्निग्ध-पिच्छिल-गुणों में से एक-दो या तीन आदि कितने अंशों से प्रकुपित हुआ है? इसकी गणना "विकल्प सम्प्राप्ति" है। अर्थात् दोषों की अंशांशकल्पना ही "विकल्प सम्प्राप्ति" है।

यथा-कषाय रस एवं कलाय अपने रुक्ष, शीत, लघु, सूक्ष्म, चल, विशद एवं खरादि गुणों से सभी अंशों में वात दोष को बढ़ाता है। इक्षु सिर्फ रुक्ष एवं शीत गुणों से वात दोष की वृद्धि करता है। सौधु केवल रुक्ष गुण के कारण एक अंश से वात दोष को बढ़ाता है।

कटु रस एवं मद्य समस्त अंशों में पित्त दोष को प्रकुपित करते हैं। हिंगु कटु, उष्ण एवं तीक्ष्ण गुणों से तथा अजाजाइन उष्ण, तीक्ष्ण गुणों से पित्त दोष को प्रकुपित करता है।

मधुर रस एवं माहिष क्षीर समस्त अंशों में कफ दोष को प्रकुपित करता है। कशेरुक शीत एवं गुरु होने से तथा क्षीरी वृक्षों के फल सिर्फ शीत गुण से कफ दोष को प्रकुपित करते हैं।

इसके ज्ञान के आधार पर ही दोष जिन गुणों से प्रकुपित हुए हों उनके विपरीत गुण वाले द्रव्यों के प्रयोग से उनकी चिकित्सा करनी चाहिए। यही इसके ज्ञान का प्रयोजन है।

(iii) **प्राधान्य सम्प्राप्ति**[3]—व्याधि में सम्बंधित दोषों की स्वतंत्रता व परतंत्रता के आधार पर व्याधि की प्राधान्य या अप्रधान्य सम्प्राप्ति का निर्देश किया जाता है।

1. संख्याप्रधानमाहीश्वरः, रूक्ष गुरुत्वः, सत्त कुष्ठाभेषजादिः। (च.वि. 1/11)
2. i) सप्तकेषां पुनर्दोषाणां संसर्गश्च विकल्पो बल विकल्पोऽस्तिवर्ये। (च.वि. 1/11)
ii) अंश कल्पनातरतीक्ष्णादयः तीक्ष्णत्वांशकादिकौषधभावत कल्पना। (च.वि. 1/12 पर चक्रपाणि)
3. प्राधान्यं पुनर्दोषाणां स्वतन्त्रापारतन्त्र्यतो। (च.वि. 1/11)

Scanned with CamScanner

जहाँ पर दो या तीन दोष व्याधि जनक हों वहाँ पर प्रधान दोष को [illegible] लिए 'तर' या 'तम' शब्द का प्रयोग किया जाता है। यथा-वात-पित्तज व्याधि में अपेक्षा वात अधिक बढ़ा हो तो पित्त 'वृद्ध', वात 'वृद्धतर' कहा जाता है। [illegible] व्याधि में यदि वात सर्वाधिक कुपित हो तथा पित्त सबसे कम कुपित हो तो वह 'वृद्ध तम', कफ 'वृद्ध तर' व पित्त 'वृद्ध' सन्निपातिक कहेंगे। इसी प्रकार यदि दोष [illegible] से उत्पन्न हुआ हो तब 'क्षीण', 'क्षीणतर' व 'क्षीणतम' शब्दों का प्रयोग किया जाता है।

इसी प्रकार-

1. यदि किसी रोग में प्रथम वात कुपित हुआ, बाद में कफ या पित्त कुपित हुआ हो तो स्वतंत्र होने से वात को 'प्राधान्य' माना जाता है।
2. सभी कारणों में जो दोष प्रबल रूप से कुपित होता है उसका प्राधान्य माना जाता है। तर-तम degree
3. जो रोग प्रथम उत्पन्न होता है उसका प्राधान्य माना जाता है। यथा प्रथम ज्वर उत्पन्न हुआ, पश्चात् कास, तब ज्वर प्रधान रोग कहलायेगा।

प्राधान्य सम्प्राप्ति ज्ञान से यह लाभ होता है कि प्रधान रोग की चिकित्सा पहले की जाती है। अप्रधान रोग प्रधान व्याधि की चिकित्सा से स्वयंमेव ही शांत हो जाते हैं।

(iv) बल सम्प्राप्ति[1]—निदान, पूर्वरूप एवं रूप की अधिकता एवं अल्पता के कारण व्याधि के बलाबल का ज्ञान बल सम्प्राप्ति द्वारा होता है। जब हेतु, पूर्वरूप, रूप आदि सम्पूर्ण रूप से किसी रोग में पाये जाते हैं तब रोग प्रबल होता है एवं जब हेतु, पूर्वरूपादि अल्प होते हैं तब रोग अल्प बल का होता है। e.g. -साध्य-[illegible]

(v) काल सम्प्राप्ति[2]-जिस सम्प्राप्ति में काल अर्थात् रात्रि, दिन, ऋतु एवं भोजन के आदि, मध्य एवं अंत में व्याधि की वृद्धि तथा उत्पत्ति के द्वारा दोष विशेष का निर्णय होता है उसे "काल सम्प्राप्ति" कहते हैं। व्याधि की उत्पत्ति व वृद्धि का काल देखकर व्याधि किस दोष से उत्पन्न हुई है इसका ज्ञान होता है[3]।

(1) यथा वर्षा ऋतु, अपराह्न, अपर रात्रि तथा भोजन की जीर्णावस्था में वात की वृद्धि होती है।

(2) शरद ऋतु, मध्याह्न, मध्यरात्रि तथा आहार की पच्यमानावस्था में पित्त दोष की वृद्धि होती है।

(3) वसन्त ऋतु, पूर्वाह्न, पूर्वरात्रि व भोजन के पश्चात् कफ दोष की वृद्धि होती है।

1. [illegible]
2. [illegible]
3. "[illegible] (अ.हृ.नि. 1/11)
(अ.हृ.नि. 1/11)
(अ.हृ.नि. 1/11)

इसी प्रकार वृद्धावस्था में वात की, युवावस्था में पित्त की तथा बाल्यावस्था में कफ दोष की वृद्धि होने से इन अवस्थाओं में क्रमशः वातज, पित्तज व कफज रोग होने की संभावना रहती है[1]।

(vi) विधि सम्प्राप्ति—विधि सम्प्राप्ति का सर्वप्रथम आचार्य चरक ने किया है। विधि का अर्थ 'प्रकार' होता है। विधि सम्प्राप्ति समजातीय पदार्थों में आंतरिक भेद प्रकट करने के लिये प्रयुक्त होती है। यथा-रक्त पित्त के दो भेद-

(1) ऊर्ध्वग (2) अधोग

संख्या एवं विधि सम्प्राप्ति में मुख्य अन्तर यह है कि संख्या सम्प्राप्ति से विजातीय पदार्थों में सिर्फ भेद प्रकट होता है यथा-ज्वर के 8 प्रकार, गुल्म के 5 प्रकार आदि। परन्तु विधि सम्प्राप्ति द्वारा ज्वर के विभिन्न 8 प्रकारों (यथा वातज, पित्तज, कफज, दोष द्वंदज, सन्निपातिक व आगन्तुज) का ज्ञान होता है।

इस प्रकार विधि सम्प्राप्ति द्वारा व्याधि के प्रकार का सम्यक् ज्ञान हो जाने पर ही तदनुसार चिकित्सा की जाती है। जैसे-रक्तपित्त के ऊर्ध्वग व अधोग भेद का ज्ञान विधि सम्प्राप्ति द्वारा हो जाने पर ऊर्ध्वग रक्तपित्त में विरेचन व अधोग रक्तपित्त में वमन चिकित्सा की जाती है।

अतः जहां पर सिर्फ भेद का ज्ञान करना है वहां संख्या सम्प्राप्ति तथा जहां उन विशिष्ट भेदों के ज्ञान से चिकित्सा निर्धारित करना हो वहां विधि सम्प्राप्ति का प्रयोग होता है[2]।

आधुनिक चिकित्सा शास्त्र से सम्प्राप्ति का निम्न प्रकार सामंजस्य बिठाया जा सकता है—

1.	संख्या सम्प्राप्ति	Types of diseases
2.	प्राधान्य सम्प्राप्ति	Main or Secondary Changes
3.	बल सम्प्राप्ति	Mode of onset of the disease
4.	विकल्प सम्प्राप्ति	Intensity of disease or pathogenesis
5.	विधि सम्प्राप्ति	Subclassification of disease

1. "वातो विकर्षी श्लेष्मा मध्ये पित्तमेव तु।
भूयिष्ठं कफो वायुर्वृद्धे स्वाद्यं योजयेत्॥ (सु.सू. 35/31)
2. अत्र विधिस्तु प्रकारः, संख्या तु भेदकथनम्, सजातीयपदार्थेषु पुनः आन्तरभेदः। प्रकाशस्तु सजातीयेषु विजातीयेषु पर्यायलोपन उपपत्तिः। (च.वि. 1/11(4) पर चं. गंगाधर कविराज)

Scanned with CamScanner

नवम् अध्याय

क्रियाकाल विवेचन

व्याधुत्पत्ति क्रम एवं क्रियाकाल

व्याधि कोई स्थिर स्थिति नहीं है बल्कि विकारगत विविध परिवर्तनों की एक शृंखला है जो कि कई अवस्थाओं (Steps & Stages) से आगत एक परिणाम (Result) है। रोग में उसके विकास की विभिन्न अवस्थायें पाई जाती हैं। रोग की चिकित्सा में चिकित्सक का यह कर्त्तव्य होता है कि उसके उत्पत्तिक्रम या विकास की विभिन्न अवस्थाओं का ज्ञान करके उसके रोकथाम (Prevention) या प्रतिकार (Cure) का प्रबन्ध करे।

आचार्य सुश्रुत ने बड़े ही विस्तार से व्याधि की उत्पत्तिक्रम तथा अवस्थाओं में किये जाने वाले प्रतिकर्मों का विवेचन किया है एवं इन अवस्थाओं को 'क्रियाकाल' नाम दिया है।

आयुर्वेदीय सिद्धान्तों से मिलता जुलता वर्णन आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में मिलता है। "Boyd's" के अनुसार "Disease is not a state, it is rather a process of ever changing manifestations, a process which may end in recovery or in death, which may be acute or fulminating in its manifestations or which may appear as a slow ageing of the tissues, brought about by sharp tooth of time."

आचार्य सुश्रुत ने छः क्रियाकालों में रोगों की उत्पत्ति का वर्णन किया है[1]—

(1) संचय	(2) प्रकोप	(3) प्रसर
(4) स्थानसंश्रय	(5) व्यक्तावस्था	(6) भेदावस्था

दोषों की उपर्युक्त छः अवस्थाओं का ज्ञान रखने वाला ही 'चिकित्सक' या 'भिषक्' कहलाता है। इन अवस्थाओं का ज्ञान चिकित्सक को उन-उन अवस्थाओं में प्रतिकार्य सतर्क करता है। इसी कारण इसे 'क्रिया काल' कहते हैं[2]।

आचार्य चरक एवं वाग्भट्ट ने व्याधि की उत्पत्ति में तीन क्रमिक अवस्थाओं का वर्णन किया है-

1. संचयं च प्रकोपं च प्रसरं स्थानसंश्रयम्। व्यक्तिं भेदं च यो वेत्ति दोषाणां स भवेद् भिषक्॥ (सु सू. 21/36)
2. प्रकीर्त्यन्तेऽत्र दोषाणां प्रसरादि क्रियाकालाः षडादयः। (सु सू. 21/

1. चय 2. प्रकोप 3. प्रसरण

दोषों की वृद्धि की भी दो अवस्थायें होती हैं—

(1) चय (2) प्रकोप

इन्हीं अवस्थाओं के विस्तार से छह भेद किये गये हैं जो 'क्रियाकाल' कहलाते हैं। षड्क्रियाकाल के ज्ञान से चिकित्सक को निम्न लाभ होते हैं—

(i) किसी भी रोग का शीघ्र निदान (Diagnosis) करने में।

(ii) किसी भी रोग के परिणाम (Prognosis) जानने की दृष्टि से।

(iii) रोग प्रक्रिया को पुनः स्वास्थ्य की ओर मोड़ने में (To reverse the disease process towards normalcy)

(iv) प्रतिषेधात्मक (Preventive) अथवा चिकित्सात्मक (Curative) उपायों (Measures) का यथोचित प्रयोग करने की दृष्टि से।

षड्क्रियाकाल (Six Stages of Evolution of a Disease)

(1) संचयावस्था'

संहति रूप वृद्धि को 'चय' या 'संचय' कहते हैं। संचय का अर्थ है 'एकत्रित होना'। दोषों का अपने स्थान पर बढ़ना 'संचय' कहलाता है। विरुद्ध हेतु का निदान सेवन से दोष अपने स्थानों में संचित होने लगते हैं। दोषों को अपने समान गुण कर्म वाले आहार-विहार के सेवन से अपने-अपने स्थानों में जो वृद्धि होती है तथा शरीर में बाहर से प्रविष्ट विष/जीवाणु का शरीर में अनुकूल परिस्थिति पाकर जो वृद्धि होती है उसे 'संचय' या 'चय' कहते हैं। जिन कारणों से दोषों का संचय हुआ है उन कारणों (आहार-विहार) से विपरीत गुण वाले आहार-विहार के सेवन की इच्छा होना यह सामान्य लक्षण सभी दोषों के संचय होने पर होता है। संचयित दोषों के लक्षण निम्न प्रकार होते हैं[2]-

(i) **वात संचय**—शरीर में वात का संचय होने पर उदर में स्तब्धता, वायु से भरा प्रतीत होना आदि लक्षण होते हैं।

(ii) **पित्त संचय**—शरीर में पित्त का संचय होने पर शरीर में पीतापन एवं उष्णता प्रतीत होना आदि लक्षण प्रकट होते हैं।

(iii) **कफ संचय**—शरीर में कफ का संचय होने पर शरीर में भारीपन एवं आलस्य का अनुभव होता है।

1. वृद्धिर्हि द्विविधा-चय लक्षणा, प्रकोप लक्षणा।
तत्र संहति रूपा वृद्धिः, विसर्पण रूपा वृद्धिः प्रकोपः। (सु.वि. 3/3 पर डल्हण)
2. तत्र संचितानां खलु दोषाणां लाघवपूर्वकोष्ठस्य, गौरवाधिक्यस्य, मलोत्पत्तेश्चाङ्गानां गौरवस्यालस्यं, बहुकाल विदग्धेभ्यो विड्वातादीनां भवनं। तत्र प्रथम क्रियाकालः। (सु.सू. 21/17)

Scanned with CamScanner

संचय प्रकार

शरीर में दोषों का संचय निम्न दो प्रकार से होता है-

(1) स्वाभाविक
  (i) आवस्थिकी (ii) नैमित्तिकी

(2) अस्वाभाविक

(1) स्वाभाविक संचय—बिना किसी मिथ्या आहार-विहार के स्वाभाविक रूप से शरीर में जो दोषों का संचय होता है वह 'स्वाभाविक संचय' है। यह दो प्रकार का है—

(i) आवस्थिकी—शरीर की विभिन्न अवस्थाओं यथा (1) बाल्यावस्था में कफ का (2) युवावस्था में पित्त का तथा (3) वृद्धावस्था में वात का स्वभावतः ही संचय होता है।

(ii) नैमित्तिकी—सृष्टि में नियमपूर्वक ही स्वभाव से विभिन्न ऋतुओं में भिन्न-भिन्न दोषों का संचय होता है। यथा-ग्रीष्म ऋतु में वात का संचय, वर्षा में पित्त का संचय एवं हेमन्त ऋतु में कफ का संचय होता ही है। परन्तु काल के स्वभाव से दोष प्रकुपित नहीं होते[1]।

(2) अस्वाभाविक संचय—अस्वाभाविक दोषों का संचय प्रज्ञापराध, मिथ्या आहार-विहार के कारण होता है। यह काल की अपेक्षा नहीं करता।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की भाषा में इसे Stage of Accumulation of Doshas or Incubation period कह सकते हैं।

यह चिकित्सा का प्रथम क्रिया काल है। यदि संभव हो तो चिकित्सक को रोग का ज्ञान हो जाने पर उसका प्रतीकार कर देना चाहिये फलस्वरूप रोग आगे नहीं बढ़ पाता।

(II) प्रकोपावस्था

दोषों की 'विलयन रूप वृद्धि' प्रकोप है। यदि दोषों का निर्हरण संचयावस्था में नहीं किया जाता है तब दोष प्रकुपित होकर उन्मार्गगामी हो जाते हैं[2] एवं अन्य स्थान पर जाकर लक्षणों की उत्पत्ति करते हैं। फलतः शरीर अस्वस्थ हो जाता है एवं रोगोत्पत्ति की संभावना बढ़ जाती है। प्रकुपित दोषों के लक्षण निम्न प्रकार होते हैं[3]-

(i) वात प्रकोप—शरीर में वात प्रकोप होने पर कोष्ठ में सुई चुभने जैसी पीड़ा एवं वायु का कोष्ठ में संचरण होता है।

1. प्रकुप्यन्ति वर्षासु वायुः, शरत्सु पित्तम्, हेमन्ते श्लेष्मा। (अ.हृ.सू. 12)
2. संचयः प्रकृतस्थो दोषो मार्गान्तरे नयनप्रवणः।
   ते सूदयन्ति पश्चात् भवनि ह्यतस्तदा रुजः॥ (सु.सू.अ. 21/27)
3. कोष्ठान्तर्मार्गगमनं विण्मूत्रवातानां स्वलक्षणविपर्ययं उपशमश्च॥ (अ.हृ.सू. 12/21)
4. तेषां प्रकोपः कोष्ठे वातस्य सञ्चरणं पित्तस्य विदाहोष्मविष्यम्लोद्गमः श्लेष्मणः प्रसेकोऽङ्गसादश्च लक्षणानि भवन्ति। (सु.सू. 21/27)

(ii) पित्त प्रकोप—शरीर में पित्त प्रकोप होने पर अम्लोद्गार, पिपासा व दाह होती है।

(iii) कफ प्रकोप—शरीर में कफ प्रकोप होने पर अरुचि, छर्दन, जी मिचलाना आदि लक्षण प्रकट होते हैं।

प्रकोप भेद—दोषों का प्रकोप केवल संचय से ही नहीं होता अपितु स्वयमेवानुकूल परिस्थिति पाकर भी ये प्रकुपित हो जाते हैं। अतः प्रकोप भी निम्न दो प्रकार का होता है-

(1) चय पूर्वक प्रकोप—इसके निम्न दो भेद हैं—
  (i) स्वाभाविक (ii) अस्वाभाविक (अत्यय)

(2) अचय पूर्वक प्रकोप

(1) चयपूर्वक प्रकोप

(i) स्वाभाविक चय प्रकोप—वर्षा ऋतु में ऋतु स्वभाव से ही वात का प्रकोप, शरद ऋतु में पित्त का प्रकोप व वसन्त ऋतु में कफ का प्रकोप होता है। रूक्षादि गुण वर्षा ऋतु में जब शीत से संयुक्त होते हैं तब वात का प्रकोप होता है। तीक्ष्णादि गुण जब शरद ऋतु में उष्ण गुण से संयुक्त होते हैं तब पित्त का तथा स्निग्ध, शीतादि कफ वर्धक गुण जब वसन्त ऋतु में सूर्य की गर्मी से पिघलता है तो प्रकुपित होकर रोगोत्पत्ति करता है[1]।

(ii) अस्वाभाविक प्रकोप—जब कोई व्यक्ति मिथ्या आहार-विहार का सेवन करता है तथा ऋतुचर्या के नियमों का पालन नहीं करता है तब उसके दोष अस्वाभाविक रूप से प्रकुपित हो जाते है, इसे 'अत्यय' या 'कालव्यय' प्रकोप भी कहते हैं।

(2) अचयपूर्वक प्रकोप

दोषों का संचय न होने पर भी उनका प्रकोप होता है। यथा-शरीर से अधिक काम करने से वायु का, क्रोध से पित्त का तथा दिवाशयन से कफ का प्रकोप होता है। इसे 'पक्व विलयन' प्रकोप भी कहते हैं[2] क्योंकि यह ऋतु चर्या में वर्णित पथ्याहार सेवन करने के पश्चात् भी होता है।

1. वायु प्रावृट काले, वर्षा काले या कुप्यन्ति, पित्ते शरत्काले-प्रकुप्यति, श्लेष्मे वसन्ते च प्रकुप्यति। (अ.हृ.सू. 12)
2. उत्क्लेश युक्ता रुक्षाद्या वायोः कुर्वन्ति सञ्चयम्॥
   शोकेन कोपमुष्णेन शमं स्निग्धादयो गुणाः।
   शोकेन..... शमम्॥ (अ.हृ.सू. 12/19-21)
3. दोष प्रकोपो द्विविधः पथ्यानां च निषेवतः।
   उक्तस्य विधिनो यः स संशोधनमर्हति॥
   पथ्योऽपि शमयेद्यो यः आगन्तुजश्च यः॥ (अ.हृ.सू. 3/18 पर हेमाद्रि)

Scanned with CamScanner

यह चिकित्सा का दूसरा अवसर होता है। इसमें चिकित्सा कर देनी [illegible] नहीं होता। चय पूर्वक प्रकोप में संशोधन चिकित्सा द्वारा दोषों का निर्हरण [illegible] द्वारा कर देना चाहिये तथा अचय प्रकोप में संशमन चिकित्सा द्वारा प्रकुपित दोष [illegible] करना चाहिये।

दोषों का स्वाभाविक प्रकोप जो विभिन्न ऋतुओं में होता है वह रोगोत्पत्ति नहीं [illegible] परन्तु जब आहार-विहार एवं देश-विशेष के प्रभाव से अल्पल्प काल में दोष के [illegible] परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है तब रोगोत्पत्ति होती है। इसलिये आचार्यों ने [illegible] नियम बतलाये हैं ताकि रोगोत्पत्ति न हो।

यदि प्रकोपावस्था में चिकित्सा न की जाये तो दोष प्रसरावस्था को प्राप्त हो जाते हैं।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की भाषा में इस अवस्था को Provocative State of Diseases or Stage of Vitiation of Doshas कह सकते हैं।

(iii)प्रसरावस्था[1]

प्रकोपावस्था में यदि दोषों का प्रतिकार न किया जाये तो दोष प्रसरावस्था में [illegible] प्रकार पहुँच जाते हैं जैसे पात्र में संशोधनार्थ रखा यीस्ट (सुरा बीज), पिष्ट एवं जल [illegible] कुछ समय बाद Fermentation (किण्वन) होता है एवं वह अपने आकार में बढ़ [illegible] अपने पात्र से बाहर फैलने लगता है। वैसे ही प्रकुपित दोष अपने स्थान में कुछ काल [illegible] रहने के पश्चात् अपने स्थान से बाहर निकलकर फैलने लगते हैं। अचेतन होने पर भी [illegible] गतिवान होने से वायु ही दोषों के प्रसरण का कारण होता है[2]।

जिस प्रकार तालाब में जल वृद्धि होने पर बांध को तोड़कर दूसरे जल के साथ [illegible] मिलकर जल भूमि पर फैलता है उसी प्रकार अत्यन्त कुपित दोष भी एक, दो या तीनों [illegible] मिलकर सम्पूर्ण शरीर में, आधे शरीर में या एक अवयव में फैलते हैं तब वह विकार [illegible] (लक्षणों) को उत्पत्ति करता है[3]।

जो दोष अधिक प्रकुपित न हुआ हो तो वह दोष शरीर के स्रोतों में दबा पड़ा रहता [illegible] है एवं कालान्तर में प्रकोपक कारणों को पाकर पुनः प्रकुपित होकर रोग उत्पन्न करता है। इस प्रकार प्रकुपित होकर फैलते हुये दोष विमार्गगमन करते हुये संचरण करते हैं तब विभिन्न लक्षण उत्पन्न होते हैं-(i) वात प्रसर से पेट में गुड़गुड़ाहट होती है (ii) पित्त प्रसर से [illegible] उष्णता, चूसे जाने जैसी पीड़ा, जलन तथा धुआं उठने लगता है (iii) कफ का प्रसर होने [illegible] पर अरुचि, अपचन तथा अंगों में थकावट (अङ्गसाद) एवं छर्दि उत्पन्न होती है[4]।

1. अत ऊर्ध्वं प्रसरं वक्ष्याम-तेषामेभिर्गतहेतुविशेषैः प्रकुपितानां किण्वोदकपिष्टसन्निघाव इवेतरेतरानुप्रवेशात् प्रसरो भवति, तेषां [illegible] तैर्वायुरतिसन्धानात् प्रसरणे हेतुः। (सु.नि. 21/31)
2. — मरुद्रजोभूयिष्ठः रजसा प्रवर्तकः सर्वभावानाम्। (सु.सू. 21/3)
3. यथाम्भसामुदकभाजनभेदः सिन्धुसमुद्रकूपतडागोदकेन व्यामिश्रः सर्वतः प्रधावति, एवं दोषः कदाचित्कोपात् [illegible] द्वित्रिः समस्तः संसिलाभिहतो वा सर्वैकदा प्रसर्पति। (सु.सू. 21/31)
4. एवं प्रकुपितैर्दोषैः प्रसृतैः कर्णाक्षिनासावदनादीनां, ओष्ठचौष्ठपर्यन्तयोर्धूपायनमिव चित्तस्य, अरोचकः [illegible] सादश्चार्दिश्च भवति स्रोतोभ्यो लिङ्गनाशे भवति, तत्र तृतीयः क्रिया कालः। (सु.सू. 21/31)

प्रसर भेद—दोषों का प्रसर पन्द्रह प्रकार से हो सकता है—

(1) वात	(2) पित्त
(3) कफ	(4) रक्त
(5) वात-पित्त	(6) वात-कफ
(7) पित्त-कफ	(8) वात-शोणित
(9) पित्त-शोणित	(10) कफ-शोणित
(11) वात-पित्त-शोणित	(12) वात-कफ-शोणित
(13) पित्त-कफ-शोणित	(14) वात-पित्त-कफ
(15) वात-पित्त-कफ-शोणित	

यह चिकित्सा का तीसरा अवसर है। इसमें चिकित्सा नहीं करने पर दोष स्थान-संश्रयावस्था को प्राप्त होते हैं। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में इस अवस्था को Stage of Extension of Disease कह सकते हैं।

प्रकोप एवं प्रसर में भेद

आचार्य डल्हण ने प्रकोप व प्रसर में भेद बतलाते हुये एक उदाहरण के माध्यम से इसे स्पष्ट किया है। यथा जमे हुये घृत को अग्नि पर चढ़ाने पर उसके पिघलने की अवस्था प्रकोप की अवस्था होगी तथा अधिक आंच लगने पर जब घी खौलने लगेगा एवं खौलकर बर्तन से बाहर निकलने लगेगा तब वह अवस्था प्रसर की कहलायेगी।

(iv)स्थान संश्रयावस्था[1]

प्रसरावस्था को प्राप्त हुये दोषों की चिकित्सा न करने पर प्रसृत हुये दोष फैलते हुये स्रोतों में विगुणता पैदा करके शरीर के किसी स्थान या अवयव विशेष में रुकते हैं वहां एक या एक से अधिक धातुओं एवं मलों को दूषित कर एवं उनके साथ मिलकर स्थानानुरूप रोग को उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार के दोष-दूष्य के संमेलन को ही दोष-दूष्य सम्मूर्च्छना कहते हैं। इस अवस्था में भविष्य में होने वाली व्याधि के लक्षण उत्पन्न होते हैं। दोषों का स्थान संश्रय जिस किसी स्थान विशेष पर होता है उस स्थान के अनुसार ही लक्षण उत्पन्न होते हैं यथा—

(i) वस्ति में स्थान संश्रय करने पर अश्मरी, मूत्राघात प्रमेह आदि रोग।
(ii) उदर में स्थानसंश्रय होने पर गुल्म, जलोदर, अग्निसाद, विसूचिका, अतिसार आदि रोग उत्पन्न होते हैं।

कुपित हुये दोष समस्त शरीर में फैलते हैं एवं स्रोतस् के जिस किसी स्थान पर अवरोध या 'खवैगुण्य' होता है उसी स्थान पर स्थानसंश्रय कर रोगोत्पत्ति करते हैं[2]।

1. अत ऊर्ध्वं स्थानसंश्रयं वक्ष्यामः। एवं प्रकुपितास्तत्तत्र शरीरप्रदेशमासाद्यातिष्ठन् व्याधीन् जनयन्ति। तेषामेवं व्याधीनामिहानागतानां पूर्वरूपाण्युद्भवन्ति। (सु.सू. 21/33)
2. i) प्रकुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम्।
यत्र सङ्गः खवैगुण्यात्तद्व्याधिस्तत्समुद्भवः॥ (सु.सू. 24/10)
ii) क्षिप्यमाणः खवैगुण्याद् रसः सज्जति यत्र सः।
करोति विकृतिं तत्र सो व्याधिरिति लोपदः॥
दोषाणामपि चैवं स्यादेकदेशप्रकोपजम्। (च.चि. 15/38)

Scanned with CamScanner

आचार्य चक्रपाणि ने स्पष्ट किया है- 'पूर्वरूपमेव स्थान संश्रयात्' [illegible] को अवस्था ही पूर्वरूप है। पूर्वरूप की व्याख्या करते हुये आचार्य ने [illegible] कुपित अर्थात् प्रकुपित हुये दोष जब स्थानसंश्रयी हो जाते हैं तब व्याधि [illegible] प्रकट करते हैं। इन्हें ही पूर्वरूप कहा जाता है[1]।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में इस अवस्था को Prodromal Phase [illegible] or Stage of localisation of Disease कह सकते हैं।

(v) व्यक्तावस्था

व्याधि का स्पष्ट रूप से व्यक्त हो जाना ही अभिव्यक्ति है। यह व्याधि [illegible] है। पूर्वरूपावस्था में भी यदि चिकित्सा न की जाये तो रोग के समस्त लक्षण पूर्णरूप [illegible] हो जाते हैं। इसे 'रूपावस्था' भी कहते हैं। लक्षणों के प्रकट हो जाने से रोग किसे [illegible] नाम से सम्बोधित किया जाता है यथा-

(i) संताप होने पर ज्वर।

(ii) गुदमार्ग से अतिद्रव सरण होने पर अतिसार।

(iii) नेत्र एवं त्वचा में पीलापन होने पर कामला आदि।

इस अवस्था को 'व्याधि दर्शनावस्था' भी कहते हैं यह चिकित्सा का [illegible] अवसर है।

एक ही दोष कुपित होकर भिन्न-भिन्न कारणों से अलग-अलग स्थानों में [illegible] अनेक प्रकार के रोगों को उत्पन्न करते हैं, इसलिये प्रकृति स्थान-भेद एवं कारण विशेष [illegible] जानकर चिकित्सा की व्यवस्था करनी चाहिये[2]।

'व्यक्तावस्था' में रोग से सम्बद्ध समस्त लक्षण प्रकट हो जाते हैं जिसके आधार [illegible] व्याधि को विशेष रूप से जाना जाता है। यह व्याधि के निर्णय में सहायक होती [illegible] आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में इस अवस्था को Stage of Disease Manifestation कहते हैं।

(vi) भेदावस्था

ये व्यक्त व्याधियां प्रतिकार के अभाव में (व्रणशोथ, विद्रधि आदि) विदोष होकर [illegible] व्रणपक्व को प्राप्त हो जाती हैं तो उसे 'भेदावस्था' कहते हैं। इसी प्रकार ज्वर आदि [illegible]

1. स्थानसंश्रयः कुपिता: व्याधिव्यक्तिप्रबंधकम्।
दोषा: कुर्वन्ति यत्पूर्वं पूर्वरूपं तदुच्यते॥ (च.नि. 1/8 पर चक्रपाणि)
2. अत ऊर्ध्वं व्याधेर्दोषाणां वशात्-शोषमूर्छाऽग्निविप्लवादिविशेषप्रभूतीनां प्रव्यक्तलक्षणता व्यक्तावस्थता ज्ञातव्या। तत्र संघः क्रियाकालः। (सु.सू. 21/34)
3. [illegible] प्रकृतिदोषलक्षणानि च।
समुत्थानविशेषांश्च बुद्ध्वा कर्म समाचरेत्। (च.सू. 19/4)

दीर्घकाल तक चिकित्सा न करने पर जीर्ण होकर भेदावस्था में आ जाते हैं। यह चिकित्सा का अंतिम आगार है यदि इस अवस्था में भी चिकित्सा न की जाये तो रोग असाध्य हो जाते हैं।

इस अवस्था में सम्प्राप्ति के घटकों के अनुसार रोग की प्रकृति का स्पष्ट भेद किया जा सकता है। जैसा उक्त रोग में किस दोष की प्रधानता है इस आधार पर वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक आदि भेद प्रकट हो जाते हैं। इसके अलावा इस अवस्था में रोग की असाध्यता, याप्यता (Prognosis) का ज्ञान भी संभव रहता है।

दोषों के संचय, प्रकोप, प्रसरादि इन षट्क्रियाकालों को जो जानता है वही सफल में सफल चिकित्सक हो सकता है। संचय अवस्था में ही दोषों को रोक देने से उत्तरोत्तर अवस्थाओं को प्राप्त नहीं हो सकते हैं। अतः उनसे अगली अवस्था में जाने से पहले ही उनकी चिकित्सा करनी चाहिये क्योंकि उत्तरोत्तर अवस्था में पहुंचने पर रोग अधिक बलवान हो जाते हैं।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में इसे Chronicity and Complications कह सकते हैं।

दोषों की वैषम्यावस्था (संचय-प्रकोप-प्रसरादि) में जो लक्षण होते हैं वे दोषसंज्ञित होते हैं उन्हें विकार कहते हैं। जब यही दोष सम्पूर्ण शरीर या आधे शरीर या किसी एक अंग या स्थान में आश्रय बना लेते हैं तब उस विकार को 'रोग' कहते हैं।

षट्क्रिया काल की प्रथम तीन अवस्थाओं में उत्पन्न लक्षण 'विकार' हैं तथा बाद की तीन अवस्थाओं में उत्पन्न लक्षण समूह (Symptom Complex) 'रोग' है। सुविधा की दृष्टि से षट्क्रियाकाल को दो भागों में बांट सकते हैं-

(i) संचय, प्रकोप व प्रसर	Reversible, Physiological stages, No lesions are Produced.
(ii) स्थानसंश्रय, व्यक्तावस्था व भेदावस्था	Irreversible, Pathological Stages Lesions are Produced

दोष वैषम्य विकासावस्था सारणी

अवस्था	लक्षण
(i) संचयावस्था (Stage of Cumilation)	i) वृद्धि हेतु से द्वेष ii) विपरीत पदार्थ सेवन की इच्छा

1. अत ऊर्ध्वमेषामेकदोषाणां प्रकोपावस्थानां षट्: क्रियाकाल:,
प्रसरादिसंज्ञाभृतीनां च दीर्घकालानुबन्ध:। तत्रातिक्रियमाणेऽग्रावस्थाप्रपूरणानि। (सु.सू. 21/35)
2. संचये: लक्षणा दोषा: सामान्ये चोदितागमै:।
ते वृद्धाशु गतिषु भवन्ति बलवत्तरा॥ (सु.सू. 21/37)

Scanned with CamScanner

(ii) प्रकोपावस्था (Provocative Stage of disease)	i) कोष्ठभेद (Loose motion) ii) अम्लोद्गार (Acid eructation) iii) पिपासा (Excessive thirst) iv) अन्नद्वेष (Anorexia) v) वमन (Vomiting)
(iii) प्रसरावस्था (Stage of Extension)	i) विमार्गगमन ii) ओष (Burning sensation in whole body) iii) ओष (Burning Sensation) iv) परिदाह (Burning Sensation) v) अरोचक (Anorexia) vi) अविपाक (Indigestion)
(iv) स्थानसंश्रयावस्था (Stage of localisation of disease)	i) स्थानानुरूप रोग का पूर्व रूप होना यथा-ज्वर के पूर्वरूप श्रम (Tiredness), संताप (↑Temperature)
(v) व्यक्तावस्था (Stage of manifestation)	i) स्थानानुरूप रोग के लक्षण प्रकट होना यथा कामला रोग में त्वचा व नेत्र में पीत वर्ण होना (Yellowish discolouration of eyes & skin in Kamala Roga)
(vi) भेदावस्था (Stage of complications)	i) दोषानुसार लक्षणोत्पत्ति एवं दोषक्षय तक रोग का बना रहना।

क्रियाकाल का महत्त्व एवं चिकित्सा में उपादेयता

'क्रियाकाल' का शाब्दिक अर्थ है क्रिया अर्थात् चिकित्सा का काल या अवस्था। आचार्य सुश्रुत ने "षट्क्रियाकाल" के माध्यम से चिकित्सा के अवसरों का वर्णन किया है। इन अवसरों में जहां तक संभव हो सके चिकित्सा प्रारंभ कर देनी चाहिये, क्योंकि जितनी जल्दी चिकित्सा प्रारम्भ की जायेगी, रोग को समूल नष्ट करने में उतनी ही अधिक सुविधा होती है।

जिस प्रकार तरुण वृक्ष को अल्पश्रम से ही समूल नष्ट किया जा सकता है, उसी प्रकार प्रथम क्रियाकाल (संचयावस्था) में चिकित्सा करने से दोष वैषम्य नष्ट हो जाने से रोग नहीं होने पाता और यदि रोग उत्पन्न भी हो जाये तो वह हीनबल होने से सुख साध्य होता है[1]।

1. यथा द्रुमस्तरुणः सुखमेव शक्यः
स एवातिप्रवृद्धस्तु दुःखेनापि प्रधृष्यते।
तथैव विकारोऽपि प्रथमः सुखसाध्यो भवति।
द्विरूढः सम्भवे तु व्याधावाशी भवति विकारो। (सु.सू. 21/37)

आचार्य चरक ने आतुरावस्था का विचार करते हुये स्पष्ट किया है कि आतुर की विविध अवस्थाओं में चिकित्सक का क्या कार्य है अथवा क्या अकार्य (अनुचित) है इसकी भी 'काल' एवं 'अकाल' संज्ञा दी गई है।

क्रियाकाल शब्द का प्रयोग ही चिकित्सा के सन्दर्भ में हुआ है। क्रिया का अर्थ है 'प्रतिकार'। अतः क्रियाकाल का समूह में अर्थ होगा 'समयानुकूल चिकित्सा' (Timely action)। क्रिया से औषध, अन्न एवं विहार तीनों का ग्रहण करना चाहिये।

क्रियाकाल ज्ञान का महत्त्व

(1) दोष वैषम्य जन्य क्रियाकाल को सूक्ष्म बुद्धि से जान लेने पर "दोष की संचयावस्था" में ही प्रतिकार का उपाय कर देने से विकार रोग ही नहीं होते एवं रोग के उत्पन्न होने की संभावना समाप्त हो जाती है। अतः रोगोत्पत्ति तथा रोग के उन्मूलन के लिये छह क्रिया कालों का ज्ञान आवश्यक है।

(2) रोगी की अन्तरात्मा में प्रवेश कर तथा सूक्ष्म बुद्धि से अवलोकन कर इन छह क्रियाकालों को जाना जाता है। इनमें प्रथम तीन अवस्थायें सूक्ष्म बुद्धि द्वारा ही ग्राह्य हैं[1]।

(3) क्रियाकालों का सम्यक् ज्ञान रोग के आरम्भ में ही चिकित्सार्थ (Early diagnosis), साध्यासाध्य विवेचन (Prognosis), अनागताबाध प्रतिषेध (Prophylactic treatment) तथा आगताबाध प्रतिषेध (Curative treatment) के लिये महत्त्वपूर्ण है।

(4) क्रियाकाल ज्ञान की महत्ता बताते हुये आचार्यों ने लिखा है कि यदि रोग की प्रारंभिक अवस्था में ही रोग का बोध हो जाये तो दोषों का निर्हरण हो जाने से रोग का विकास/प्रसार नहीं होता एवं यदि चिकित्सा में विलम्ब हो जाये तो दोष क्रमशः आगे की गतियों को प्राप्त करके रोग को अधिक बलवान बना देते हैं।

(5) क्रियाकाल का सम्यक् ज्ञान होने पर ही रोग को सम्प्राप्ति काल में ही उत्पन्न होने से रोका जा सकता है।

(6) क्रियाकाल के व्यतीत हो जाने पर तथा क्रियाकाल के पूर्व ही औषध प्रयोग लाभप्रद नहीं होता, क्योंकि काल ही औषध प्रयोग को सिद्धि प्रदान करता है[2]।

(7) व्याधियों की विभिन्न अवस्थाओं का ज्ञान प्राप्त कर तत्काल क्रिया की व्यवस्था श्रेयस्कर है। यथा-ज्वर की आमावस्था में संशमनादि द्वारा पाचन

1. अनुमिमीते यो भावैर्भावान् तत्त्वविद्।
आतुरात्मानमासाद्य न स रोगैरिवञ्चितः। (च.वि. 4/12)
2. न ह्यक्रियाविशेषेण व्याधयः कालमात्रया यान्ति विनाशं ऋते हि कालात् प्रयोगस्य कालः सिद्धिप्रदो मतः। (च.वि. 8/138)

Scanned with CamScanner

व्यवस्था करना श्रेष्ठ है। इस समय शोधन करने का उल्लेखन [illegible] है। चिकित्सा काल के उपस्थित नहीं होने पर चिकित्सा [illegible] चिकित्सा काल उपस्थित होने पर चिकित्सा नहीं करने से [illegible] अच्छे नहीं होते हैं[1]।

(8) शीत में शीत का प्रतिकार तथा उष्ण में उष्णता का प्रतिकार [illegible] चिकित्सा काल में चिकित्सा व्यवस्था अवश्य करनी चाहिये। [illegible] उपस्थित अवसर की उपेक्षा कदापि नहीं करनी चाहिये[2]।

क्रियाकाल व चिकित्सा

चिकित्सा का मुख्य उद्देश्य सम्प्राप्ति का विघटन करना है। रोगोत्पत्ति की [illegible] को खत्म करने के लिये ही चिकित्सा की जाती है। अतः चिकित्सा तीन प्रकार से [illegible] जाती है—

1. दोष प्रत्यनीक
2. व्याधि प्रत्यनीक
3. दोष-व्याधि (उभय) प्रत्यनीक

जब दोष-दूष्य सम्मूर्च्छना के अनुसार ही लक्षणोत्पत्ति हो अर्थात् प्रकृति समसमवेत सम्मूर्च्छना हो तो 'दोष प्रत्यनीक' चिकित्सा करनी चाहिये। जब दोष-दूष्य सम्मूर्च्छना के अनुसार लक्षणोत्पत्ति न होकर कुछ और लक्षण उत्पन्न हों (विकृति सम समवेत सम्मूर्च्छना) तब उस व्याधि के अनुसार 'व्याधि प्रत्यनीक' चिकित्सा करनी चाहिये। निदान-परिवर्जन या दोषों का शोधन या शमन करना 'दोष प्रत्यनीक' चिकित्सा है तथा किसी व्याधि के शमन के लिये विशिष्ट औषध या चिकित्सा का प्रयोग 'व्याधि प्रत्यनीक' चिकित्सा है। अर्थात् दूष्यों को ठीक करना। 'दोष प्रत्यनीक' चिकित्सा तथा दोष-दूष्य सम्मूर्च्छना को भंग करना 'व्याधि प्रत्यनीक' चिकित्सा है।

दोष प्रत्यनीक चिकित्सा

किसी रोग के सम्प्राप्ति काल की अवस्थाओं में दोष प्रत्यनीक चिकित्सा करने से सम्प्राप्ति विघटन हो जाता है। यथा—

(i) कफ का वमन से, पित्त का विरेचन से तथा वात का वस्ति से शोधन करना चाहिये[3]।

1. [illegible] चिकित्साकाले प्राप्ते वा न कृता क्रिया।
   क्रिया हीनोऽतिरिक्तो वा सम्पत्तौव्याधि न सिध्यति॥ (सु सू 35/21)
2. [illegible]
   कृच्छ्रं कृच्छ्रीकरणं प्राप्ते क्रियाकाले न कारयेत्॥
3. [illegible]
   [illegible] (सु सू 35/21)
   [illegible] (अ.हृ.सू 1/23-24)

(ii) आगन्तुज विकारों (80 वात विकार, 40 पित्त विकार तथा 40 कफज विकारों) में दोष प्रत्यनीक चिकित्सा करनी चाहिये।

(iii) प्रकृति समसमवेत सम्मूर्च्छना में दोषानुसार औषधों के रस-गुण-वीर्य-विपाक का ध्यान कर उनका प्रयोग करना चाहिये।

(iv) दोषानुसार उनके शमन के लिये औषध प्रयोग करना दोष प्रत्यनीक चिकित्सा है।

(v) दोषों को ही सभी रोगों का प्रारंभिक कारण मानकर दोष प्रत्यनीक चिकित्सा करनी चाहिये। "दोषा एव हि सर्वेषां रोगाणामादिकारणम्"।

(vi) "रोगाः सर्वेऽपि मन्देऽग्नौ" के अनुसार प्रत्येक रोग में दोषज-पाचन चिकित्सा करना दोष प्रत्यनीक चिकित्सा है।

व्याधि प्रत्यनीक चिकित्सा

किसी व्याधि की विशिष्ट चिकित्सा "व्याधि प्रत्यनीक" चिकित्सा है यथा—

(i) दैवव्यापाश्रय चिकित्सा व्याधि प्रत्यनीक चिकित्सा है।

(ii) प्राणवह स्रोतस पर कनकासव, कास में वासावलेह, हृदरोग में अर्जुनारिष्ट, मूत्रकृच्छ्र में गोक्षुर, कृमि रोग में विडंग, कुष्ठ में खदिर आदि का प्रयोग व्याधि प्रत्यनीक चिकित्सा है।

(iii) चरक संहिता में वर्णित ज्वरघ्न, रक्तघ्न, तृष्णानिग्रहण, तैक्षण्य कार्यकरण, शुक्रशोधन, कासहर, वर्ण्य, बृंहण आदि महाकषायों का उल्लेख व्याधि प्रत्यनीक चिकित्सा ही है।

(iv) शल्य चिकित्सा भी व्याधि प्रत्यनीक चिकित्सा है। यद्यपि शस्त्रकर्म के पूर्व एवं पश्चात् दोष प्रत्यनीक चिकित्सा की जाती है।

षड्क्रिया काल में चिकित्सा विधान

क्र.स.	क्रियाकाल	चिकित्सा	
1.	संचय	हेतु विपरीत चिकित्सा	दोषप्रत्यनीक चिकित्सा
2.	प्रकोप	हेतु विपरीत चिकित्सा	
3.	प्रसर	हेतु विपरीत चिकित्सा	
4.	संस्थानसंश्रय	दोष एवं दूष्य चिकित्सा	उभय प्रत्यनीक चिकित्सा
5.	व्यक्तावस्था	व्याधि की विशिष्ट चिकित्सा	व्याधि प्रत्यनीक चिकित्सा
6.	भेदावस्था	जीर्ण व्याधि की विशिष्ट चिकित्सा	

Scanned with CamScanner

स्रोतोदुष्टि एवं खवैगुण्य में अन्तर

स्रोतोदुष्टि	खवैगुण्य
1. दोष-दूष्य सम्मूर्च्छना के बाद की स्थिति है।	1. दोष-दूष्य सम्मूर्च्छना के पूर्व की स्थिति है।
2. यह लक्षणों की अभिव्यक्ति कराने के लिये आवश्यक है।	2. दोषों के स्थानसंश्रय के लिए आवश्यक है।
3. स्रोतोदुष्टि दोष-दूष्य सम्मूर्च्छना से उत्पन्न होती है।	3. खवैगुण्य निदान के विशेष रूप से उत्पन्न होता है या स्वतन्त्र भी हो सकता है।
4. स्रोतोदुष्टि के चार प्रकार (लक्षण) कहे गये हैं[1]। (i) अतिप्रवृत्ति (Hyper activity) (ii) संग (Obstruction) (iii) विमार्ग गमन (Abnormal activity/Movement) (iv) सिरासंधि (Obstructive Swelling)	4. खवैगुण्य को जानने के लिए शास्त्र में कोई लक्षण वर्णित नहीं हैं।
5. स्रोतोदुष्टि के लक्षणों से इसका ज्ञान होता है।	5. खवैगुण्य का अनुमान स्रोतोदुष्टि के लक्षणों से पूर्वरूप का कर सकते है।

1. अतिप्रवृत्तिः सङ्गो वा विमार्गगमनं तथैव वा। विमार्गगमनं चापि संज्ञितं दुष्टिलक्षणम्॥ (च.वि. 5/24)

दशम अध्याय

रोग-रोगी परीक्षा

आचार्य चरक ने निर्दिष्ट किया है कि रोगी व रोग परीक्षा करना ही चिकित्सक का प्रथम कर्तव्य है। इसके पश्चात् ही चिकित्सक को चिकित्सा कार्य में प्रवृत्त होना चाहिये[1]। रोग परीक्षा करने के लिये पञ्चनिदान (यथा निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय, सम्प्राप्ति) का उपयोग किया जाता है। रोग का निश्चय करने के लिये रोगी परीक्षा की आवश्यकता होती है। यह परीक्षा दर्शन-स्पर्शन-प्रश्न, पञ्च ज्ञानेन्द्रियों व उपकरणिक परीक्षाओं (विधियों) द्वारा की जाती है[2]।

रोग-रोगी परीक्षा का प्रमुख उद्देश्य रोग का विनिश्चय (Diagnosis), रोग का सम्पूर्ण ज्ञान एवं रोग-रोगी के बलाबल का ज्ञान करना है जिससे सम्बन्धित रोगी के लिए विशिष्ट चिकित्सा सूत्र निर्धारित किया जा सके और चिकित्सा में सफलता प्राप्त हो सके।

रोग परीक्षा—आयुर्वेद में रोग निदान के लिये रोग व रोगी परीक्षा करने का विधान है। निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय, सम्प्राप्ति-इन पञ्चनिदानों के माध्यम से रोग परीक्षा की जाती है[3]। इन पञ्च उपायों द्वारा रोग विनिश्चय कर उसके भेद, बल, साध्यासाध्यता का विचार कर चिकित्सिक को चिकित्सा में प्रवृत्त होना चाहिये। पञ्च निदान निम्न हैं—

(i) निदान (हेतु) (Etiological Factors)

रोग के मूल कारण या हेतु को 'निदान' कहा जाता है[4]। यहां निदान शब्द से निमित्त कारण लिया जाता है। इस निदान के कई भेद-प्रभेद होते हैं जिनका वर्णन विस्तार से पूर्व में सप्तम् अध्याय में किया गया है।

(ii) पूर्वरूप (Prodromal Symptoms)

व्याधि की उत्पत्ति के पूर्व जो लक्षण (Pre-clinical Symptoms) उत्पन्न होते हैं उन्हें 'पूर्वरूप' कहा जाता है[5]। पूर्वरूप रोगावस्था में पूर्ण रूप से व्यक्त नहीं होते हैं, कुछ स्पष्ट होते है एवं कुछ पूर्वरूप स्पष्ट नहीं होते हैं। जब समस्त पूर्वरूप रोगावस्था में व्यक्त

1. रोगमादौ परीक्षेत ततोऽनन्तरमौषधम्। ततः कर्मभिषक् पश्चाज्ज्ञानपूर्वं समाचरेत्॥ (च.सू. 20/20)
2. दर्शनस्पर्शनप्रश्नैः परीक्षेच्च रोगिणम्। रोगी निदानमुपशयं सम्प्राप्तिं चोपलभ्यते॥ (अ.हृ.सू. 1/22)
3. तत्रेष्टानिष्टसिद्धिपूर्वकत्वात्तद्विज्ञानस्य। (च.वि. 1/6)
4. तत्र निदानं कारणमित्युच्यते॥ (च.वि. 1/7)
5. पूर्वरूपं प्रागुत्पत्तिलक्षणं व्याधेः॥ (च.वि. 1/8)

Scanned with CamScanner

हो जाते हैं तो रोग असाध्य हो जाता है। यह पूर्वरूप सामान्य व विशिष्ट भेद से दो प्रकार के होते हैं। इसका वर्णन भी सप्तम अध्याय में विस्तार से किया गया है।

(iii) रूप (Symptoms & Signs)

उत्पन्न हुये रोग के लक्षणों को 'रूप' या 'लिङ्ग' (Symptoms & Signs) कहा जाता है। लिङ्ग, लक्षण, चिह्न, आकृति, संस्थान, व्यंजन, रूप ये सभी शब्द इस अर्थ के पर्यायवाची शब्द हैं[1]।

इस प्रकार रोग की व्यक्तावस्था को ही लक्षण या रूप कहा जाता है एवं ये लक्षण निश्चित रूप से व्याधि का ज्ञान कराते हैं। रूप या लक्षणों को सामान्य विशिष्ट व उपद्रव भेदों में बांटा गया है जिनका विस्तार पूर्वक वर्णन सप्तम अध्याय में किया गया है।

(iv) उपशय (Therapeutic Test)

यदि लिङ्ग अर्थात् जिस व्याधि का विनिश्चय सामान्य रूप से सम्भव न हो, उस रोग की परीक्षा उपशय-अनुपशय द्वारा की जाती है[2]। औषध, अन्न एवं विहार के द्वारा रोगों का सुखकर या दुःखकर परिणाम देखकर व्याधि विनिश्चय करना ही 'उपशय' कहलाता है[3]। इसके अठारह भेद होते हैं। उपशय का प्रयोग चिकित्सा व पथ्यापथ्य निर्धारण में सहायक होता है। चिकित्सा के भेदों के अन्तर्गत पंचम अध्याय में उपशय का विस्तार से वर्णन किया गया है।

(v) सम्प्राप्ति (Pathogenesis)

व्याधि को उत्पन्न करने वाले दोषों के व्यापार के साथ जो रोगोत्पत्ति होती है उसे 'सम्प्राप्ति' कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि विभिन्न निदानों के सेवन से दूषित दोष प्रकुपितहोकर जो-जो प्रक्रिया कर रोग उत्पन्न करते हैं उसे सम्प्राप्ति कहा जाता है[4]। इस सम्प्राप्ति को 'जाति' व 'आगति' भी कहा जाता है। इस सम्प्राप्ति के निम्न छह भेद होते हैं[5]—

i	संख्या सम्प्राप्ति	ii	विकल्प सम्प्राप्ति
iii	प्राधान्य सम्प्राप्ति	iv	बल सम्प्राप्ति
v	काल सम्प्राप्ति	vi	विधि सम्प्राप्ति

इसी प्रक्रिया को तोड़ना अर्थात् 'सम्प्राप्ति विघटन' करना ही 'चिकित्सा' कहलाती है। सम्प्राप्ति का विस्तार पूर्वक वर्णन अध्याय आठ में किया गया है।

1. अनुपूर्वोत्पत्तिं पूर्वरूपम्।
तत्र लिङ्गमुपशयान्तं चिह्नं संस्थानं व्यञ्जनं रूपमित्यर्थान्तरम्॥ (च.वि. 1/9)
2. पूर्वलिङ्गे व्याधिमनुपशयानुपशयाभ्यां परीक्षेत॥ (च.वि. 4/6)
3. उपशयः पुनर्हेत्वौषधविहारविपरीतार्थकारिणां पौनरुक्त्यविधानमनुबोधः सुखानुबन्धः॥ (च.वि. 1/102)
4. यथा दुष्टेन दोषेण यथा चानुविसर्पता।
निर्वृत्तिरामयस्यासौ सम्प्राप्तिर्जातिरागतिः॥ (अ.हृ.नि. 1/5)
5. सा संख्या प्राधान्य विकल्पबलकालविधिभेदैर्षड्विधा। (च.वि. 1/11)

ये पञ्चनिदान पृथक्-पृथक् या समस्त मिलकर रोग का ज्ञान कराने में सहयोगी होते हैं। सम्प्राप्ति का निर्माण हो जाने पर रोगोत्पत्ति होती है जिसे चिकित्सा सूत्र के प्रयोग द्वारा विघटित करना ही चिकित्सा है।

रोगी परीक्षा

सर्वप्रथम रोगी परीक्षा कर तत्पश्चात् पूर्ण व्याधि रोग परीक्षा करनी चाहिये। रोगी परीक्षा अनेक प्रकार से की जा सकती है जिनमें से रोगी परीक्षा के मुख्य भेद निम्न प्रकार हैं—

(अ) प्रमाण परीक्षा—इसके निम्न भेद हैं—

द्विविध परीक्षा—	(i) प्रत्यक्ष	(ii) अनुमान		
त्रिविध परीक्षा—	(i) प्रत्यक्ष	(ii) अनुमान	(iii) आप्तोपदेश	
चतुर्विध परीक्षा—	(i) प्रत्यक्ष	(ii) अनुमान	(iii) आप्तोपदेश	(iv) युक्ति

(ब) वास्तविक रोगी परीक्षा—इसके निम्न भेद हैं—

त्रिविध परीक्षा—	(i) दर्शन	(ii) स्पर्शन	(iii) प्रश्न
पञ्चविध परीक्षा—	(i) श्रोत्रेन्द्रिय परीक्षा	(ii) त्वगिन्द्रिय परीक्षा	(iii) चक्षुरिन्द्रिय परीक्षा
	(iv) रसनेन्द्रिय परीक्षा	(v) घ्राणेन्द्रिय परीक्षा	
षड्विध परीक्षा—	(i) पञ्चज्ञानेन्द्रिय परीक्षा	(ii) प्रश्न परीक्षा	
अष्टविध परीक्षा—	(i) नाड़ी परीक्षा	(ii) मूत्र परीक्षा	(iii) मल परीक्षा
	(iv) जिह्वा परीक्षा	(v) शब्द परीक्षा	(vi) स्पर्श परीक्षा
	(vii) दृग् परीक्षा (नेत्र परीक्षण)	(viii) आकृति परीक्षा	
दशविध परीक्षा—	(i) प्रकृति परीक्षा	(ii) विकृति परीक्षा	(iii) सार परीक्षा
	(iv) संहनन परीक्षा	(v) प्रमाण परीक्षा	(vi) सात्म्य परीक्षा
	(vii) सत्व परीक्षा	(viii) आहार शक्ति परीक्षा	(ix) व्यायाम शक्ति परीक्षा
	(x) वय परीक्षा		

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान अनुसार रोगी परीक्षा—

(i) प्रश्न परीक्षा (Interrogation)
(ii) दर्शन परीक्षा (Inspection)
(iii) स्पर्शन परीक्षा (Palpation)
(iv) अङ्गुलिताड़न (ठेपण) परीक्षा (Percussion)
(v) श्रवण परीक्षा (Auscultation)

Scanned with CamScanner

प्रमाण परीक्षा

रोग निदान के लिये रोगी परीक्षा एवं रोग परीक्षा के द्वारा ही व्याधि विनिश्चय (Diagnosis) किया जाता है। इन दोनों परीक्षाओं का आधार 'प्रमाण' है। प्रमाण के आधार पर परीक्षा की जाती है। इन प्रमाण परीक्षाओं में निम्न चार 'प्रमाण' मुख्य हैं—

(I) आप्तोपदेश (Authoritative testimony)
(ii) प्रत्यक्ष (Direct observation)
(iii) अनुमान (Inference)
(iv) युक्ति (Plan or experiment)

रोग-रोगी परीक्षा के सन्दर्भ में कुछ परीक्षायें प्रत्यक्ष प्रमाण पर, कुछ अनुमान प्रमाण पर कुछ आप्तोपदेश प्रमाण पर एवं कुछ युक्ति प्रमाण पर आधारित हैं। किसी-किसी परीक्षा में एकाधिक प्रमाण भी अपनी भूमिका निभाता है। यथा—

रोगी परीक्षा हेतु

(i) आप्तोपदेश-प्रश्न परीक्षा
(ii) प्रत्यक्ष-दर्शन परीक्षा
(iii) अनुमान-स्पर्शन परीक्षा

रोग परीक्षा हेतु

(i) प्रत्यक्ष, अनुमान, आप्तोपदेश→निदान
(ii) प्रत्यक्ष, अनुमान→पूर्वरूप
(iii) प्रत्यक्ष→रूप
(iv) युक्ति→उपशय-अनुपशय
(v) अनुमान, आप्तोपदेश→सम्प्राप्ति

(i) प्रत्यक्ष प्रमाण परीक्षा

प्रत्यक्ष वह है, जिसे स्वयं हम अपनी इन्द्रियों अथवा मन द्वारा ज्ञात करते हैं। इन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान संशय रहित होता है। रोगी परीक्षा में पञ्च ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा की जाने वाली परीक्षा प्रत्यक्ष प्रमाण पर आधारित होती है। आचार्यों ने रसनेन्द्रिय के साक्षात् प्रयोग द्वारा परीक्षा को निषिद्ध बताया है। आधुनिक युग में की जाने वाली क्ष किरण परीक्षण (X-Ray), सूक्ष्मदर्शी परीक्षा (Microscopic tests), एन्डोस्कोपी परीक्षण, उरःफलक परीक्षण (Stethoscopic examination) आदि प्रत्यक्ष प्रमाण पर आधारित हैं। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में प्रत्यक्ष प्रमाण को सर्वाधिक महत्व दिया गया है।

1. प्रत्यक्षं तु खलु परं तन्त्रसिद्धेः, अतस्तत्र चोदयाम्यहम्॥ (च.वि. 4/3)

(ii) अनुमान प्रमाण परीक्षा

जिसके द्वारा तथ्य या सत्य का अनुमान लगाया जाता है उसे अनुमान कहते हैं। यह तर्क (Logic) एवं युक्ति (Plan) की अपेक्षा रखने वाला प्रमाण है। स्पर्शन (Palpation), अंगुलिताड़न (Percussion), श्रवण (Auscultation) आदि परीक्षायें अनुमान प्रमाण पर आधारित होती हैं। पाश्चात्य का अनुमान वस्तुनिष्ठ से एवं मन का अनुमान व्यायामशक्ति से किया जाता है[1]। उपरान्त अनुमान परीक्षा में अनुमानसिद्ध निदान की पुष्टि साध्य या असाध्य औषध, अन्न एवं विहार के प्रयोग से की जाती है।

(iii) आप्तोपदेश प्रमाण परीक्षा

आप्त पुरुषों (त्रिकालदर्शी, सत्यगुण प्रधान व्यक्ति) के वचन को आप्तोपदेश कहा जाता है। आप्तपुरुष तर्क रहित अर्थात् निश्चित ज्ञान वाले स्वयम् शक्ति सम्पन्न तथा कार्य अकार्य के भेद को जानने वाले होते हैं। ये पुरुष किसी भी प्राणि के प्रति राग-द्वेष से रहित होते हैं[2]। प्रश्न परीक्षा को आप्तोपदेश प्रमाण परीक्षा कहा जाता है।

(iv) युक्ति परीक्षा

रोगी, रोग परीक्षा कर विभिन्न रोगियों की आयु, प्रकृति, बल, देश, साम्य, आहार शक्ति, व्यायाम शक्ति एवं अग्नि इत्यादि भावों का विचार कर युक्ति पूर्वक चिकित्सा सूत्र निर्धारण करने को ही युक्ति परीक्षण कहा जाता है।

(अ) वास्तविक रोगी परीक्षा

I) **त्रिविध परीक्षा**— इसके अन्तर्गत निम्न तीन परीक्षायें सम्मिलित होती हैं[3]—

(I) दर्शन परीक्षा (Inspection)
(II) स्पर्शन परीक्षा (Palpation & Percussion)
(III) प्रश्न परीक्षा (History & Interrogation)

(I) दर्शन परीक्षा—इस परीक्षा के द्वारा शरीर की स्थूलता, कृशता, आयु, रोग लक्षण, रोगी बल, प्रकृति, छाया, वर्ण, प्रमाण आदि का ज्ञान किया जाता है। इस परीक्षा में चक्षुरिन्द्रिय का साक्षात प्रयोग होता है[4]। आधुनिक युग में प्रयुक्त सूक्ष्मदर्शीयन्त्र (Microscope), क्षकिरण (X-Ray) एवं आभ्यान्तरदर्शी (Endoscopy) इत्यादि यन्त्रों द्वारा की जाने वाली परीक्षा 'दर्शन परीक्षा' के अन्तर्गत ही समाहित होती है।

1. अनुमानं खलु तर्के युक्तपेक्षः॥ (च.वि. 4/4)
2. तद्यथा-अग्निं जरणशक्त्या परीक्षेत, बलं व्यायामशक्त्या परीक्षेत्॥ (च.वि. 4/8)
3. रजसोपेक्ष्यं निर्मुक्तात्तपोज्ञान बलेन च।
येषां त्रिकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा॥
आप्ताः शिष्टाः विबुद्धास्तेषां वाक्यमसंशयम्।
सत्यं वक्ष्यन्ति ते कस्मादसत्यं नीरजस्कताः॥ (च.सू. 11/18,19)
4. दर्शनस्पर्शनप्रश्नैः परीक्षेत च रोगिणम्॥ (अ.हृ.सू. 1/22)
5. चक्षुर्विज्ञानप्रमाणप्रधानाः, इतरे प्रकृतिविकारादौ, चक्षुर्विषिकारोपलब्धौ चाप्तोपदेशं तत्रि चक्षुषा परीक्षेत॥ (च.वि. 4/7)

Scanned with CamScanner

(ii) स्पर्शन परीक्षा—चिकित्सक को स्वहस्त के स्पर्श द्वारा प्रकृति [illegible] का ज्ञान करना पड़ता है[1]। स्पर्श परीक्षा द्वारा मृदु-कठिन, शीत-उष्ण, स्वेदयुक्त-शुष्क भावों का ज्ञान होता है। इसके अंतिरिक्त स्पर्शासहत्व (Hyperaesthesia), [illegible] सहत्व (Tenderness), अंगवृद्धि, शोफ, शोथ (Oedema), ग्रन्थि, अर्बुद (Tumour) आदि का ज्ञान भी इसके द्वारा ही होता है। इसके अन्तर्गत आधुनिक चिकित्सा [illegible] वर्णित स्पर्शन (Palpation) एवं अंगुलिताड़न (Percussion) परीक्षायें समाहित [illegible] हैं।

(iii) प्रश्न परीक्षा—इस परीक्षा के अन्तर्गत सम्पूर्ण आतुर इतिवृत्त (Patient's Case History) विधियों को समाहित किया जाता है। प्रश्न परीक्षा से अनुक्त [illegible] वेदनायें (Chief Complaints with duration), पारिवारिक इतिवृत्त (Family History), वात-मूत्र-पुरीष प्रकृति-अप्रवृत्ति, व्याधि उत्पत्ति क्रम (History of present illness), अग्निबल, कोष्ठ प्रकार, निद्रा प्रकार, सात्म्यता-असात्म्यता एवं कुलज व्याधि इत्यादि का ज्ञान किया जाता है[2]। आतुर इतिवृत्त नोट करना एक कला है जिसके विधिपूर्वक नोट करने से लगभग अस्सी प्रतिशत व्याधियों का रोग-विनिश्चय किया जा सकता है।

ii) पञ्चविध एवं षड्विध परीक्षा

पञ्चज्ञानेन्द्रियों द्वारा की जाने वाली रोगी परीक्षा को ही पञ्चविध परीक्षा कहा जाता है। आचार्य सुश्रुत ने इसी पञ्चविध परीक्षा के साथ प्रश्न परीक्षा को जोड़कर षड्विध परीक्षा का वर्णन किया है[3]। त्रिविध दर्शन (चक्षुरिन्द्रिय), स्पर्शन (त्वगिन्द्रिय) एवं व्रण परीक्षा का समावेश भी इसी षड्विध परीक्षा में किया जाता है। दर्शन, स्पर्शन एवं व्रण परीक्षा का वर्णन पहले किया जा चुका है।

श्रोत्रेन्द्रिय परीक्षा—काय में जठराग्नि के माध्यम से निरन्तर गति एवं ध्वनि उत्पन्न होती रहती है। हृदय, फुफ्फुस, आन्त्र, सन्धि आदि अवयवों में प्राकृत रूप से गति एवं ध्वनि उत्पन्न होती है। वैकृत अवस्था में सन्धि स्फुटन, आन्त्रकूजन, दूषितवत शब्द, घर्घर वत स्वर आदि ध्वनियां उत्पन्न होती हैं[4]।

रसनेन्द्रिय परीक्षा—रसनेन्द्रिय द्वारा की जाने वाली परीक्षा अप्रत्यक्षतः अनुक्त प्रमाण से पिपीलिका, मक्षिका, कौआ के माध्यम से की जाती है। यह परीक्षा मधुमेह, रक्तपित्त आदि रोगों में की जाती है[5]। आतुर के मुख के स्वाद का ज्ञान प्रश्न परीक्षा के माध्यम से करना चाहिये।

1. स्पर्शे च पर्वणां प्रकृतिविकृतिकुशलः। (च.वि. 4/7)
2. प्रकृतिं च विकारसमुदयं सात्म्यं जातिं सत्त्वसात्म्यहेतुव्याधिरोगबलं वेदना समुदयं व्याधिप्रमाणविशेषं व्याधिक्षमत्वं व्याधिविपरीतार्थकारिणं व्याधिपुरुषविशेषं विशेषतः। (सु.सू. 10/5)
3. षड्विधो हि रोगपरीक्षाविकल्पः। तद्यथा पञ्चधा: श्रोत्रादिभिः प्रश्नेन चेति॥ (सु.सू. 10/4)
4. अन्नकूजनं गर्जनमुदरस्य कुक्षिगतयोर्वा न स्वाभाविकयोर्वा ये चान्येऽपि केचिच्छरीरोपगताः शब्दाः स्नायवस्तान् परीक्षेत्। (च.वि. 4/7)
5. [illegible] ..... तद्रसज्ञः (च.वि. 4/7)

घ्राणेन्द्रिय परीक्षा—घ्राणेन्द्रिय परीक्षा में चिकित्सक द्वारा सतत अभ्यास से शरीर की प्राकृत-वैकृत गन्धों का ज्ञान किया जाता है। आचार्यों ने विभिन्न रोगों में मधुगन्धी, मधुरगन्धी, कुणप गन्धी, विस्र गन्धि, मूत्र गन्धि, लौहगन्धि आदि विभिन्न वैकृत गन्धों का वर्णन किया है[1]।

iii) अष्टविध परीक्षा

योगरत्नाकर में सर्वप्रथम अष्टविध परीक्षा का उल्लेख मिलता है। इस परीक्षा में शरीर के आठ अंगों में व्याधि के परिणाम स्वरूप उत्पन्न विशिष्ट भावों को देखा जाता है। इसी के आधार पर व्याधि विनिश्चय किया जाता है। ये आठ अंग निम्न हैं—

1) नाड़ी परीक्षा 2) मूत्र परीक्षा 3) मल परीक्षा
4) जिह्वा परीक्षा 5) शब्द परीक्षा 6) स्पर्श परीक्षा
7) दृग (नेत्र) परीक्षा 8) आकृति परीक्षा

रोगी के सामान्य स्वास्थ्य परीक्षण (Examination) एवं अरिष्ट ज्ञान के लिये यह परीक्षा बहुत उपयोगी है।

1) नाड़ी परीक्षा

नाड़ी परीक्षा का ज्ञान अनुभव, सतत अभ्यास, तपस्या एवं अनुमान पर आधारित है। इस में हस्तांगुल मूल स्थित जीवनक्षिणी रक्तवह धमनी[1] (Radial Artery) को चेष्टा या गति से स्वास्थ्य, अस्वास्थ्य, दोष स्थिति, अरिष्ट का ज्ञान करना चाहिये। नाड़ी परीक्षा प्रातःकाल विश्राम की अवस्था में स्नान, भोजन, अभ्यंग से पूर्व करनी चाहिये। नाड़ी परीक्षा अन्तर्गत गति (Rate), ताल (Rhythm), पति (Volume), तनाव (Tension) एवं वेग (Force) इन भावों को देखा जाता है। पुरुष के दक्षिण एवं स्त्री के वाम हस्त की नाड़ी देखने का निर्देश मिलता है। वायु के प्रकुपित होने पर जलौका (Leech) तथा सर्प (Snake) की गति के समान, पित्त के प्रकुपित होने पर कुलिङ्ग, काक तथा मण्डूक (Frog) की गति के समान तथा कफ प्रकुपित होने पर हंस या पारावत की गति के समान नाड़ी देखने को मिलती है[2]।

1. तत्रापि खलु सर्वावस्थागतस्य प्रकृतिवैकारिकम् ज्ञानेन परीक्षेत। (च.वि. 4/7)
2. वेगाक्रान्तस्यैव स्वास्थ्यवृद्धौ निरीक्षयेद्।
नाड़ीं मूत्रं मलं जिह्वां शब्दं स्पर्शं दृगाकृतीं॥ (यो.र. नाड़ी परीक्षा/1)
3. करस्याङ्गुष्ठमूले या धमनी जीवसाक्षिणी।
तयेष्टया सुखं दुःखं ज्ञेयं कायस्य पण्डितैः॥ (यो.र.सं.ग्र. 3/1)
4. नाड़ी धत्ते सदाकाले जलौकासर्पयोर्गतिम्।
कुलिङ्ग काकमण्डूकगतिं पित्तस्य कोपतः।
हंसपारावतगतिं धत्ते श्लेष्मप्रकोपतः॥ (यो.र.पूर्व. 3/2,3,4)

Scanned with CamScanner

2) मूत्र परीक्षा

आतुर के प्रातःकालीन मूत्र का विशेष परीक्षण करना चाहिये। मूत्र परीक्षा के निम्न प्रमुख बिन्दु हैं—

1) प्रवृत्ति या बारम्बारता	2) धार	3) संहनन
4) मात्रा	5) रस	6) गन्ध
7) वर्ण	8) सरक	9) सपूय
10) सशर्करा	11) सशुक्र	12) तैलबिन्दु परीक्षा

तैलबिन्दु परीक्षा[1]—आयुर्वेदीय विकृति विज्ञान परीक्षण में तैल बिन्दु परीक्षा का महत्वपूर्ण स्थान है। इसमें रात्रि के अन्तिम प्रहर के मूत्र की मध्य धार को काँच के पात्र में एकत्रित किया जाता है। प्रातः सूर्योदय होने पर यह परीक्षा की जाती है। इसमें पात्र में मूत्र (Specimen) में तृण की सहायता से तिल तैल के बिन्दु को गिराया जाता है। यदि तैल बिन्दु मूत्र में शीघ्र फैल जाय तो रोगी साध्य, यदि नहीं फैले तो रोगी कष्टसाध्य, यदि तैल बिन्दु मूत्र तल में बैठ जाय तो रोगी को असाध्य समझना चाहिये। तैल बिन्दु यदि पश्चिम व उत्तर दिशा की ओर जाने पर रोगी शीघ्र आरोग्य प्राप्त करता है। तैल बिन्दु पूर्व दिशा की ओर जाने पर ज्वर रोग समझना चाहिये। ईशान कोण (दिशा) में तैलबिन्दु की गति पर एक मास के अन्दर रोगी की मृत्यु हो सकती है। अग्नि कोण, वायव्य व नैऋत्य कोण में तैलबिन्दु जाने पर रोगी की मृत्यु निश्चित है।

ये परीक्षण प्रमेह, अश्मरी, मूत्रकृच्छ्र, ज्वर, पाण्डु, आमवात, कामला, अर्श, अतिसार, जलोदर आदि अवस्थाओं में किये जाते हैं।

3) मल परीक्षा

उपर्युक्त मूत्र परीक्षा के समान ही मल परीक्षा में समस्त विधियों का प्रयोग करना चाहिये। यथा- मात्रा, प्रवृत्ति, संहनन, वर्ण, गन्ध, सरकता, सपूयता, सकृमि, सफेनता, स्निग्धता, सकठिनता आदि का परीक्षण किया जाता है। यह परीक्षण कामला, अतिसार, ग्रहणी व्याधि, अर्श, जलोदर, राजयक्ष्मा, विबन्ध, विसूचिका, रक्तपित्त आदि रोगों में किया जाता है।

4) जिह्वा परीक्षा

आ शहसंतम् की विकृति में जिह्वा की परीक्षा मुख्य रूप से करने का निर्देश है। जिह्वा का रंग, आकृति, अंकुर, स्पर्श, गति आदि में परिवर्तन देखा जाता है। अग्निमान्द्य की स्थिति में आम निर्माण से जिह्वा मलावृत (Coated) होती है। जीर्ण विबन्ध, आन्त्रावरोध, अर्श, ग्रहणी आदि रोगावस्था में जिह्वा मलावृत्त व सामान्य होती है।

1 अथातः सम्प्रवक्ष्यामि.....।
.....मूत्रपरीक्षां विचक्षणः॥ (भेल. संहिता, मूत्रपरीक्षा अ.)

5) शब्द परीक्षा

शब्द से आतुर के स्वर का ग्रहण करना चाहिये। वातप्रकोप में स्वर, पित्त प्रकोप में तीव्र एवं श्लेष्मा प्रकोप से गम्भीर स्वररूप का स्वर हो जाता है। यह परीक्षा कम्पवात, अर्दित, पक्षाघात, स्वरभेद, राजयक्ष्मा, अर्बुद, पाण्डु आदि रोगों में देखी जाती है।

6) स्पर्श परीक्षा

त्वचा को पञ्चेन्द्रिय का आश्रय माना जाता है। वात प्रकोप के कारण स्पर्श व त्वचा कृष्णवर्ण, पित्त प्रकोप से उष्ण व पीतवर्ण एवं श्लेष्मा प्रकोप से स्निग्ध व श्वेतवर्ण की त्वचा होती है। कामला, पाण्डु, कालाजार, मधुमेह, हाइपोथायरॉइडिज्म, ज्वर, यकृत विकार, यकृत विकार, अवसाद, फिरंग रोग, वातरक्त, कुष्ठ, रक्तविकार, कृमिरोग आदि में त्वचा में वैवर्ण्यता आ जाती है।

7) नेत्र परीक्षा

नेत्र परीक्षण में रंग, शोफ, रक्तता आदि लक्षण देखने चाहिये। ये परीक्षण पाण्डु, कामला, रक्तचाप, मधुमेह, वृक्करोग, रक्तपित, अवसाद आदि रोगों में देखे जाते हैं।

8) आकृति परीक्षा

कृश, स्थूल, सामान्य, अतिह्रस्व, अति दीर्घ, आदि बिन्दुओं के आधार पर आकृति परीक्षा की जाती है। यह परीक्षा मधुमेह, राजयक्ष्मा, श्वासकृच्छ्र, हृद्रोग, अन्तःस्रावी रोग, वृक्क रोग, यकृत रोग, अर्श, अवसाद आदि में की जाती है।

IV) दशविध परीक्षा

'व्याधि बल प्रमाण' जानने के लिये पूर्व में त्रिविध, पञ्चविध, षड्विध एवं अष्टविध परीक्षाओं का वर्णन किया जा चुका है। 'आतुर बल प्रमाण' जानने के लिये दशविध परीक्ष्य भावों की परीक्षा करनी चाहिये, जो निम्न हैं[2]—

i) प्रकृति परीक्षा	ii) विकृति परीक्षा	iii) सार परीक्षा
iv) संहनन परीक्षा	v) प्रमाण परीक्षा	vi) सात्म्य परीक्षा
vii) सत्व परीक्षा	viii) आहार शक्ति परीक्षा	
ix) व्यायाम शक्ति परीक्षा	x) वय परीक्षा	

i) प्रकृति परीक्षा—शुक्र-शोणित के संयोग एवं उसमें जीवात्मा के प्रवेश होने पर भ्रूण के शरीर में वातादि दोषों में से एक अथवा दो या अन्य किसी दोष का न्यूनाधिक्य हो जाना 'प्रकृति' है'। इसी को ही मनोदैहिक (Psychosomatic Constitution) प्रकृति कहा जाता है। ये प्रकृतियाँ निम्न होती हैं—

1. तत्रातुरं परीक्षेत प्रकृतितश्च, विकृतितश्च, सारतश्च, संहननतश्च, प्रमाणतश्च, सात्म्यतश्च, सत्वतश्च, आहारशक्तितश्च व्यायामशक्तितश्च, व्यायामशक्तिप्रमाणं विशेषेणाहारशक्तेश्च। (च.वि. ८/१५)
2. शुक्रशोणितसंयोगे यो भूयान्दोषः उत्कटः।
प्रकृतिर्जायते तेन तस्या मे लक्षणं शृणु॥ (सु.शा. ४/६८)

Scanned with CamScanner

(अ) देह प्रकृति— पातल प्रकृति — पित्तल प्रकृति
श्लेष्मल प्रकृति — वात पित्तज प्रकृति
वात श्लेष्मल प्रकृति — पित्त श्लेष्मज प्रकृति
समदोष प्रकृति

(आ) सुश्रुतोक्त देह प्रकृति—पार्थिव प्रकृति — आप्य प्रकृति
आग्नेय प्रकृति — वायव्य प्रकृति
नाभस प्रकृति

(इ) मानस प्रकृति— सात्विक प्रकृति — राजस प्रकृति
तामस प्रकृति

गुण दोष के आधार पर प्रकृतियों का विभाजन निम्न है[1]—

समदोष प्रकृति	सर्वश्रेष्ठ
श्लेष्म प्रकृति	उत्तम
पित्त प्रकृति	मध्यम
वात प्रकृति	हीन
द्विदोषज प्रकृति	निन्द्य

उपर्युक्त प्रकृतियों का निर्धारण संहिताओं में वर्णित उनके विभिन्न लक्षणों के आधार पर किया जाता है। इस प्रकार "प्रकृति निर्धारण" करना स्वस्थवृत्त, रोग निदान, रोगी परीक्षा, औषध निर्धारण, पथ्यापथ्य निर्धारण व अरिष्ट ज्ञान में उपयोगी सिद्ध होता है।

ii) विकृति परीक्षा—आचार्य चरक ने विकृति परीक्षा हेतु दोष-दूष्य-देश-काल-बल-अग्नि आदि के द्वारा परीक्षा करने का निर्देश दिया है। उपर्युक्त दोष-दूष्यादि के द्वारा रोग विनिश्चय (Diagnosis) कर उस रोग को साध्यम बनाकर की जाने वाली आतुर परीक्षा को विकृतितः परीक्षा कहा जा सकता है।

iii) सार परीक्षा - 'सार' शब्द से तात्पर्य है-रसादि धातुओं का विशुद्ध रूप। सार-परीक्षा आतुर बल प्रमाण एवं वय जानने के लिये की जाती है। आयुर्वेद में आचार्यों के भिन्न सार वर्णित हैं[2]—

- त्वक् सार (रससार)
- रक्तसार
- मांससार
- मेदसार
- अस्थिसार
- मज्जासार
- शुक्रसार
- सत्वसार

इन सारों का ज्ञान संहिताओं के लक्षणों के आधार पर किया जाता है।

देह भिन्नः प्रकृतयश्चतस्रोऽन्यतमाः पृथक्।
समस्तानु पश्यन्तानु देहान्, भिन्नान् द्विदोषजान्॥ (अ.हृ. 1/5)
सर्वा ह्यष्टौ विशुद्धाश्च धातवः स्मृताः। (च.वि. 8/102) पर चक्रपाणि
सारतश्चेति सारार्थो गुणवर्यो ह्यणवर्यानवद्यतरसंपूर्णादयश्च। (च.वि. 8/103)

iv) संहनन परीक्षा—संहनन से तात्पर्य संगठन अथवा संयोजन से है[1]। संहनन परीक्षा में आतुर शरीर संरचना एवं संगठन (Physical Construction & Correctness) का निर्धारण होता है। उत्तर संहनन वाले व्यक्ति पूर्ण आयु, व्यायाम एवं क्रियाक्षम होते हैं। हीन संहनन वाले सदैव निर्बल एवं अव्यायाम होते हैं। आचार्य सुश्रुत ने देह निम्न तीन प्रकार की वर्णित की है[2]—

i) स्थूल ii) कृश iii) मध्यम शरीर

उपर्युक्त में स्थूल एवं कृश दोनों देह निन्द्य हैं। संहनन स्थूल की अपेक्षा कृश शरीर कम निन्द्य है। मध्यम देह को श्रेष्ठ कहा है। अतः संहनन को जान कर आतुर की चिकित्सा निर्धारित की जाती है।

v) प्रमाण परीक्षा—प्रमाण परीक्षा में तात्पर्य-आतुर शरीर अवयवों का मान है[3]। वस्तुतः आयु के ज्ञान हेतु सार एवं प्रमाण परीक्षा का निर्देश किया गया है। यह प्रमाण अंगुलि मान से लेने का विधान है। समप्रमाण व्यक्ति अलोलुप, दृढ़मेधु, ओज, वैदर्य युक्त रहता है। विषम प्रमाण होने पर बल-आयु-ओज-वैदर्य में कमी का अनुमान होता है।

vi) सात्म्य परीक्षा—जो औषध-अन्न, आहार-विहार एवं देश विशेष सेवन से अनुकूल एवं सुखकर हो जाता है उसे "सात्म्य" कहते हैं[4]। सात्म्य को ही उपशय कहा जाता है तथा असात्म्य को अनुपशय कहा जाता है। "औकसात्म्य" अर्थात् ऐसे आहार-विहारादि जो प्रकृति विरुद्ध होने पर भी सतत सेवन से अभ्यासवश अनुकूल हो जाते हैं जैसे-मद्य, अफीम, चरस, गांजा आदि। वस्तुतः अरोक सात्म्य जानने से औषध व्यवस्था, पथ्यापथ्य व्यवस्था का निर्धारण करने में आसानी हो जाती है। जो व्यक्ति निरन्तर घृत, क्षीर, मांसरस, फल आदि का सेवन करता है वह बलवान, श्लेष्मवान व दीर्घायु होता है। यह सात्म्य प्रवर, मध्य व अवर भेद से तीन प्रकार का होता है।

vii) सत्व परीक्षा—सत्व का तात्पर्य-मन शक्ति से है[5]। बल भेद से सत्व तीन प्रकार का होता है यथा—

i. प्रवर सत्व ii. मध्यम सत्व iii. अवर सत्व

आतुर/व्यक्ति यदि सत्व गुण प्रधान है तो उत्तम मनोबल, यदि रजोगुण प्रधान है तो मध्यम मनोबल वाला एवं यदि तमोगुण प्रधान है तो दुर्बल मनोबल वाला होता है।

---

1. संहननतश्च (परीक्षेत्) इति।
संहननं संहतिः ('सङ्घात इति पाठान्तरम्') संयोजनविशेषो वा।
संहतिरिति निबिडसन्धनत्वेत्यर्थः॥ (च.वि. 8/116 पर चक्रपाणि)
2. देहः स्थूलः, कृशो, मध्य, इति प्राग्उपदिष्टः॥ (सु.सू. 35/53)
3. प्रमाणतश्चेति शरीर प्रमाणं पुरुषमानवैदहशुलिप्रमाणेनोक्तदेशकाले उत्तरोः विषमप्रमाणवैषम्य ज्ञानम्॥ (च.वि. 8/117)
4. सात्म्यं नाम तद् यदात्मन्युपशेते।
सात्म्यार्थो हि उपशयार्थः॥ (च.वि. 1/20)
5. सत्वमुच्यते मनः। तच्छौरस्य लक्षणम्, आत्मसंयोगात्॥ (च.वि. 8/119)

Scanned with CamScanner

viii) **आहार शक्ति परीक्षा**—आहार शक्ति से आतुर की अग्नि [illegible] है। आचार्य चरक के अनुसार आहार शक्ति की परीक्षा, भोजन करने की शक्ति (जारण शक्ति) तथा भोजन पचा जाने की क्षमता (जारण शक्ति) से की जाती है। [illegible] बल व आयु आहार पर ही निर्भर है। आतुर किस प्रमाण में आहार [illegible] इसकी परीक्षा उस रोगी के अग्निबल (Digestive Power) को प्रदर्शित [illegible] में परीक्षा कर उत्तम (प्रवर), मध्य व अवर आहार शक्ति संज्ञाये निर्धारित की जाती [illegible]

xi) **व्यायाम शक्ति परीक्षा**—आतुर के व्यायाम शक्ति को जान [illegible] चाहिये। व्यक्ति के कर्म या आयास करने की शक्ति को व्यायाम शक्ति कहते [illegible] इससे शरीर बल का अनुमान होता है[1]। प्रवर व्यायाम शक्ति में तीक्ष्णवीर्य औषध, [illegible] व्यायाम शक्ति में मध्यवीर्य औषध व अवर व्यायाम शक्ति वाले में मृदुवीर्य औषध [illegible] करना चाहिये।

x) **वय परीक्षा**—वय, अवस्था, उम्र या आयु ये सभी समान अर्थी शब्द [illegible] काल के प्रमाण की अपेक्षया शरीर की भिन्न-भिन्न अवस्थायें अथवा कालकृत [illegible] अवस्था विशेष को वय (Age) कहते हैं[2]।

वय (आयु) के मुख्यतः निम्न तीन भेद किये गये हैं[3]—

i) बाल्यावस्था-जन्म से 30 वर्ष तक
ii) मध्यमावस्था-30 से 60 वर्ष तक
iii) जीर्णावस्था (वृद्धावस्था)-61 से 100 वर्ष तक

बाल्यावस्था में श्लेष्मा, मध्यमावस्था में पित्त एवं वृद्धावस्था में वात-दोष [illegible] प्राबल्य रहता है[4]। आचार्य शार्ङ्गधर ने कहा है कि मनुष्य अपनी वय के प्रत्येक [illegible] जीवन के कुछ विशेष अंश (यथा बाल्य, वृद्धि, छवि, मेधा, त्वक्, दृष्टि, शुक्र, [illegible] बुद्धि, कर्मेन्द्रिय क्रमशः) का ह्रास करता है[5]।

अतः वय परीक्षा का मुख्य उद्देश्य रोग के कारणभूत दोष का ह्रास [illegible] वयानुसार औषध व्यवस्था, मात्रा निर्धारण एवं पथ्यापथ्य निर्धारण करना है।

1. [illegible]
2. [illegible]
3. [illegible]
4. [illegible]
5. [illegible]
6. [illegible]

एकादश अध्याय

आम दोष विवेचन

आमोत्पत्ति

आयुर्वेदीय चिकित्सा के निम्न दो प्रमुख अंग हैं[1]-

1. शोधन चिकित्सा
2. शमन चिकित्सा

कुपित दोष-धातु-मलों के शोधन के पश्चात् शमन चिकित्सा का प्रयोग सम्यक् रूप से होता है तथा रोग निर्मूल हो जाता है और उसके शीघ्र पुनः उत्पन्न होने का भय नहीं रहता[2]। दोषों का शोधन न कर केवल मात्र शमन कर देने से पथ्य सेवन अनुकूल अवसर पाकर दोष पुनः प्रकुपित होकर रोग को पुनः उत्पत्ति करने में समर्थ होते हैं। इसीलिये नवीन दोष की उत्पत्ति होने पर सर्वप्रथम दोषों का लंघन और पाचन कर तत्पश्चात् दोषों का संशोधन करवाते हैं[3]। अतः आयुर्वेदीय कायचिकित्सक को साम-निराम का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। "साम" शब्द का अर्थ है "आम सहित" और निराम शब्द का अर्थ है "आम रहित"। दोष एवं दूष्य जब आम से संबंध रखते हैं तो उन्हें "साम" कहते हैं। "साम दोष" और "साम दूष्य" रोगोत्पादक होते हैं। अतः इनसे उत्पन्न व्याधियों में इनके विशेष लक्षण उत्पन्न होते हैं। ये लक्षण ही रोग की सामावस्था के परिचायक होते हैं[4]। आयुर्वेदीय सिद्धांतों के अनुसार व्याधि के नाम रूप मात्र की चिकित्सा नहीं की जाती है, बल्कि व्याधि के घटक भावों (सम्प्राप्ति घटक) यथा-दोष, दूष्य, स्रोतस, स्रोतोदुष्टि लक्षण, आम, ओज तथा आशय को अंशांश कल्पना पूर्वक चिकित्सा करके धातु साम्य एवं प्रकृति-स्थापन का कार्य सम्पादित किया जाता है। आयुर्वेदीय संहिताओं में पाचक पित्त एवं अग्नि व्यापार का विस्तृत वर्णन उपलब्ध है। अग्नि और पित्त दोनों ही तैजस महाभूत से निर्मित होने तथा सहधर्मी होने से एकरूपता प्रदर्शित करते हैं। पाचक पित्त आमाशय तथा पक्वाशय के मध्य में अवस्थित रहकर क्लेदक कफ तथा

1. शोधनं शमनं चेति समासादौषधं द्विधा॥ (अ.हृ.सू. 1/25)
2. दोषाः कदाचित् कुप्यन्ति जिता लङ्घनपाचनैः। ये तु संशोधनैः शुद्धाः न तेषां पुनरुद्भवः॥ (च.सू. 16/20)
3. अपक्वपक्वयोर्विद्धि-लङ्घनं .....तद्वदेवावलेखनम्॥ (च.वि. 3/49-50)
4. आमेन तेन संयुक्ता (संयुक्तौ) दोषा दूष्याश्च मूर्च्छिताः। लक्षणानि प्रजायन्ते ये च तेषामनुद्भवाः॥ (अ.हृ.सू. 13/27)

Scanned with CamScanner

समान-वायु की सहायता से ग्रहण किए गए अन्नपान को पचाता है अर्थात् [illegible] कर छिन्न-भिन्न करके उसे इस योग्य बना देता है कि यह सूक्ष्म स्रोतों [illegible] सिराओं (Arteries & Veins) व रसायनियों (Lymphatics) द्वारा [illegible] प्रवाहित हो सके। तत्पश्चात् पित्त ही आहार रस को दोष-रस-रक्त-मूत्र-पुरीष [illegible] विभक्त कर देता है[1]। इस अग्नि का कार्य "जठर" क्षेत्र में होने से इसे "जठराग्नि" भी कहते हैं। इसी को "अन्तराग्नि" या "कायाग्नि" भी कहा जाता है। [illegible] पञ्चभूतात्मक है तथापि इसमें तेज महाभूत का प्राधान्य होने से जल तत्व [illegible] विशिष्ट द्रवत्व इसमें उत्पन्न नहीं करता।

आचार्य चरक के अनुसार शरीर का सम्पूर्ण अग्नि व्यापार त्रयोदश प्रकार की अग्नियों पर आधारित है, यथा- एक जठराग्नि, सप्त धात्वाग्नियाँ एवं पंचभूताग्नियाँ। इनमें से जठराग्नि सबसे महत्वपूर्ण है[2]। जठराग्नि दूसरी अग्नियों को नियामक एवं प्रेरक है। जठराग्नि की साम्यावस्था स्वास्थ्य की सूचक एवं विषमावस्था विभिन्न रोगों को उत्पन्न होती है।

आमदोष एवं अग्नि

आयुर्वेद में तेरह प्रकार की अग्नियाँ वर्णित हैं— एक जाठराग्नि (जठराग्नि व अन्तराग्नि), पाँच भूताग्नियां तथा सात धात्वग्नियाँ, जो निम्न रूप हैं—

अग्नि

1.	जाठराग्नि	–	1
2.	भूताग्नियां	–	5
3.	धात्वग्नियां	–	7

1. जठराग्नि (चतुर्विध अग्निबल)
   - (i) सम— त्रिदोष की साम्यावस्था में
   - (ii) विषम— वात दोष की प्रकोपावस्था में
   - (iii) तीक्ष्ण— पित्त दोष की प्रकोपावस्था में
   - (iv) मन्द— कफ दोष की प्रकोपावस्था में
2. भूताग्नि
   - (i) भौम— पृथ्वी तत्व की अधिकता में
   - (ii) आप्य— जल तत्व की अधिकता में
   - (iii) आग्नेय— अग्नि तत्व की अधिकता में
   - (iv) वायव्य— वायु तत्व की अधिकता में
   - (v) आकाश— आकाश तत्व की अधिकता में

1. [illegible] संज्ञा॥ (सु.सू. 21/10)
2. अग्नय एवात्र मतेनं शरीराग्नयो मताः। तेन्द्रियाणि हि तदधीन वृत्ति बलाबलाः॥ (च.चि. 15/36)

3. धात्वग्नि
   - (i) रसाग्नि— आद्य रस धातु की अग्नि
   - (ii) रक्ताग्नि— रक्त धातु की अग्नि
   - (iii) मांसाग्नि— मांस धातु की अग्नि
   - (iv) मेदोऽग्नि— मेद धातु की अग्नि
   - (v) अस्थ्यग्नि— अस्थि धातु की अग्नि
   - (vi) मज्जाग्नि— मज्जा धातु की अग्नि
   - (vii) शुक्राग्नि— शुक्र तथा आर्तव धातु की अग्नि

भूताग्नियों का प्रधान कार्यक्षेत्र यकृत है। ग्रहण किये गये अन्न को सूक्ष्म कणों में विभक्त कर उसे पाचन योग्य बनाना ही भूताग्नियों का प्रधान कर्म है। सप्त प्रकार की धात्वग्नियाँ शरीर में अवस्थित कोशाओं के स्तर पर कार्य करती हैं। इन धात्वग्नि के माध्यम से शरीर में चयापचय (Metabolism→Anabolism + Catabolism) की क्रियायें सम्पादित की जाती हैं जिससे शरीर का पोषण होकर विकास होता है। पाँच भूताग्नियाँ एवं सात धात्वाग्नियाँ जठराग्नि के नियंत्रण में रहकर अपने कार्यों को सम्पादित करती हैं।

आम-परिभाषा

उपर्युक्त तेरह प्रकार की अग्नियों के चतुर्विध बल कहे गये हैं। यथा- समाग्नि, विषमाग्नि, तीक्ष्णाग्नि, मन्दाग्नि। इसमें भी मन्दाग्नि का विशेष महत्व है, क्योंकि मंदाग्नि से ही समस्त रोगों की उत्पत्ति होती है[1]। मन्दाग्नि से रसज व अन्नज अजीर्ण उत्पन्न होते हैं जो स्थूल से सूक्ष्म सबकोशिकीय (Subcellular) स्तर तक प्रभावी होते हुए विकृति उत्पन्न करते हैं। मंदाग्नि एवं अजीर्ण के कारण शरीर में अनेक अवांछित-अपक्व पदार्थ बनकर शरीर में संचाहित होने लगते हैं जिन्हें "आम दोष" कहते हैं। जठराग्नि तथा धात्वग्नि की दुर्बलता से अन्न तथा आद्य रस धातु का परिपाक नहीं होने से जो अपक्व या आम रस (अपक्व अन्न रस एवं अपक्व रस धातु) उत्पन्न होता है उसे 'आम' संज्ञा दी जाती है।

प्रथम-प्रथम आम प्रकार जठराग्नि की दुर्बलता से अवस्थाक्रम में आमाशयगत होता है।

द्वितीय- द्वितीय आम प्रकार धात्वग्नि की दुर्बलता से रस-रक्तादि धातुओं के पाक में अपक्व रस रक्तादि धातु के रूप में रहता है। इस आम को आमविष भी कहते हैं[2]।

1. रोगाः सर्वेऽपि मन्देग्नौ सुतरामुदयन्ति हि।
   अजीर्णभक्तिनामेतन्मूलमुद्धवन्ति॥ (अ.हृ.नि. 12/1)
2. () आमेन तेन सम्पृक्ता दोषा दुष्यन्ति दूषिताः।
   सुक्ष्मा द्वारमुपादिश्यन्ते ये च रोगास्तदुद्भवाः॥ (अ.हृ.सू. 13/27)
   (ब) जठरगतं दीर्घत्वाद्विपक्वमेव रसः।
   स आमसंज्ञको देहे सर्वदोषप्रकोपणः॥ (मधुकोष)
   (स) दुष्यत्यग्निः, स दुष्टोऽन्नं न तत् पचति तत्त्वपि।
   अपक्वमन्नं शुक्लत्वं प्राप्यात् विषवत्तदत्॥ (च.चि. 15/44)

Scanned with CamScanner

तृतीय—तृतीय आम प्रकार अतिमात्रा में दूषित दोषों के एक साथ मिलने पर होता है। जैसे कोद्रव धान्य के ओदन का सेवन करने से विष जैसे लक्षण प्रकट होते हैं।

अग्नि-विभिन्न अवस्थाएँ

अग्नि की शरीर क्रियात्मक विभिन्न अवस्थायें प्रदर्शक तालिका

क्र.सं.	अग्नि की अवस्था	दोष स्थिति	परिणाम	उदाहरण
1	मंदाग्नि	कफ प्रकोप	कफज रोग	रस, मांस, मेद, मज्जा, मूत्र, पुरीषज रोग।
2	तीक्ष्णाग्नि	पित्त प्रकोप	पित्तज रोग	रक्तज रोग, स्वेदन (त्वक्गत) रोग
3	विषमाग्नि	वात प्रकोप	वातज रोग	अस्थि-सन्धि गत रोग
4	समाग्नि	दोष साम्यता	स्वास्थ्य	स्वस्थावस्था

आम अपक्व व अर्धनिर्मित पदार्थ होते हैं और इनके अणु (Molecule) सम्यक् पचापचित द्रव्यों की तुलना में बड़े होते हैं। अतः ये शरीर के सूक्ष्म स्रोतों में प्रकृतिः संकलित नहीं हो पाते और विभिन्न स्तरों पर स्रोतोरोध उत्पन्न करके रोगोत्पत्ति में सहायक होते हैं, ये स्तर निम्न चार तरह के होते हैं—

1. जठराग्नि पाक के स्तर पर आमोत्पत्ति
2. धात्वग्नि के स्तर पर आमोत्पत्ति
3. भूताग्नि के स्तर पर आमोत्पत्ति
4. पाचकांश के स्तर पर आमोत्पत्ति

ये आम अन्न, आम रस, आम धातु सभी "आम" कहलाते हैं। ये आम द्रव्य शरीर में एक प्रकार के दूषी विष (Autoantigen) के रूप में प्रभावी होकर विभिन्न स्वकृत दोष (Autoimmune disorders) एवं अनूर्जता (Allergies) उत्पन्न करते हैं। इनके प्रभाव से शरीर में अनेक प्रकार के प्रतिरोधी तत्व (Antibodies) उत्पन्न होते हैं जो आमवात जैसी जीर्ण आमज व्याधियाँ उत्पन्न करते हैं। सूत्र रूप में ऐसा समझ सकते हैं कि सभी प्रकार के आम दोष शरीर में दूषी विष (Autoantigen) की तरह कार्य कर रोगोत्पत्ति करते हैं।

अ क्रियागौरवकरणं धातुसाम्यकरणम्। दुष्टमारुतवर्गार्तं रसमार्गं प्रवर्धते॥ (अ.ह.सू. 13/28)
आ अमसंज्ञाः कायाग्नेर्मन्दतादिविकल्पिताः। आद्य आहारपक्तृत्वः स आम इति कीर्तितः॥ (च.वि. 15/41)
इ अविपाकश्लथगुदं दुर्गन्धं बहुपिच्छिलम्। मलं मर्मरुजाध्मान हृल्लासिप्रसेकिणम्॥ (अ.ह.सू. 13/29)
1. अन्ने दोषेण दुष्टेऽन्ने दुष्टोऽन्नजो रसादिषु।
क्रमेणैवं त्रिसप्तत्वं यात्यन्नमपि तद्गुणम्॥ (अ.ह.सू. 13/29)

अन्न (आम) विष

आचार्य चरक ने अपचित अन्न को आमविष कहा है[1]। यह अन्नविष जिस दोष, धातु या मल से सम्बद्ध होता है उसी के अनुसार लक्षणों को प्रकट करता है। जैसे-वायु के साथ संयुक्त होने पर यह आम रोगों को, पित्त के साथ संयुक्त होने पर दाह, तृष्णा, अम्लपित्त, मुखरोग एवं अन्य पित्तज रोगों को तथा कफ के साथ संयुक्त होने पर वमन, मोचन, प्रसेक, तमकश्वास आदि कफज रोगों को उत्पन्न करता है। जब यह अन्न विष मूत्रमार्ग में जाता है तो मूत्र रोगों को, मल के साथ मिलकर अनेक उदर रोगों को तथा रसादि धातुओं से मिलकर रसादि धातु गत रोगों को उत्पन्न करता है[2]।

आमदोष (अन्नविष) के हेतु

निम्न हेतुओं के सेवन से मन्द हुई जाठराग्नि अल्प व लघु भोजन को पचा नहीं पाती एवं वह अपचित-अपक्व अन्न विष रूप हो जाता है, ये हेतु निम्न हैं[3]—

1. आहार जन्य हेतु
   (i) अभोजन (ii) अवेलाभोजन (iii) अति भोजन
   (iv) विषमासन (v) अहितत्व व विरुद्धान्न
   (vi) गुरु-शीत-अतिरुक्ष व दूषित भोजन
2. विहार जन्य हेतु
   (i) अधारणीय वेगों (मल-मूत्र) का धारण
   (ii) दिवाशयन
   (iii) आलस्य
3. अपचार जन्य हेतु
   (i) वमन के विभ्रम से (ii) विरेचन के विभ्रम से
   (iii) स्नेह पान के विभ्रम से

---

1. अपच्यमानं शुक्तत्वं यात्यन्नं विषरूपताम्॥ (च.वि. 15/44)
2. संभूय्यमानं पित्तेन दाह तृष्णा मुखामयान्।
जनयत्यम्लपित्तं च पित्तजांश्चापरान् गदान्॥
यदम्बुसंसर्गमुपैत्यजीर्णं कफप्रसेकान् कफजान् करोति।
करोति वातानुगतं विबन्धं नानागदान् बहून्॥
मूत्रयेणांश्च मूत्रस्य पुरीषेणान् शकृद्गदान्।
रसादिभिश्च संसृष्टं कुर्यात्तत्तद्गुणान् रसादिजान्॥ (च.वि. 15/47-49)
3. अभोजनादजीर्णाशी भोजनाद्विषमासनात्।
अहितस्यातिसौहित्यसंदुष्टिभोजनात्॥
विरेकवमनस्नेहविभ्रमाद्व्यापिकर्मणः।
दैवकालगुणैश्चान्यैर्दोषाणां च विधातनात्॥ (च.वि. 15/42, 43)

Scanned with CamScanner

4. अन्य हेतु
   (i) देश-काल की विषमता
   (ii) ऋतु की विषमता (हीन, अति एवं मिथ्या योग)

आमविष से उत्पन्न लक्षण

आमविष से निम्न लक्षण उत्पन्न होते हैं[1]—

1 मलविष्टम्भ (Stasis of faecal matter)
2 अंगों में जकड़ाहट (Stiffness)
3 थकावट (Fatigue)
4 शिरःशूल (Headache)
5 मूर्छा (Fainting)
6 भ्रम (Vertigo)
7 पृष्ठ व कटि ग्रह (Backache)
8 जृम्भा (Yawning)
9 अंगमर्द (Malaise)
10 तृष्णा (Thirst)
11 ज्वर (Fever)
12 छर्दि (Nausea & Vomiting)
13 प्रवाहण (Tenesmus)
14 अरोचक (Anorexia)
15 अविपाक (Indigestion)

यह आमविष शीघ्र मारक होने से व चिकित्सा में विरुद्ध होने से प्रत्याख्येय होता है। क्योंकि आम को ध्यान कर की गयी उष्ण चिकित्सा विष विरुद्ध होती है और विष को ध्यान रखकर की गयी शीत चिकित्सा आम विरुद्ध होती है[2]।

आधुनिक मतानुसार आमदोष

आहार के मुख्य घटक द्रव्यों कार्बोहाइड्रेट (शर्करा), प्रोटीन (मांस तत्व), वसा (स्नेह) आदि का जठराग्नि, धात्वाग्नि व भूताग्नि द्वारा पाचन होकर अन्त में एक-एक उत्पाद के रूप में परिवर्तन होता है जैसे-जठराग्नि द्वारा प्रोटीन का अमीनों अम्ल के रूप में तथा धात्वाग्नि द्वारा चर्बियों के रूप में परिवर्तन होता है।

1. [illegible] (च.वि. 15/45-46)
2. [illegible] (अ.हृ.सू. 8/13, 14)

कार्बोहाइड्रेट तथा वसा का अन्त में क्रमशः कार्बनडाइऑक्साइड व जल के रूप में परिवर्तन होता है जो निम्न प्रकार है-

	जठराग्नि क्रिया	धात्वाग्नि क्रिया
1gm Carbohydrate	Glucose	CO_2+H_2O + 4 Calory
1 gm Protein	Amino Acids	Urea+4 1 Calory
1 gm Fat	Fatty Acids & Glycerol	CO_2+H_2O+9 4 Calory

मन्दाग्नि की अवस्था में अंतिम उत्पाद न बनकर मध्यवर्ती अवस्था (Intermediate Products) के रूप में क्रमशः Lactic acid, Uric acid, Ketone bodies बनते हैं। जब इन मध्यवर्ती उत्पादों का शरीर में सामान्य मात्रा से अधिक संचय हो जाता है तब उरुस्तम्भ, वातरक्त एवं मधुमेह सदृश विभिन्न रोगों की उत्पत्ति हो सकती है। यह मध्यवर्ती उत्पाद Lactic acid, Uric acid, Ketone Bodies आम दोष का ही एक स्वरूप है, इनका जब तक शरीर से निर्हरण (संशोधन) नहीं होता है तब तक उरुस्तम्भ, वातरक्त, मधुमेह इत्यादि रोगों का भी शमन नहीं होता है। आम संज्ञा विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होती है यथा-

1. जठराग्नि की दुर्बलता से आहार का अपक्व रस 'आम' है।
2. अविपाचित प्रथम धातु (रस) रूप आम।
3. अविपक्व, असंयुक्त, दुर्गन्धित, बहुपंकिल आम।
4. मल संचय रूप आम।
5. दोष दुष्टि रूप आम।
6. रस-रक्तादि धातु रूप आम।

उपर्युक्त प्रकार से आम संज्ञा विभिन्न वर्गों के लिए प्रयुक्त होती है। मनुष्य शरीर में निरंतर चलने वाले अवस्थापाक, धातुपाक, मलपाक की क्रिया में अग्निमांद्य से उत्पन्न होने वाले अपक्व अन्नरस, अन्न विष, अपक्व पुरीष, अपक्व मूत्र, अपक्व रसादि धातुएं तथा धातु जन्य मल- ये सभी आम ही हैं।

विभिन्न आमज रोग

आचार्य वाग्भट्ट के कथन "रोगाः सर्वेऽपि मन्देऽग्नौ" के अनुसार सभी रोग मन्दाग्नि से उत्पन्न होते हैं। ये रोग सभी सूक्ष्म व स्थूल स्रोतस् में उत्पन्न होते हैं। अतः आम से उत्पन्न रोगों को 'आमज रोग' कहा जाता है। कुछ प्रमुख आम दोष जनित रोग उदाहरण स्वरूप निम्न अनुसार वर्णित हैं—

1. जठराग्नि के कारण उत्पन्न आम से उत्पन्न रोग

अलसीभूत आम से — अलसक
ऊर्ध्व व अधः प्रसृत आम से — विसूचिका
द्रव बहुल आम से — अतिसार

Scanned with CamScanner

विलम्बित आम से — विलम्बिका
कफ प्रधानता से — आमाजीर्ण व प्रवाहिका
पित्त प्रधानता से — विदग्धाजीर्ण, अम्लपित्त व भस्मक रोग
वात प्रधानता से — विष्टब्धाजीर्ण व ग्रहणी दोष
दोष रस से — रसशेषाजीर्ण

2. धात्वग्नि के कारण उत्पन्न आम से उत्पन्न रोग

रस प्रदोषज विकार, रक्त प्रदोषज विकार, मांस प्रदोषज विकार, मेद प्रदोषज विकार, अस्थि प्रदोषज विकार, मज्जा प्रदोषज विकार, शुक्र प्रदोषज विकार

इनमें मधुमेह, अति स्थौल्य, आमवात, ज्वर, श्वास रोग, शोथ रोग आदि प्रमुख रोग हैं।

3. भूताग्नि के कारण उत्पन्न आम से उत्पन्न रोग

यकृत जन्य रोग, आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के चयापचय जन्य विकार (Metabolic Disorders) भी इन्हीं आमज रोगों में सम्मिलित किये जा सकते हैं।

सामता व निरामता का विवेचन

अपक्व अन्न रस को 'आमदोष' कहा जाता है। इससे मिश्रित दोष व रोग क्रमशः 'साम दोष' व 'साम रोग' कहे जाते हैं। जैसे-साम वात, साम पित्त, साम श्लेष्मा, साम ज्वर, सामज आमवात, सामज ग्रहणी दोष आदि।

इसके विपरीत आमविष से रहित दोष व रोग क्रमशः निरामज दोष व निरामज रोग कहे जाते हैं। जैसे-निराम वात, निराम पित्त, निराम श्लेष्मा, निराम ज्वर, निराम आमवात आदि। यहाँ दोष से तात्पर्य दोष-धातु-मल तीनों से है।

साम-निराम दोष के लक्षण

आचार्य वाग्भट्ट ने दोषों के साम-निराम लक्षणों का वर्णन निम्न रूप में किया है[1]-

साम दोष लक्षण

(i) स्रोतोरोध
(ii) बलभ्रंश
(iii) शरीर गौरव
(iv) वायु का प्रतिलोम होना
(v) आलस्य
(vi) अपचन
(vii) निष्ठीवन (बार-बार थूकने की प्रवृत्ति)
(viii) मलसंग्रह
(ix) अरुचि
(x) क्लम

1. क्षोभितोऽग्नेर्बलभ्रंशं गौरवालस्यमूर्छनम्।
अजस्रमङ्गसदनं हृल्लासारुचिविष्टताः।
निष्ठ्यूतमलसंघातं, विद्यात्तामं विषोपमम्॥ (अ.हृ.सू. 13/23-24)

निराम दोष लक्षण

(i) स्रोतसों का प्राकृत रहना
(ii) बल वृद्धि
(iii) शरीर लघुता
(iv) वायु की अनुलोमता
(v) स्फूर्ति
(vi) अग्नि सम रहना
(vii) भोजन में रुचि
(viii) विसर्ग व क्षुधा (क्षुधा वृद्धि)
(ix) थकावट व आलस्य न होना।

साम-निराम रोग के लक्षण

आम दोष व दूष्यों से उत्पन्न होने वाले रोग "साम रोग" कहे जाते हैं। अमज दोष व दूष्यों से रहित रोग 'निराम रोग' कहे जाते हैं। आचार्य वाग्भट्ट ने सूत्रस्थान के अध्याय संख्या 13 में इनके लक्षण निम्न प्रकार वर्णित किए हैं—

साम रोग लक्षण	निराम रोग लक्षण
आलस्य	आलस्य न होना
तन्द्रा	शरीर में लघुता
आस्य वैरस्य	अन्न में रुचि
अरुचि	मन व इंद्रिय प्रसन्नता
घबराहट/बेचैनी	वायु का अनुलोमन होना
क्लम	अग्निमांद्य

साम व निराम विदोष के लक्षण

आचार्य वाग्भट्ट ने सूत्र स्थान के 13वें अध्याय में साम व निराम विदोषों के निम्न लक्षण बताये हैं-

1. (अ) साम वायु लक्षण[2]

(i) स्रोतसों का विबन्ध रहना
(ii) अंगग्लानि (अंगमर्द)
(iii) तन्द्रा
(iv) आध्मान
(v) आध्मान
(vi) कटि व पार्श्व में वेदना
(vii) शोथ व तोद
(viii) लेखन से लक्षण वृद्धि
(ix) सूर्योदय, मेघोदय एवं रात्रि में लक्षण वृद्धि

1. 'आमेन तेन उत्पन्ना दोषा दूष्याश्च दूषिताः।
साम इत्युपदिश्यन्ते ये च रोगास्तदुद्भवाः॥ (अ.हृ.सू. 13/27)
2. वायुः स्रोतो विबन्धाङ्गसादाध्मानरुजादिभिः।
चेष्टासंकोचनिर्लेपैः क्रमशोऽङ्गानि पीडयन्॥
विशेषेण पुनर्व्याप्ति कुपितो भुक्तमुल्बणम्।
लेखार्थी वृद्धिमायाति भूयश्चैषोदये निशि॥ (च.चि. अ. चि. 28/49-50)

Scanned with CamScanner

(ब) विशद वायु लक्षण[1]

(i) विशद-रुक्षवायु
(ii) स्रोतो शुद्धि कारक
(iii) अल्प वेदना होना
(iv) स्निग्ध द्रव्यों से दोषों का शमन
(v) त्वचा का श्याव व ताम्र वर्ण होना

2. (अ) साम पित्त लक्षण[2]

(i) दुर्गन्ध युक्त
(ii) हरित या श्याववर्ण
(iii) अम्ल रसी
(iv) घन स्वरूप
(v) स्थिर
(vi) गुरु
(vii) माधुर्यक्य
(viii) अम्लोद्गार कारक
(ix) हृदय व कण्ठ में दाह कारक

(ब) निराम पित्त लक्षण[3]

(i) ताम्र व पीत वर्ण
(ii) कटु रस
(iii) अल्पगन्ध
(iv) अस्थिर
(v) रुचिवर्धक
(vi) अग्निवर्धक व बलप्रद
(vii) तीक्ष्ण
(viii) दुर्गन्ध रहित

3. (अ) साम श्लेष्मा लक्षण[4]

(i) अस्वच्छ (आविल)
(ii) तन्तुमान
(iii) स्थान (गाढ़)
(iv) पिच्छिल
(v) कण्ठप्रदेश में चिपकने वाला
(vi) क्षुधानाशक
(vii) उद्गारनाशक

(ब) निराम श्लेष्मा लक्षण[5]

(i) फेनवान्
(ii) पिण्डित
(iii) विशद
(iv) पाण्डु वर्ण
(v) शुक्ल वर्ण
(vi) मधुर रस
(vii) दुर्गन्ध रहित
(viii) मुख शुद्धि कारक

1. विशदे विशदो.....विशेषतः ॥ (च.सू. ज्वर चि. 51)
2. दुर्गन्धि हरितं श्यावं पित्तमम्लं घनं गुरु।
अम्लोद्गारकण्ठहृद्दाहकरं सामं विनिर्दिशेत्॥ (अ.हृ.सू. 21/33)
3. अग्निसन्दीपनमनुष्णं लघु कटुकमेव च। पक्वं विगतगन्धि विद्येयं रविरश्मिविकासदम्॥ (अ.हृ.सू. 21/35)
4. श्लेष्मस्तन्तुल: श्वेतः कण्ठोद्देशविलेपनः।
सामो वमथुहृल्लासशैत्यगौरवकृद् गुरुः॥ (च.सू. ज्वर चि. 51)
5. विपक्वः पिच्छिलः स्तोकपूर्वः सान्द्रोऽरुचिश्च यः।
पक्वः स एव विज्ञेयस्तीक्ष्णोष्णः कफसंज्ञितः॥ (अ.हृ.सू. 21/34)

साम व निराम रस धातु के लक्षण[1]

आम अन्न रस व आम रस धातु से मिश्रित स्वाभाविक सप्तधातुएं "सामज धातु" कहे गये हैं। इसके विपरीत आम अन्न रस व आम रस धातु से रहित ये ही सप्तधातु "निरामज-धातु" कहलाते हैं। धातुओं को दूष्य भी कहा जाता है। सामज एवं धातुओं के लक्षण व विकार विभिन्न आचार्य मतानुसार निम्न प्रकार हैं—

(i) साम रसज लक्षण व विकार[2]

1 भोजन में अश्रद्धा, अरुचि या अशोचक
2 आलस्य, बैरस्य (मुख में रस ज्ञान न होना)
3 जिह्वा अरसज्ञता
4 वमन (जी मिचलाना)
5 देह में गौरवता
6 तन्द्रा
7 अङ्गमर्द
8 ज्वर
9 तृष्ण
10 पाण्डु
11 स्रोतोरोध
12 क्लैब्य
13 अंङ्गसाद (शरीर में शिथिलता)
14 अंगों में कृशता
15 अग्निमान्द्य
16 असमय में वली (झुर्रियों) का होना
17 असमय में पलितता (बाल श्वेत होना)
18 असमय में दृष्टि दोष

(ii) साम रक्तज लक्षण व विकार[3]

1 कुष्ठ
2 विसर्प
3 पिड़का
4 रक्तपित्त
5 असृग्दर (रक्तप्रदर)
6 गुदपाक
7 मेढ्रपाक
8 मुखपाक
9 प्लीहरोग
10 गुल्म
11 विद्रधि
12 नीलिका

1. अन्नेनैव वयमृता दोषा दूष्याश्च दूषिताः।
रुजा ज्वरपुरोदरमे ये च रोगास्तदुद्भवाः॥ (अ.हृ.सू. 13/27)
2. ॥ अरुचा चालसेनाङ्गमार्दवेनास्यवैरस्यगौरवैः॥ ह्रल्लासो गौरवं तन्द्रा स्यङ्गमर्दो ज्वलज्वरः॥
कण्ठधूमं स्रोतसां रोधः कफस्यैषां च कृच्छ्रतः। जायतेऽरोचकाद्यास्तु सामदोषस्य लक्षणम्॥
एक प्रदोषजाः रोगाः:- (च.सू. 28/9, 10)
॥ इह, अनशना ..... एक प्रदोषजा विकाराः॥ (सु.सू. 24/9)
3. पक्वमेव एक प्रदोषजाः ॥ कुष्ठग्रहीसर्पपिडकाकोठपित्तमसृग्दरः ॥
गुल्मोपक्रम पक्वाशयो गुल्मी च विद्रधिः। नीलिकाकामला व्यङ्ग पित्तास्रतिलकालकाः॥
पक्वमेतत् विजानीयात् कोठासम्बन्धजम्बु। एक प्रदोषजाश्चैते॥ (च.सू. 28/11-12)
॥ कुष्ठविसर्प ..... एकदोषजाः ॥ (सु.सू. 24/9)

Scanned with CamScanner

13	कामला	14	व्यङ्ग
15	पिप्पु	16	तिलकालक
17	दद्रु	18	चर्मदल
19	श्वित्र (किलास)	20	पामा
21	कोठ	22	रक्तमण्डल
23	त्वक्छ	24	इन्द्रलुप्त
25	वातशोणित	26	अर्श
27	अर्बुद	28	अंगमर्द

(iii) साम मांसज लक्षण व विकार[1]

1	अधिमांस	2	अर्बुद
3	मांसकीलक	4	गलशालूक
5	शुण्डी (गलशुण्डी)	6	पूतिमांस
7	अलजी	8	गण्ड (गलगण्ड)
9	गण्डमाला	10	उपजिव्हिका
11	मांससंघात	12	ओष्ठ-प्रकोप

(iv) साम मेदोज लक्षण व विकार

इसके अंतर्गत अष्टनिन्दित पुरुष के समस्त लक्षण व प्रमेह रोग के समस्त पूर्व का समावेश होता है जो निम्न प्रकार है[2]–

1	अति ह्रस्व	2	अतिदीर्घ
3	अतिलोमा	4	अलोमा
5	अतिकृष्ण	6	अति गौर
7	अति स्थूल	8	अति कृश
9	केशों का अतिल होना	10	मुख माधुर्य
11	हस्त पाद शून्यता व दाह	12	मुख-तालु-कण्ठ शोष
13	पिपासा	14	आलस्य
15	अत्याधिक्य	16	शरीर के नवद्वार में मलाधिक्य
17	शरीर व मूत्र पर षट्पद वाली चींटी का लगना		

1. अ) कृच्छ्रसंमर्दजम्। अधिपांसार्बुदं कीलंगलशालूक शुण्डिके।
पूतिमांसगलीगण्डगण्डमालोपजिह्विका।
मांससंघातजश्च॥ (च.सू. 28/13)
ब) गुल्मप्लीहकृच्छ्राश, अधिमांसार्बुदार्शोऽपिजिह्वौष्ठकुनखगलशुण्डिकालजी-पत्यन्त्यगण्डगलगण्डमालाप्रभृतयो मांसदोषजाः॥ (सु.सू. 24)
2. अ) मेदः सर्वाण्यसृक्प्रजाः। निन्दितानि प्रमेहाणां पूर्वरूपाणि यानि च॥ (च.सू. 28)
ब) अर्बुदाष्ठीलाग्रन्थ्यर्बुदमेदोजकफपूयोपनाहिन्यर्श्वल्मीकविद्रधिप्रभृतयो मेदोदोषजाः॥ (सु.सू. 24)
स) सदृश-सर्वावयवं मेदसि ..... गर्भकालमिति॥ (चरि. 4)

18	मूत्रार्तवजी विकार	19	शरीर का मज्जावृद्धी होना
20	सदैव निद्रा व तन्द्रा आना	21	ग्रंथिरोग
22	वृद्धिरोग	23	गलगण्ड
24	अर्बुद	25	मेदोज ओष्ठ प्रकोप
26	मधुमेह	27	अति स्थौल्य
28	अति स्वेद		

(v) साम अस्थिज प्रदोषज लक्षण व विकार[1]

1	अध्यस्थि	2	अधिदन्त
3	दन्तास्थिभेद	4	दन्तमूल
5	अस्थिभेद	6	अस्थिशूल
7	अस्थि व दन्त विवर्णता	8	केश विकार
9	लोम व नख दोष	10	श्मश्रु दोष
11	अस्थितोद	12	कुनख रोग

(vi) साम मज्जा प्रदोषज लक्षण व विकार[2]

1	शरीर के पर्व (जोड़ों) में पीड़ा	2	भ्रम
3	मूर्च्छा	4	तमोदर्शन
5	नेत्राभिष्यन्द	6	अस्थ्यं स्थूलमूलानां पर्वजानां

(vii) साम शुक्र प्रदोषज लक्षण व विकार[3]

1	क्लैब्य	2	अहर्षणम्
3	क्लीवता	4	शुक्राश्मरी
5	शुक्रमेह	6	शुक्रदोष
7	गर्भस्राव	8	गर्भपात
9	अल्पायु	10	विरूपता

निराम सात धातु गत लक्षण—निराम की अवस्था में सातधातुयें अपना प्राकृत कार्य प्रीणन, जीवनम, लेपन आदि सम्यक् रूप से करती रहती हैं।

1. अ) अध्यस्थिदन्तौ दन्तास्थिभेदशूलं विवर्णता।
केशलोमनखश्मश्रुदोषश्चास्थि प्रदोषजः॥ (च.सू. 28/16)
ब) अध्यास्थ्यधिदन्तास्थितोदशूलकुनखप्रपृताक्षेप्यस्थिदोषजाः॥ (सु.सू. 24/9)
2. अ) रुक्पर्वणां भ्रमो मूर्च्छा दर्शनं मतमस्तथा।
अस्थ्यं स्थूलमूलानां पर्वजानां च दर्शनम्॥
मज्जाप्रदोषजा॥ (च.सू. 28/17)
ब) सर्वसन्धिशूलपर्वभ्रमशूलतमोदर्शनाक्षेपणिष्प्रदप्रपृताक्षे मज्जदोषजाः॥ (सु.सू. 24/9)
3. अ) शुक्रमदोषात् क्लैब्यमहर्षणम्। रोगिणाकलीवनरूपापुरिवं वा प्रजायते।
ये चापि जायते गर्भः पतति प्रसवत्यपि। शुक्रे हि दुष्टे सन्तानं सदां वापते वदत्॥ (च.सू. 28/18-19)
ब) क्लैब्यप्रहर्षशुक्रसंक्षयशुक्रमेहशुक्रदोषदर्शनाक्षेपजाः॥ (सु.सू. 24/9)

Scanned with CamScanner

साम-निराम मल लक्षण व विकार

साम पुरीष लक्षण व विकार[1]

आम से संयुक्त होने पर पुरीष भारी व जल में डूबने वाला, दुर्गन्धयुक्त, पिच्छिल, भिन्नपुरीष (बिना बँधा हुआ एवं टूट-टूट कर थोड़ी-थोड़ी मात्रा में निकलने वाला) होता है। उपर्युक्त लक्षणानुसार इसमें विष्टब्धाजीर्ण जैसे लक्षण मिलते हैं।

निराम पुरीषज लक्षण[2]

निराम (पक्व) पुरीष दुर्गन्ध रहित, बँधा हुआ, पानी के ऊपर तैरने वाला होता है। इससे शरीर में हल्कापन होता है।

साम मूत्र लक्षण व विकार[3]

मूत्र जब आम दोष से संयुक्त रहता है तब मूत्र रोग अर्थात् इक्षुमेह, पिष्टमेह, शीतक्षारद मेह, उदकमेह, लालामेह, शुक्रमेह, शनैर्मेह, सिकता मेह आदि प्रकार के उत्पन्न हो सकते हैं।

आम दोष चिकित्सा सूत्र एवं चिकित्सा

संशोधन व अपतर्पण भेद से चिकित्सा के दो प्रकार कहे गये हैं। आम दोषों की चिकित्सा में मुख्यतः अपतर्पण चिकित्सा का प्रयोग होता है[4]। अपतर्पण के अंतर्गत लंघन, स्वेदन तथा रूक्षण उपक्रम समाहित किये गये हैं। इसमें भी लंघन चिकित्सा से मुख्यतः आमनाशन होता है। आचार्य चरक ने आम विकारों का नाश करने के लिए आपतर्पण के निम्न विशिष्ट भेदों का वर्णन किया है, यथा-

1. ए सम्यक्त्व गुरुत्वादिर् यद्या गुरुत्वानि जले।
   विस्रंसिपिच्छलघुसंसर्गलक्षणम् प्रदूषणम्॥ (च.वि. 15/24)
   a) संसृष्टपुरीषेषु मलवत्त्वमसंहतिः।
   पूतिर्गं पूतिपुरीषं विच्छिन्नं भिन्नसंज्ञकम्॥ (सु.उ. 40/31)
2. एतत्त्वेव तु विपरीतानि पक्वस्य तु।
   लक्षणं च मलस्यास्य तत्र पक्वं विनिर्दिशेत्॥ (सु.उ. 40/36)
3. मूत्रमेतच्च सामस्य कुर्यात्पिष्टनिभं सकृष्टत्वम्॥ (च.चि. 15/48)
4. अपतर्पणकर्म पूर्वमेवाऽऽमलक्षणसंदर्शनेनोक्तं भवति॥ (च.वि. 2/13)
5. a) अपतर्पणमिति च क्रियापदं-लङ्घनं लङ्घनप्रधानं रोपणप्रधानं चेति॥ (च.वि. 2/13)
   a) तत्र लङ्घनमन्नपानौषधानां _____
   _____ यद्द्रव्यं लङ्घनम्॥ (च.वि. 3/4)
   b) लंघनं पाचनाद्यं यदाप्यं स्वल्पं मलौषधैः।
   दोषेष्वल्पेषु सर्वेषु तेषु लङ्घनसाधनम्॥ (च.चि. 15/3)
   c) सर्वेष्वाऽऽमविकारेषु श्रेष्ठं लङ्घनमिष्यते।
   विशेषं विशिषे दोषे उत्क्लेशेन प्रवर्तयेत्॥ (अ.हृ.सू. 6/20-21)
   d) सर्वेष्वाऽऽमविकारेषु स्वल्पं लंघनं न निर्हरेत्।
   लंघनं पाचनैर्युक्तं बलवत्स्वाऽऽमयेषु च॥ (अ.हृ.सू. 13/23)
   e) लंघनादेव हि _____।
   _____ विपक्वानि॥ (अ.हृ.सू. 13/29-32)

1. **लंघन—** लंघन या उपवास करने से अग्नि तथा वात् महाभूत की वृद्धि होकर अल्प मल आम दोष नष्ट होता है।
2. **लंघन-पाचन—** इससे मध्य मल आम दोष नष्ट होता है।
3. **दोषावसेचन—** बहु दोष (मात्रा/संख्या) की अवस्था में संशोधन कर्म (दोषावसेचन) के द्वारा आम दोष को शरीर से बाहर निकाला जाता है।

सम्पूर्ण शरीर में फैले हुए साम दोष को संशोधन द्वारा निकालने का प्रयास नहीं करना चाहिए। क्योंकि आम से मिश्रित दोष रसादि धातुओं में संचित होकर सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहते हैं जिससे वे बाहर निकलने को उन्मुख नहीं होते हैं। यदि इन संचित आम दोष को बाहर निकालने का प्रयत्न किया जायेगा तो वे आश्रय (शरीर अवयव) का ही नाश करेंगे। जैसे-चाकू फल से रस निकालने के प्रयास में समाहत फल ही नष्ट हो जाता है। अतः आम दोषों को निकालने के लिए पहले दीपनीय व पाचनीय औषध द्रव्यों का प्रयोग करें, फिर स्नेहन व स्वेदन कर उस आम दोष को कोष्ठांगसंयुक्त बनाकर संशोधन योग्य काल में यथाबल संशोधन विधि से निकालने का प्रयास करें। यह संशोधन दोषों के निकटस्थ मार्गों से ही करें। यथा-आमाशय स्थित दोषों को वमन-कर्म से मुख मार्ग द्वारा, पक्वाशय स्थित दोषों व मलों को विरेचन कर्म से गुद मार्ग द्वारा एवं ऊर्ध्व जत्रुगत दोषों को शिरोविरेचन (नस्य) कर्म से नासा मार्ग द्वारा निकालने का प्रयास करना चाहिए। बाहर निकले रहे आम दोषों को स्तम्भक औषधियों से नहीं रोकना चाहिए, क्योंकि रोके गये दोष अनेक प्रकार के रोगों को उत्पन्न कर सकते हैं। स्वयं द्रवित दोषों के निकल जाने के पश्चात् बचे हुए आम दोष को उचित पाचन औषध द्रव्यों से पकाने का प्रयास करना चाहिए।

आचार्य चरक ने आम दोष जनित विकार दो प्रकार के माने हैं[1]-

1. विसूचिका
2. अलसक

इनके चिकित्सा सूत्र निम्नानुसार वर्णित हैं-

विसूचिका रोग का चिकित्सा सूत्र[2]

1. लंघन
2. विरेचन कर्म
3. पेया-विलेपी सेवन

अलसक रोग का चिकित्सा सूत्र[3]

1. उपवास (लंघन)
2. स्वेदन
3. लवण व उष्णोदक से वमन
4. गुदवर्ति से मल निष्कासन।

1. तं द्विविधमन्नपानदोषसमुत्थं भिषजः-विसूचिकाम्, अलसकं च॥ (च.वि. 2/13)
2. विसूचिकायां तु लङ्घनपाचनो विधिरुत्क्लेशनानुपूर्वी॥ (च.वि. 2/13)
3. तत्र सामस्य _____ तः: स्वेदवर्तिप्रणिधानाभ्यङ्गलवणोदकोपवासलंघनैः॥ (च.वि. 2/13)

Scanned with CamScanner

आम दोष की अन्य चिकित्सा विधियाँ[1]

इसमें अपतर्पण चिकित्सा एवं व्याधि विपरीत औषध का प्रयोग करना चाहिए।

आमदोष से विमुक्त व्यक्ति का चिकित्सा सूत्र[2]

1. अभ्यंग
2. स्नेहपान
3. निरुह बस्ति
4. अनुवासन बस्ति।

उपर्युक्त चिकित्सा आम दोष से विमुक्त हो जाने पर, दोषों का पाचन हो जाने पर, अग्नि दीप्त हो जाने पर विधिपूर्वक दोष-भेषज-देश-काल-बल-शरीर-आहार-सात्म्य-सत्व-प्रकृति-वय एवं रोग को ठीक-ठीक विचार कर करने से वांछित फल प्राप्ति होती है।

अन्य चिकित्सा सूत्र

योगरत्नाकर में आम दोष का विस्तृत चिकित्सा सूत्र वर्णित किया गया है जो निम्न प्रकार है[3]-

1. लंघन (उपवास)
2. उष्ण पेया
3. लघु अन्न
4. रुक्ष ओदन
5. विरुपूष सेवन
6. पाचन
7. स्वेदन
8. ऊर्ध्व संशोधन (वमन)
9. अधः संशोधन (विरेचन)
10. निरुह बस्ति

आम दोषनाशक औषध योग

1. रस/भस्म

मात्रा - 125-250 मि.ग्रा.
अनुपान - मधु, उष्णोदक

(i) अग्नितुण्डी रस
(ii) अजीर्णकण्टक रस
(iii) रामबाण रस
(iv) अग्निकुमार रस
(v) अग्नि संदीपन रस
(vi) पाशुपत रस
(vii) अजीर्ण बल व्यालनल रस

2. चूर्ण

मात्रा - 2-6 ग्राम
अनुपान - तक्र, कोष्ण जल

1. आम प्रतिषेधकं ..... वा॥ (च.चि. 2/10)
2. विमुक्तलक्षणोक्तम् ..... गच्छतीति॥ (च.चि. 2/10)
3. आमं संशोधनैर्युक्त्या संशमनैरुपाचरेत्। संसर्जनैरुपस्तम्भ्य स्नेहनादनुवासयेत्॥ निरूहैः स्नेहनाद्यैश्च संशोधनैरुपाचरेत्। संशोधनैरुपस्तम्भ्य संसर्जनैरुपाचरेत्॥ (योगरत्नाकर पूर्वार्ध प्रथम अध्याय)

(i) पंचकोल चूर्ण
(ii) त्रिकटु चूर्ण
(iii) हरीतक्यादि चूर्ण
(iv) त्रिफलादि पाचन चूर्ण
(v) हिंग्वाष्टक चूर्ण
(vi) अग्निमुख चूर्ण
(vii) अजमोदादि चूर्ण
(viii) पंचसम चूर्ण

3. वटी

मात्रा - 250-500 मि.ग्रा.
अनुपान - उष्णोदक

(i) शंख वटी
(ii) अग्नितुण्डी वटी
(iii) विषतिन्दुक वटी
(iv) महाशंख वटी
(v) चित्रकादि वटी
(vi) लशुनादि वटी
(vii) गन्धक वटी
(viii) हिंग्वादि वटी
(ix) संजीवनी वटी
(x) रसोन वटी
(xi) आमपाचक वटी

4. आसव/अरिष्ट

मात्रा - 20-40 मि.ली.
अनुपान - समभाग जल

(i) दशमूलारिष्ट
(ii) पंचकोलासव
(iii) द्राक्षासव
(iv) जीरकारिष्ट
(v) कुमार्यासव

5. क्वाथ

मात्रा - 20-40 मि.ली.
अनुपान - स्वतंत्र रूप से, जल

(i) धान्यपंचक क्वाथ
(ii) शुण्ठी जीरक क्वाथ
(iii) त्र्यूषणादि क्वाथ

6. घृत

मात्रा - 10-20 मि.ली.
अनुपान - दुग्ध, उष्णोदक

(i) पिप्पल्यादि घृत
(ii) पंचकोल घृत
(iii) त्र्यूषणादि घृत
(iv) चित्रकादि घृत

Scanned with CamScanner

आवरण का कारण 14

17-7

द्वादश अध्याय

आवरण विवेचन

च॰ शा॰ अ॰-28
सु॰ शा॰ अ॰ 1
अ॰ हृ॰ शा॰ अ॰-16

आवरण परिचय—संहिताओं में वात दोष प्रकोप के निम्न दो कारण बताये गये हैं[1]—

(i) धातुक्षय होने से, जिसे वायु का स्वतन्त्र प्रकोप कहा जाता है।

(ii) वायु के प्राकृत मार्गों में आवरण होने से, जिसे वायु का परतन्त्र प्रकोप कहा जाता है।

सामान्यतया जब पित्त व कफ दोष के शास्त्रोक्त गुण शरीर में वृद्धि को प्राप्त होते हैं तब इन दोनों दोषों की वस्तुतः वृद्धि होती है। वात दोष इनसे भिन्न है। वातदोष प्रकोप में शरीर के एक देश या सर्वशरीर में रूक्षत्वादि गुणों की वृद्धि हो जाती है, वायु का क्षय नहीं तो प्राकृत रहता है।

वृद्ध (प्रकुपित) दोषों (दोष-धातु-मल) के द्वारा अथवा वायु के किसी भेद द्वारा किसी विशिष्ट वायु की क्रिया का उसके मार्ग में अवरोध होने से उस हेतु को "आवरण" कहलाता है। आचार्य चरक ने दोषों की क्षय, वृद्धि व सम अवस्था के भेद से ही आवरण का वर्णन भी किया है। आवरण अनेक प्रकार के होते हैं जैसे-दोषों का दूष्यों पर, दूष्यों का दोषों पर, एक दोष का दूसरे दोष पर तथा वायुओं का परस्पर एक दूसरे पर आवरण। च॰ वि॰ 28/60- कुपितास्तु स्वगुणवृद्धया स्वं स्थानं ।

आवरण-परिभाषा

आवरण का अर्थ है मार्ग में अवरोध या रुकावट उत्पन्न होना। अतः जब किसी दोष-धातु-मल-अन्न, जो प्रकुपित है, के द्वारा वायु की स्वाभाविक (प्रकृत) प्रक्रिया में बाधा पहुँचायी जाती है अथवा वायु के मार्ग में रुकावट उत्पन्न कर उसके कर्मों को हीन किया जाता है तो उस दोषादि (दोष-धातु-मल-अन्न-वातादि भेद) के द्वारा वायु का 'आवरण' कहा जाता है। सामान्य भाषा में अगर किसी मेज के ऊपर कवर (आवरण) बिछा दिया जाय तो इसे कवर द्वारा मेज का आवरण कहा जायेगा।

आवरक

आवरण करने वाला दोष-धातु-मल "आवरक" कहा जाता है। आवरक दोष के

1. कर्मक्षयेणोभयतः कोपो मार्गस्यवाऽऽवृतेन च (च)। मार्गस्थितस्य देहे सर्वासंक्षोऽनुपरिणमः॥ [च॰ वि॰ 28/

बार्य प्रायः अधिक और बलवान भी होते हैं।

आवृत

बाधित वायु को 'आवृत' कहते हैं। आवृत वायु दुर्बल होता है। आवृत वात भी कभी-कभी ठसा स्थान पर संचित होकर प्रकुपित हो जाता है।

आवरण प्रकरण का वर्णन आचार्य चरक व आचार्य सुश्रुत ने व्रणशोथ प्रकरण में व आचार्य वाग्भट्ट ने वातरक्त प्रकरण में किया है।

वायुओं का परस्पर (अन्योन्यावरण) आवरण

संहिता ग्रन्थों में वायुओं के परस्पर आवरण का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। अर्थात् कोई एक वायु (प्राण, उदान, समान, व्यान, अपान) किसी अन्य वायु के मार्ग को आवृत कर लेती है। तात्पर्य यह है कि यथाक्रम सभी वायु एक-एक वायु को आवृत कर सकती हैं। इस प्रकार पाँचों वायुओं के परस्पर आवरण से बीस प्रकार के आवरण भेद उत्पन्न होते हैं जिनका विस्तृत रूप में वर्णन यथा स्थान पर किया जा रहा है।

मिश्र आवरण[2]

कभी-कभी एक ही वायु कफ दोष तथा पित्तदोष दोनों से आवृत हो जाता है। इस प्रकार के आवरण को 'मिश्र आवरण' या 'द्वन्द्वावरण' कहा जाता है। इनके कुल पाँच भेद होते हैं जो निम्न प्रकार हैं—

1. कफपित्तावृत प्राण वायु
2. कफपित्तावृत उदान वायु
3. कफपित्तावृत समान वायु
4. कफपित्तावृत व्यान वायु
5. कफपित्तावृत उदान वायु

आवरण का महत्व[3]

आयुर्वेदीय चिकित्सा में आवरण का ज्ञान उतना ही आवश्यक है जितना कि दोषों के साम-निराम, क्षय-वृद्धि एवं समावस्था का है। आवरणों का सम्यक् परिज्ञान होने से उनकी चिकित्सा करने में चिकित्सक कभी भी त्रुटि नहीं करता और अपनी सूझ-बूझ से शीघ्र रोग निवारण करने में समर्थ होता है।

1. दिशाऽऽवृणोति च विभजेत् सर्वमावरणं भिषक्।
स्थानान्यपेक्षेच्च बलाबलं वृद्धिं हानिं च कर्मणाम॥ (अ॰हृ॰नि॰ 16/52)
2. मलक्षयो हि..... प्रवर्तयेत्॥ (च॰वि॰ 28/199-201)
3. क्षयवृद्धी तु विज्ञातं पित्तस्य च कफस्य च।
उपक्रमेत भिषगिद्धान् विज्ञायावरणं भिषक्॥ (च॰वि॰ 28/231)
क्षय वृद्धिं समत्वं च दोषाणामावरणं भिषक्।
विज्ञाय पक्षपातौ न प्रयुञ्जीत कदाचन॥ (च॰वि॰ 28/247)

Scanned with CamScanner

आवरण साध्यासाध्यता[1]

सभी आवृत वात विकार एक वर्ष तक उपेक्षा या अज्ञान के कारण शरीर में पड़े रहने से असाध्य या कृच्छ्रसाध्य (दुरुपक्रम) हो जाते हैं।

उपेक्षित आवृत वायु के उपद्रव[2]

आवृत वायु की उपेक्षा करने से हृदोग, विद्रधि, प्लीहरोग, गुल्म, अतिसार आदि रोग उपद्रव रूप उत्पन्न हो सकते हैं।

आवरण विषयक अन्य तथ्य

1. एक दोष दूसरे दोष एवं दूष्य को आवृत कर देता है।
2. आवृत के लक्षण दृष्टिगोचर नहीं होते अपितु आवरक के लक्षण उग्र होते हैं।
3. दोषों के द्वारा दोषों का अथवा दूष्यों का आवरण होता है।
4. सिद्धान्ततः आवरक दोष व्याधि के 'हेतुस्थान' में स्थित होता है।
5. व्याधिकारक मूल दोष (आवृत दोष) के विपरीत आवरण दोष सम्प्राप्ति (दोष-दूष्य सम्मूर्च्छना) में भाग नहीं लेता है।
6. एक दोष दूसरे दोष, दूष्य, मल को आवृत कर देता है तो आवृत दोष या दूष्य अपने प्राकृतावस्था में रहते हुये भी कार्य नहीं कर पाते हैं।
7. सैद्धान्तिक दृष्टि से आवरण की अवधारणा स्पष्ट है परन्तु आतुरीय दृष्टि (Clinically) से रोगियों में आवरण तथा मूल दोष की अंशांशकल्पना करना व्यवहारिक दृष्टि से कठिन प्रतीत होता है। अधिकाधिक आतुरीय अनुभव के आधार पर आवरण निर्णय संभव है और तदनुरूप चिकित्सा करने से रोगी में वर्धमान लाभ की सम्भावनायें भी बनती हैं।

आवरण से सादृश्य रखने वाले स्रोतोदुष्टि के लक्षण 'संग' में भी कुछ समानतायें एवं असमानतायें हैं जो निम्न सारणी में वर्णित की जा रही हैं—

1. सर्वेऽप्येते चिरात्साध्याः कालयापनयात्मकाः।
   केचिदप्याशयस्थाश्च कृच्छ्रसाध्या दुरुत्तराः॥
   दृष्टेऽपि विधिवद्युक्ते हेतौ व्याधिबलेऽपि च।
   भवन्त्युद्रेककरास्तस्मादुपेक्षेतान्नपानयोः॥ (च.चि. 28/235)
2. (च.चि. 28/226)

संग व आवरण में अन्तर

	संग	आवरण
1)	दोष या दूष्यों का स्रोतस् में रुक जाना संग है।	दोषों व दूष्यों द्वारा दोषों का आवरण होता है।
2)	यह दोष-दूष्य सम्मूर्च्छना जनित स्रोतो दुष्टि का एक प्रकार है तथा दूष्यों की प्राकृत गति में बाधा उत्पन्न होती है।	एक वृद्ध दोष दूसरे दोष या धातु को आवृत कर देता है जिससे आवृत दोष या दूष्य कार्य नहीं कर पाता है।
3)	जिस दोष या दूष्य का संग हुआ हो, उसके एक स्थान में वृद्धि के लक्षण और अन्यत्र क्षय के लक्षण मिल सकते हैं।	आवृत के लक्षण क्षीण या बिल्कुल नहीं मिलते हैं, आवरण के लक्षण प्रायः उग्र रूप से प्रकट होते हैं।
4)	संग के पश्चात विमार्गगमन सम्भव है।	आवरण से विमार्गगमन नहीं होता है।
5)	इसमें दीपन-पाचन व स्रोतोशोधन चिकित्सा से लाभ होता है।	आवरक की चिकित्सा करने से लाभ होता है।
6)	संग आम या साम दोषों या सम्मूर्च्छना प्रकार विशेष से होता है।	आवरण दोषों तथा दूष्यों से होता है।

आवरण भेद

मुख्य रूप से आवरण को निम्न तीन वर्गों में विभाजित करते हैं—

1. स्वतन्त्र आवरण — ये कुल 22 होते हैं।
2. अन्योन्यावरण — ये कुल 20 होते हैं।
3. मिश्रावरण — ये कुल 5 होते हैं।

स्वतन्त्र आवरण

ये निम्न हैं—

1. पित्तावृत वात
2. कफावृत वात
3. रक्तावृत वात
4. मांसावृत वात
5. मेदसावृत वात (आढ्यवात)
6. अस्थ्यावृत वात
7. मज्जावृत वात
8. शुक्रावृत वात

Scanned with CamScanner

9. अस्थ्यावृत वात
10. मज्जावृत वात
11. मूत्रावृत वात
12. सर्वधात्वावृत वात
13. पित्तावृत प्राण वायु
14. पित्तावृत उदान वायु
15. पित्तावृत समान वायु
16. पित्तावृत व्यान वायु
17. पित्तावृत अपान वायु
18. कफावृत प्राण वायु
19. कफावृत उदान वायु
20. कफावृत समान वायु
21. कफावृत व्यान वायु
22. कफावृत अपान वायु

अन्योन्यावरण

ये निम्न हैं—

1. उदानावृत प्राणवायु
2. व्यानावृत प्राणवायु
3. समानावृत प्राणवायु
4. अपानावृत प्राणवायु
5. प्राणावृत उदानवायु
6. व्यानावृत उदानवायु
7. समानावृत उदानवायु
8. अपानावृत उदानवायु
9. प्राणावृत व्यानवायु
10. उदानावृत व्यानवायु
11. समानावृत व्यानवायु
12. अपानावृत व्यानवायु
13. प्राणावृत समानवायु
14. उदानावृत समानवायु
15. व्यानावृत / समानवायु
16. अपानावृत समानवायु
17. प्राणावृत अपानवायु
18. समानावृत अपानवायु
19. उदानावृत अपानवायु
20. व्यानावृत अपानवायु

मिश्रावरण

ये निम्न हैं—

1. पित्तकफावृत प्राणवायु
2. पित्तकफावृत उदानवायु
3. पित्तकफावृत समानवायु
4. पित्तकफावृत व्यानवायु
5. पित्तकफावृत अपानवायु

विभिन्न आवरण-कारण व लक्षण

स्वतन्त्र आवरण

1. **पित्तावृत वात'**—वायु के पित्त दोष द्वारा आवृत होने पर दाह, तृष्णा, मूर्छा, भ्रम, तम, कटु-अम्ल-लवण-उष्ण पदार्थों से विदाह तथा शीत पदार्थों की इच्छा होना आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसकी शीत व उष्ण क्रम से 'व्यत्याय' चिकित्सा प्रसिद्ध है। जीवनीय घृत, क्षीर व यापना बस्ति भी हेतु लक्षणप्रद रहता है।

१. सिद्धं पित्तावृते दाहतृष्णा मूर्छा भ्रमक्लमः ॥
कटूष्णाम्लविदाहश्च विदहः शीतकेप्सिता।
दाहमोहौ तृषा: स्युर्वातैर्पित्तलिङ्गिते ॥

(च.चि. 28/61-62)
(सु.नि. 1/33)

2. **कफावृत वात'**—कफ दोष द्वारा वायु के आवृत होने पर हृल्लास, गौरवता, शूल, शोफ, कटु-तिक्त-कषाय रसों के द्रव्य पदार्थों में इच्छा (रुचि), संवेदन-क्षम-रुक्ष तथा उष्ण पदार्थों में रुचि होना आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं।

3. **रक्तावृत वात'**—रक्त द्वारा वायु के आवृत होने पर शरीर में सूई चुभने जैसी वेदना, स्पर्श का अज्ञान, प्रसुप्तता, स्पर्श व मांस के मध्य में सूत्र चलना, शोथ, मण्डल (चकते), पित्तज विकार आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसमें 'वातरक्त' रोगी के समान चिकित्सा करना लाभकारी रहता है।

4. **मांसावृत वात'**—यदि मांसरोगियों में वायु का आवरण हो जाता है तो कठोर व विवर्ण पिड़िकायें उत्पन्न हो जाती हैं। स्पर्शज्ञान में स्तब्धता, गौरवता व शरीर पर चींटियां चलने जैसी प्रतीति होती है।

5. **मेदसाऽऽवृत वात'**—इस आवरण को आढ्यवात, बुद्धवात, वातशोणित, वातशोणित या उरुस्तम्भ माना गया है। इस आवरण में आवृत वायु अंगों में सञ्चरायमान, स्निग्ध, मृदु, शीत शोफ उत्पन्न करती है। भोजन में अरुचि भी होती है। यह कृच्छ्रसाध्य है।

6. **अस्थ्यावृत वात'**—अस्थि से आवृत वायु में उष्ण स्पर्श व मर्दन-पीड़न की आवश्यकता लगती है। अंगों में टूटने के समान पीड़ा होती है, सुई चुभने जैसी पीड़ा भी होती है।

7. **मज्जावृत वात'**—मज्जा से आवृत वायु में अंग शून्य रहते हैं, कम्प आता है, शरीर रस्सी से बँधा हुआ प्रतीत होता है, अंगों में शूल होता है हाथों से रोगी को दबाने पर सुख अनुभव होता है।

i) शैत्यपैच्छल्यगुरुतानि कटूष्णाम्लाप्रोऽधिकम्॥
लवणत्वासहत्वैक्यकामिता च कफावृते। (च.चि. 28/62-63)
ii) शैत्योपदेहगुरुतानि तद्वित्तस्येव कफावृते। (सु.नि. 1/33)
iii) रक्तावृते सदाहोष्मत्वह्रस्वसञ्चारजौ भृशम्॥
श्वयेत् सरागः सपरुषस्तत्रैवाऽऽशु च मण्डलानि च। (च.चि. 28/63,64)
iv) सूचीभिरिव निस्तोदः स्पर्शदैन्यः प्रसुप्तता॥
शोफः पित्तविकाराः स्युर्वातरक्ते तोदसन्निभे। (सु.नि. 1/33, 34)
कठिनाश्च विवर्णाश्च पिटकाः सपरुषास्त्वचा॥
हर्षः पिपीलिकानां च संचार इव मांसगे। (च.चि. 28/64-65)
चलः सिराधी मृदुः शीतः शोफोऽङ्गेष्वरतिस्तथा। (च.चि. 28/65, 66)
आढ्यवात इति ज्ञेयः स कृच्छ्रो मेदसाऽऽवृतः॥
v) स्तब्धमस्थ्याऽऽवृते तुष्णं पीडनं चाभिवर्धति।
संश्रयते सदेहति च सूचीभिरिव तुद्यते॥ (च.चि. 28/66)
vi) गुरुभिश्च तुद्यतेऽत्यर्थमङ्गं सीदति शून्यते। (अ.हृ.नि. 16/37)
कम्पवृते विनामः स्यादङ्गभञ्जनं परिवेष्टनम्। → Sharangdhara
रुजा तु पीड्यमाने च चर्षिण्यां शमते सुखम्॥ (च.चि. 28/67)

8. **शुक्रावृत वात**[1]—शुक्र से वायु के आवृत होने पर शुक्र में [illegible] अथवा अधिक वेग होता है। शुक्र निष्फल होता है अर्थात् [illegible] करने में समर्थ नहीं होता है। इसकी चिकित्सा में बल्य व शुक्रल [illegible] देना लाभकारी रहता है। Sterility

9. **अन्नावृत वात**[2]—अन्न से वायु के आवृत होने पर भोजन करने के बाद [illegible] में शूल हो जाता है और जब भोजन पच जाता है तो शूल की शान्ति हो जाती है। इसकी चिकित्सा में दीपन-पाचन औषध व लघु अन्न देते हैं।

10. **मलावृत वात**[3]—मल से वायु के आवृत होने पर विबन्ध, पक्वाशय में कैंची से काटने के समान पीड़ा होती है। भोजन के पश्चात खाये स्नेह का पाक शीघ्र ही हो जाता है, भोजन के बाद आनाह व मल शुष्क तथा कष्टपूर्वक होते से निकलता है। श्रोणि, वंक्षण व कटि प्रदेश में वेदना होती है वायु का अनुलोमन नहीं होता है, हृदय अस्वस्थ्य रहता है। Severe [illegible] bind

11. **मूत्रावृत वायु**[4]—जब वायु मूत्र से आवृत रहती है तो मूत्र की अप्रवृत्ति व मूत्राशय में आध्मान होता है। Atonic bladder

12. **सर्वधात्वावृत वात**[5]—सर्वधातुओं से आवृत वायु में श्रोणि, वंक्षण व कुक्षि (कटि) प्रदेश में पीड़ा, वायु विलोम गति, हृदय में पीड़ा व रोगी अस्वस्थ रहता है। only Un अं. टू० -16

13. **पित्तावृत प्राण वायु**[6]—पित्त दोष से आवृत प्राण वायु में मूर्च्छा, दाह, प्यास, शूल, उदरविदाह, शीतकामिता, खाये हुये विदग्ध अन्न का वमन होना ये सभी लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं। यह आवरण कष्टप्रद होता है क्योंकि प्राणवायु ही आयु व जीवन का परिचायक है।

14. **कफावृत प्राण वायु**[7]—कफ दोष से प्राण वायु के आवृत होने पर हिक्का (बार-बार थूकने की प्रवृत्ति), छींकें, उद्गार (डकार), श्वास-प्रश्वास में

---

[1] शुक्रावेगेऽतिसेकी वा निष्फलत्वं च शुक्रगे ॥ (च.चि. 28/68)
[2] कुक्षौ कुक्षे च रुजावैर्यं शूलमन्नावृतेऽनिले ॥ (च.चि. 28/69)
3. वर्चसोऽतिविबन्धोऽथ.....।
..... त्यावृतेऽनिले ॥ (च.चि. 28/70-72)
[4] मूत्रवृत्तिरपक्वस्य बस्तौ मूत्रावृतेऽनिले ॥ (च.चि. 28/69)
[5] सर्वधात्वावृते वायौ, क्षीणेष्वङ्गेषु रुक्। (च.चि. 28/73)
विशेषेण मारुतेऽन्नस्थे हृदयं पीड्यतेऽतीव च ॥ (अ.हृ.चि. 16/41)
[6] मूर्च्छा दाहो भ्रम, शूलं विदाहः शीतकामिता ॥
छर्दनं च विदग्धस्य प्राणे पित्तावृते। (च.चि. 28/221-222)
क) प्राणे पित्तावृते हिक्काश्वासौ प्रायेण जायते ॥ (सु.चि. 1/34)
[7] हृद्ग्रहं श्लेष्मवृद्धानि कासोवृत्तामयोद्भवः ॥
प्राणे कफावृते रोगाणामिति हिक्काश्वासौ च। (च.चि. 28/222-223)
क) दौर्बल्यं स्तब्धता तन्द्रा वैवर्ण्यं च कफावृते ॥ (सु.चि. 1/35)

रुकावट का अनुभव, भोजन में अरुचि और छर्दि (वमन) होती है। ये कष्टप्रद आवरण हैं। आचार्य सुश्रुत ने दौर्बल्य, तन्द्रा, वैवर्ण्य आदि लक्षण भी वर्णित किए हैं।

15. **पित्तावृत उदान वायु**[1]—पित्त दोष से आवृत उदान वायु में भ्रम, मूर्च्छा, दाह, नाभि व वक्ष प्रदेश में शूलम, अवसाद एवं शरीर में अवसाद हो जाता है।

16. **कफावृत उदान वायु**[2]—कफदोष से उदान वायु के आवृत होने पर शरीर में विवर्णता, वाक् (वाणी) व स्वर की रुकावट, दुर्बलता, वैवर्ण्य, भोजन में अरुचि, अस्वेद, मन्दाग्नि आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं।

17. **पित्तावृत समान वायु**[3]—पित्तदोष से आवृत समान वायु में अतिस्वेद, तृष्णावृद्धि, दाह, मूर्च्छा, अरुचि, कुक्षि अवरोध आदि लक्षण मिलते हैं।

18. **कफावृत समान वायु**[4]—कफ दोष से आवृत समानवायु में अस्वेद, अग्निमांद्य, लोमहर्ष, शरीर में अधिक शीतलता आदि लक्षण प्रकट होते हैं।

19. **पित्तावृत व्यान वायु**[5]—पित्त से आवृत व्यान वायु में सर्वाङ्ग में दाह, थकावट का अनुभव, शरीर की विशेष क्रिया में रुकावट, संताप आदि लक्षण मिलते हैं।

20. **कफावृत व्यान वायु**[6]—कफ से आवृत व्यान वायु में रोगी के सम्पूर्ण शरीर में भारीपन, सर्व अस्थि व सन्धियों में पीड़ा, शरीर चेष्टा का स्तम्भन, चलने-फिरने में असमर्थता आदि लक्षण मिल सकते हैं।

---

[1] i) मूर्च्छाद्याश्च रुजाश्च दाहो नाभ्युरसः क्लमः ॥
ओजोभ्रंशश्च सदनाप्युदाने पित्तसंवृते। (च.चि. 28/223-224)
ii) उदाने पित्तसंवृते मूर्च्छादाहभ्रमक्लमाः ॥ (सु.चि. 1/35)
[2] i) आवृते श्लेष्मणोदाने वैवर्ण्यं वाक्स्वरग्रहः ॥
दौर्बल्यं गुरुगात्रत्वमरुचिश्चोपजायते। (च.चि. 28/224-225)
ii) अस्वेदहर्षौ मन्दोऽग्निः शीतलत्वं कफावृते ॥ (सु.चि. 1/36)
[3] i) अतिस्वेदतृषा दाहो मूर्च्छा चात्यग्निरेव च ॥
पित्तावृते समाने स्यादुपद्यातस्तथोष्मणः। (च.चि. 28/225-226)
ii) समाने पित्तसंवृते स्वेददाहौष्ण्यमूर्च्छनम् ॥ (सु.चि. 1/36)
[4] i) अस्वेदो वह्निमान्द्यं च लोमहर्षस्तथैव च ॥
कफावृते समाने स्याद्वातानां चातिशीतता। (च.चि. 28/226-227)
ii) कफाधिक्यं च विण्मूत्रं शीतहर्षः कफावृते ॥ (सु.चि. 1/37)
[5] i) व्याने पित्तावृते तु स्यात्ताप: सर्वाङ्गग: क्लम: ॥
गात्रविक्षेपसङ्कोचौ ससंताप: सवेदन: । (च.चि. 28/227-228)
ii) व्याने पित्तावृते दाहो गात्रविक्षेपणं क्लमः ॥ (सु.चि. 1/38)
[6] i) गुरुता सर्वगात्राणां सर्वसन्धिरुजा रुज: ॥
व्याने कफावृते लिङ्गं चेष्टास्तम्भस्तथाऽधिक: । (च.चि. 28/228-229)
ii) गुरुत्वं सर्वगात्राणि स्तम्भनं चेष्टिनिग्रहम् ॥
लिङ्गं कफावृते व्याने चेष्टास्तम्भस्तथैव च ॥ (सु.चि. 1/39)

Scanned with CamScanner

21. **पित्तावृत अपान वायु**'—पित्त दोष से अपानवायु के आवृत होने पर [illegible] वर्ण का मल व मूत्र निकलता है, गुदा व भेदु में ताप बढ़ जाता है, [illegible] मासिक स्राव (आर्तव) अतिमात्रा में निकलने लगता है एवं [illegible] पीड़ित हो सकती हैं।

22. **कफावृत अपान वायु**'—कफ दोष से आवृत अपानवायु में शरीर के अधो भाग में गुरुता, तनु-आम व कफ मिश्रित मल, भारी मल की प्रवृत्ति होती है एवं रोगी कफज प्रमेह से पीड़ित हो सकता है।

अन्योन्यावरण-कारण, लक्षण व चिकित्सा

1. **प्राणावृत व्यान वायु**'—प्राणवायु से आवृत व्यान वायु में सर्व इन्द्रियों में शून्यता, स्मरण शक्ति व बल का क्षय हो जाता है। इस अवस्था में उपरोक्त रोगों की चिकित्सा करनी चाहिये।

2. **व्यानावृत प्राण वायु**'—व्यानवायु से आवृत प्राणवायु की अवस्था में अतिस्वेद प्रवृत्ति, रोमहर्ष (रोमांच), त्वचा विकार, शरीर शून्यता आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसकी चिकित्सा में स्नेह युक्त विरेचन दें।

3. **प्राणावृत समान वायु**'—प्राण वायु से आवृत समानवायु में शरीर में गड़ाहट, गदगद, मूकता, अस्पष्ट वाणी, संज्ञा चेष्टानाश आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसमें पहले बस्ति के साथ-साथ स्नेह का चतुष्प्रयोग (वमन-विरेचन-स्नेह-अनुवासन द्वारा) करना चाहिये।

4. **समानावृत अपान वायु**'—समान वायु से आवृत अपान वायु में ग्रहणी दोष, चर्बरोहा, हृदय रोग, आमाशय शूल होता है। इसकी चिकित्सा में अग्निदीपक घृत का प्रयोग करना चाहिये यथा-चित्रकादि घृत, पिप्पली घृत इत्यादि।

3. इति मूत्रवर्चसां तत्रस्थ गुरुलंघनैः ॥
स्निग्धं विरूक्षयेत्पश्चात् स्नेहबस्तिविधानतः ॥ (च.चि. 28/229-230)
4. अपाने पित्तवृते तीक्ष्णैर्भक्षयेत्स्नेहभोजनम् ॥ (सु.चि. 1/37)
5. पित्तश्लेष्मविबद्धत्वात् प्रवर्तेत् ॥
संस्तम्भ स्यात्ततः पश्चात् कफोत्क्लेशश्च जायते ॥ (च.चि. 28/230-231)
6. अथ कफानुबन्धे च हृत्पीडायां कफवृते ॥ (सु.चि. 1/33)
7. प्राणेनावृतं शून्यत्वं इन्द्रियाणां स्मृतिबलक्षयम् ॥
तत्रापि प्राणवृते स्निग्धं कार्यं तर्पणमादितः ॥ (च.चि. 28/202, 203)
8. समानेनावृतं संज्ञानाशश्चेष्टा सूपरुद्धता ॥
प्राणे व्यानवृते तत्र स्नेहपूर्वं विरेचनम् ॥ (च.चि. 28/203, 204)
9. प्राणवृते व्याने स्युर्विसर्पगदमूकता ॥
चतुष्प्रकारः शमनो स्नेहस्तत्र प्रशस्यते ॥ (च.चि. 28/204, 205)
10. [illegible] ॥
[illegible] ॥ (च.चि. 28/205, 206)

5. **प्राणावृत उदान वायु**'—इस आवरण में निद्रानाश, प्रतिश्याय, श्वास-प्रश्वास का रुकना, ये लक्षण मिलते हैं। इसमें ऊर्ध्व जत्रुगत रोगों की चिकित्सा तथा धूमपान, नस्य कर्म, आश्वासन चिकित्सा करनी चाहिये।

6. **उदानावृत प्राण वायु**'—इसमें शारीरिक शक्ति, ओज, बल, वर्ण का नाश हो जाता है। मृत्यु भी हो सकती है। ऐसी अवस्था में संशोधन रूप से रोगी शरीर पर स्निग्धन करना चाहिये, रोगी को आश्वासन देते हुये मृदुपूर्वक विरेचन कराना चाहिये। (Semicoma [old], Hypocoma [death])

7. **उदानावृत अपानवायु**'—यदि ऊर्ध्ववायु से अधोवायु आवृत हो जाती है तो वमन (छर्दि), श्वास, कास आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में बस्ति का प्रयोग तथा वायु का अनुलोमन करना चाहिये। [COPD, antiperistalsis]

8. **अपानावृत उदान वायु**'—इस आवरण में मोह, अतिनिद्रा, अतिस्वप्न उत्पन्न होता है। ऐसी अवस्था में द्रौपद व ग्राही अन्नपान का सेवन एवं वमन कर्म कराना चाहिये। (Uraemia)

9. **व्यानावृत अपान वायु**'—इस आवरण में वमन, आध्मान, उदावर्त, गुल्म व परिकर्तिका रोग हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में स्निग्ध द्रव्यों को खिलाकर वायु का अनुलोमन कराना चाहिये।

10. **अपानावृत व्यान वायु**'—इसमें मल-मूत्र व शुक्र की अतिमात्रा में प्रवृत्ति होती है। ऐसी अवस्था में औषध-अन्न-पान सभी में संग्राही व स्तम्भक द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये। (Diarrhoea)

11. **समानावृत व्यान वायु**'—इसमें मूर्च्छा, तन्द्रा, प्रलाप, अंगों में शिथिलता, अग्नि-ओज-बल का नाश हो जाता है। इसमें व्यायाम व लघु भोजन दें।

[Similar to DM] [metabolic derangement]

11. विशेषेण: प्रतिश्यायो निः श्वासोच्छ्वाससंग्रहः ॥
हृद्रोगे मुखशोषश्चाप्युदाने प्राणसंवृते ॥
ऊर्ध्वजत्रुगतिकं कर्म कार्यं चाश्वासनं तथा ॥ (च.चि. 28/206, 207)
12. कर्मौजोबलवर्णानां नाशो मृत्युरथापि वा ॥
उदानेनावृते प्राणे तं शनैः स्रोतोविशोधनैः ॥ (च.चि. 28/208, 209)
13. स्निग्धैराश्वासयेच्चैनं सुखं चैवोपपादयेत् ॥
ऊर्ध्वगेनावृतेऽपाने छर्दिश्वासादयो गदाः ॥ (च.चि. 28/209, 210)
14. स्रंसते तत्र वातादि भोज्यं चैवानुलोमनम् ॥
योगैरल्पैरनिष्टोसार ऊर्ध्वगेऽपानसंवृते ॥ (च.चि. 28/210, 211)
15. बस्तौ स्याद्गुदपर्व तत्र दीपनं ग्राहि भोजनम् ॥
वस्त्यभ्यानमुदावर्तगुल्मवर्तिपरिकर्तिकाः ॥ (च.चि. 28/211)
16. स्निग्धं व्यानवृतेऽपाने तं स्निग्धैरनुलोमयेत् ॥
मूत्रशुक्रातिवृत्तौ च भवेद्विण्मूत्रौजसाम् ॥ (च.चि. 28/212, 213)
17. मूर्च्छा तन्द्रा प्रलापोऽङ्गसादोऽग्न्योजोबलक्षयः ॥
समानेनावृते व्याने व्यायामो लघुभोजनम् ॥ (च.चि. 28/213, 214)

Scanned with CamScanner

12. **उदानावृत व्यान वायु**[1]—इस आवरण में अंगों में ... अस्वेदन, शारीरिक चेष्टाओं का नाश, नेत्रों का सर्वदा ... पाये जाते हैं। इसकी चिकित्सा में अल्प व लघु भोजन ...

अन्योन्यावरण के शेष बचे हुये आठ आवरणों का ज्ञान पूर्वोक्त ... के आधार पर करना चाहिये[2]।

कष्टसाध्य आवरण[3]

वातदोष के अलग-अलग आवरणों में प्राण तथा उदानवायु का आवरण ... आवरणों में भेद से आवरण कष्टप्रद माना गया है।

आवरण असंख्य हैं[4]

प्राणादि वायु के बीस अन्योन्यावरण तथा दोष-धातु-मल व अन्न के आधार ... बाईस प्रकार कहे गये है ये प्रतीकात्मक हैं, क्योंकि आवरण के न्यून या अधिक ... अनगिनत भी हो जाते हैं।

आवरण चिकित्सा सिद्धान्त व चिकित्सा

आवरण की अवस्था में निम्न तीन प्रकार की स्थिति बनती है-

i) दोषों का दोषों पर आवरण
ii) दूष्यों का दोषों पर आवरण
iii) वात के भेदों का एक दूसरे पर आवरण

अत: उपर्युक्त स्थितियों को ध्यान में रखते हुये निम्नलिखित चिकित्सा ... अपनाने चाहिये-

1. आवृत तथा आवरक दोनों को ध्यान में रखते हुए चिकित्सा ...
2. आवरण का मूल हेतु 'वातदोष' है, अत: चिकित्सा भी मूलत: ... ही की जाती है, परन्तु उस तक पहुंचने के लिये पहले आवरण का ... जाना आवश्यक होता है।
3. आवृत वात में आवरक की चिकित्सा प्रथम तथा मूल हेतु ... चिकित्सा बाद में की जाती है जिसके लिये वातव्याधि चिकित्सा में ... सामान्य सिद्धान्त, उपक्रम एवं औषध-आहार की व्यवस्था की जाती ...

1. सर्वचेष्टास्थिरत्वं ... निर्विनेत्रम्।
उदानेनावृते ... मूर्तं लघु॥ (च.चि. 28/...
2. एवमन्योन्यावृतानां ... कुर्यात् लक्षणैः।
एवं सर्वमयं ज्ञात्वा ... भजेत्॥ (च.चि. 28/...
3. आवरेषु चाशयं प्राणोदानावरौ ... गुरुतरमावरणं दृष्टव्यं धात्वावरणेषु भेदोवृतवातस्य। (सु.चि. 5/29 पर डल्हण ...
4. भिदे; भिद्यते ... मुच्यते॥ (अ.हृ.चि. 16/...

4. विशेष रूप से पित्त, कफ के द्वारा अंगों के आवृत होने पर वायु कुपित हो तो ... उसमें भी उपर्युक्त सामान्य चिकित्सा करनी चाहिये।
5. मिश्रावरण (त्रिदोषकृतावृत) में सर्वप्रथम पित्त सम्बन्धित कफ की चिकित्सा करनी चाहिये[1]।
6. पित्तावृत वात में क्रम से शीत-उष्ण क्रियाओं (व्यत्यस्त क्रम) का प्रयोग करना चाहिये। वातरक्तरोगाधिकार में वर्णित जीवनीय घृत का भी प्रयोग करें[1]।
7. कफावृत वात में यव (जौ), जांगल मांस, तीक्ष्ण स्नेहनकर्म, निरूह वस्ति, वमन, विरेचन, पुराण घृत, तिल व सर्षप तैल का प्रयोग करें[1]।
8. आमाशय में कफ होने पर वमन कर्म, पक्वाशय में कफ होने पर विरेचन कर्म, सम्पूर्ण शरीर में पित्त होने पर विरेचन कर्म करें[1]।
9. स्वेदन क्रिया के द्वारा द्रवीभूत होकर कफ जब पक्वाशय में स्थित हो जाय अथवा कुपित पित्त अपने लक्षणों को शरीर में उत्पन्न करे तो कफ और पित्त को वस्ति के द्वारा निकालें[1]।
10. यदि कफ से अनुगत वात हो तो गर्म गोमूत्र मिलाकर निरूह वस्ति, यदि पित्त से संयुक्त वायु हो तो क्षीर के साथ निरूह वस्ति के द्वारा इसका निर्हरण करना चाहिये तथा मधुर वर्ग की औषधियों से सिद्ध तैल से अनुवासन वस्ति का भी प्रयोग करें[1]।
11. यदि कफ के साथ वात शिर:प्रदेश में चला गया हो तो धूमपान आदि शिरोरोग नाशक विधियों का प्रयोग करना चाहिये[1]।
12. रक्तावृत वात में 'वातरक्त' रोग के समान चिकित्सा करें[1]।

1. क्रिया सर्वापरणो सर्वा संसृष्टे चापि दापये।
वाते पित्तादिभि: श्लेष्मस्वावृतेषु विशेषत: ॥ (च.चि. 28/183)
संसृष्टे कफपित्ताभ्यां पित्तघ्नादी विनिर्दिशेत्॥ (च.चि. 28/183)
3. पित्तावृते विशेषेण शीतमुष्णं तथा क्रियाम्॥
व्यत्यासात् कल्पयेत् सर्पिर्जीवनीयं च शस्यते॥ (च.चि. 28/184)
4. कफावृते यथास्वानि जाङ्गला मृगपक्षिण:।
स्नेहास्तीक्ष्णा निरूहाश्च वमनं सविरेचनम्॥
जीर्णे सर्पिस्तथा तैलं तिलार्कसर्षपं हितम्॥ (च.चि. 28/187-188)
5. आमाशयगते श्लेष्मे वमनमाचरेत्॥
पक्वाशये विरेकं तु पित्ते सर्वत्रगे तथा॥ (च.चि. 28/188-189)
6. स्वेदैर्विष्यन्दिता: श्लेष्मा यदा पक्वाशये स्थित:॥
पित्तं वा दर्शयेल्लिङ्गं क्षीणपित्तौ विनिर्हरेत्॥ (च.चि. 28/190-191)
7. श्लेष्मण्यनुगते वातमुष्णैर्गोमूत्रसंयुतै:॥
निरूहै: पित्तसंसृष्टं निर्हरेत् क्षीरसंयुतै:॥
मधुरैश्चापसिद्धैश्च तैलैस्तमनुवासयेत्॥ (च.चि. 28/191-192)
8. शिरोगते तु सकफे धूमनस्यादि कारयेत्॥ (च.चि. 28/193)
9. संसृष्टेनावृते कुर्यात्तत्तद्रोगहरीं क्रियाम्॥ (च.चि. 28/194)

Scanned with CamScanner

13. आम से आवृत वात में प्रमेह, वात और भेद नाशक चिकित्सा॥ [illegible]
आवृत वात में स्वेदन, अभ्यंग, मांस रस, क्षीर, घृत, तैल आदि [illegible]

14. अस्थि व मज्जा से आवृत वात में महास्नेह (घृत, तैल, वसा व मज्जा) का प्रयोग करें। हड्डी और मज्जा में स्नेहन।

15. शुक्र से आवृत वात में शुक्रल व बलप्रद औषधि-आहार दें।

16. मूत्र से आवृत वात में मूत्रल औषधि, उत्तर वस्ति व स्वेदन का प्रयोग करें। पुरीष से आवृत वात में एरण्ड तैल पान, स्निग्ध द्रव्य सेचन व उत्तरवस्ति द्वारा चिकित्सा करें[1]।

17. सर्व आवरण में अनभिष्यन्दि व स्निग्ध औषध व स्रोतो शुद्धि कारक चिकित्सा व औषध दें[2]।

18. सर्वआवरण में कफ व पित्त के अविरोधी औषध व आहार द्रव्य एवं वातानुलोमक, शीघ्र हितकारी चिकित्सा प्रयोग करें[3]।

19. सर्व आवरणों में मधुर-अनुवासन वस्तियों के साथ-साथ मात्रा वस्तियों का प्रयोग करें, अथवा रोगी के बल को देखकर मृदु विरेचक औषधियों का प्रयोग करें[4]।

20. सभी प्रकार के आवरणों में रसायन का प्रयोग करना चाहिये यथा-शिलाजतु, गुग्गुलु, च्यवनप्राश, आभयामलकी रसायन, ब्रह्मरसायन[5]।

21. अपान वायु के आवृत हो जाने पर अग्निदीपक, ग्राही, वायु अनुलोमक, पक्वाशय विशोधिनी चिकित्सा करें[6]।

---

1. [illegible] (च.चि. 28/195)
   स्नेहस्वेदकृतसंशोधनो मोक्षयुते हितः॥
   सर्वावरणेष्वन्नमेतेषां पूर्वपेक्षया ऽयुते। (च.चि. 28/196)
   अवयुते तूत्तरं वस्तिः पायनं दोषनं लघु॥
   मूत्रजातिन तु मूत्रेण स्वेदः संशमनक्रियः। (च.चि. 28/197)
   शकृता तैलसिद्धं स्निग्धसंशुद्धदेहवतिक्रिया॥
2. चिकित्सितः सम्यगुपशयश्च समाचरेत्॥
   अनभिष्यन्दिभिः स्निग्धैः स्रोतसां शुद्धिकारकैः॥ (च.चि. 28/238, 239)
3. कफपित्तविरुद्धं यद्यच्च वातानुलोमनम्।
   सर्वावरणयुक्तेषु प्रायशस्तत् तदा हितम्॥ (च.चि. 28/239)
4. मधुरस्निग्धाः प्रायो मधुराः स्वादवश्च ये।
   प्रायशोऽन्नं तदाधिक्यं मृदु वा संशमं हितम्॥ (च.चि. 28/240)
   [illegible] (च.चि. 28/241-242)
5. अवरणयुते सर्वस्मिन् प्रायः श्रेष्ठतमम्।
   शस्यते कृतमेतेषां यच्च पक्वाशयशोधनम्॥ (च.चि. 28/243)

अन्योन्यावरण चिकित्सा सिद्धान्त

वायु के स्थान एवं उसके स्वाभाविक कार्यों की वृद्धि और क्षय का विचार कर अभ्यंग, स्नेहपान, वस्ति चिकित्सा कर्म करने चाहिये। उक्त व शीत क्रम को क्रमशुमार जारी-जारी से करना चाहिये इसे ही 'व्यत्यास' चिकित्सा कहा जाता है। उदान वायु के विकृत होने पर उसे चिकित्सा द्वारा ऊपर की ओर से लाना चाहिये। अपान वायु को अनुलोमक अन्न-पान-औषध द्वारा नीचे की ओर लाना चाहिये। समान वायु का शमन करना चाहिये। व्यान वायु के कुपित होने पर उसे उर्ध्वमार्ग, अधोमार्ग और मध्य मार्ग में ले जाना चाहिये। इन चारों वायुओं से प्राण वायु की रक्षा करनी चाहिये। प्राणवायु के स्वस्थान में रहने से शरीर की स्थिति ठीक रहती है। यदि वायु विमार्ग से या दोषों से आवृत हो तो उसे अपने प्राकृत स्थान में लौटा देना चाहिये। प्रत्येक अन्योन्यावरण की पृथक् चिकित्सा पूर्व में उनके लक्षणों सहित बतायी जा चुकी है।

---

1. स्थानान्यपेक्ष्य..... व्यत्यासदवचारयेत्। (च.चि. 28/217-218)
2. उदानं स्रोजयेदूर्ध्वमपानं घातुलोमयेत्।
   समानं शमयेच्चैव क्रिया व्यानं तु शोधयेत्॥
   प्राणो रक्षयथातुभ्यो ऽपि स्थाने क्षयेण स्थितिर्यतः।
   स्वं स्थानं गमयेदेवं कृताकृतान् विचारणात्॥ (च.चि. 28/219-220)

Scanned with CamScanner

त्रयोदश अध्याय

उपद्रव व अरिष्ट विवेचन

उपद्रव (COMPLICATIONS)

आचार्य माधवकर ने ग्रन्थ का विषय (अभिधेय) उपद्रव, अरिष्ट, निदान व लिंग को माना है। रोग को उत्पन्न करने वाले दोषों के आपस प्रकोप से उत्पन्न होने वाले अन्य विकार ही उपद्रव कहे जाते हैं। "उप समीपे द्रवति इति" अर्थात जो व्याधि के समीप रहता है उसे उपद्रव (Complication) कहते हैं। जिस दोष से व्याधि उत्पन्न हो उसी दोष से मुख्य व्याधि के पश्चात् उत्पन्न होने वाला विकार ही उपद्रव है। यह उपद्रव उपक्रम अविरोधी अर्थात् मुख्य व्याधि के उपचार से ही शान्त होता है[1]।

उपद्रव छोटा या बड़ा हो सकता है, लेकिन मुख्य रोग के ही आश्रित रहता है। प्रधान रोग होता है और रोग का अप्रधानभूत उपद्रव होता है। प्रधान रोग के खत्म हो जाने के बाद अप्रधान उपद्रव की शान्ति स्वंयमेव हो जाती है। यह उपद्रव शरीर में अधिक पीड़ा करने वाला होता है, क्योंकि प्रधान रोग के द्वारा शरीर के जर्जरित हो जाने के बाद उत्पन्न होता है। शरीर के दुर्बल होने पर जो भी उपद्रव होते हैं वह कष्टकारी अवश्य होते हैं। इसलिये उपद्रव की चिकित्सा शीघ्र ही करनी चाहिये[2]।

उपद्रव की विशेषतायें

उपद्रव की निम्न विशेषतायें होती हैं—

i) उपद्रव उत्पत्ति के लिये अन्य दोष प्रकोप या सम्प्राप्ति की आवश्यकता नहीं होती है।

ii) मूल व्याधि के शास्त्रोक्त लक्षणों से भिन्न लक्षण उपद्रव के रूप में उत्पन्न होते हैं।

iii) उपद्रव को अप्रधान, परतन्त्र, अनुबन्ध संज्ञा भी दी जाती है।

iv) प्रधान रोग की चिकित्सा से ही उपद्रव (अप्रधान) शान्त होता है।

1. ऐकाशयकरोगप्रकोपजन्योऽन्यविकारः। (मधुकोश मा.नि. 1/1)
2. व्याधेरपरो यो व्याधिर्व्याध्युपक्रमाविरोधी च स उपद्रव उच्यते॥ (मा.नि. 1/2 पर उद्धृत)
3. उपद्रवस्तु खलु ..... स्वसमानोऽपिबाधेत॥ (च.नि. 21/40)

v) सबल उपद्रव की चिकित्सा शीघ्र करनी चाहिये।

vi) प्रधान व्याधि तथा उपद्रव (अप्रधान) की चिकित्सा विरोधी नहीं होनी चाहिये।

vii) सभी व्याधियों में उपद्रव उत्पन्न नहीं होते हैं।

viii) उपद्रव को व्याधि कहा जा सकता है, लक्षण नहीं।

ix) व्याधि की सामान्य अवस्था में उपद्रव उत्पन्न नहीं होते अपितु व्याधि जब उग्र स्वरूप की होती है तभी उपद्रवों की उत्पत्ति होती है।

x) साध्यासाध्यता में उपद्रव का विशेष महत्व है क्योंकि उपद्रव उत्पन्न होने पर सुखसाध्य व्याधि भी कृच्छ्रसाध्य हो जाती है।

xi) लक्षण भी यदि लम्बे समय (चिरकालानुबन्धी) तक रहें तो उपद्रव में परिवर्तित हो सकते हैं।

xii) आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में एक रोग उत्पन्न हो जाने के बाद दूसरा रोग उत्पन्न होने पर उसे उपद्रव (Complication) कहा जाता है।

xiii) आचार्य वाग्भट्ट पूर्वरूप (Prodromal Signs/Symptoms) एवं उपद्रवों को परतन्त्र व्याधि के अन्तर्गत मानते हैं। जो व्याधि के पहले हो वह पूर्वरूप एवं जो व्याधि उत्पत्ति के बाद उत्पन्न हो वह उपद्रव है[1]।

विभिन्न रोगों के उपद्रव

विभिन्न संहिताओं में आचार्यों द्वारा विभिन्न मुख्य रोगों के उपद्रव निम्नानुसार वर्णित किए गए हैं-

ज्वर—कर्णमूल शोथ, हिक्का, श्वास, पिपासाधिक्य, अतिसार, अग्निमांद्य, कास, मूर्च्छा, अरुचि, छर्दि, विड्ग्रह, अङ्गभेद आदि। (सु.उ. 39/295)

रक्तपित्त—दौर्बल्य, श्वास-कास, ज्वर, क्षवथु, पाण्डु, दाह, मूर्च्छा, विदाह, तृष्णा, पूतिनिष्ठीवन, अन्नद्वेष, हृद्पीड़ा, अतिसार आदि। (सु.उ. 45/9)

अतिसार—शोफ, शूल, ज्वर, तृष्णा, श्वास, कास, अरोचक, छर्दि, हिक्का, मूर्च्छा आदि। (सु.सू. 33/19), (मा.नि. 3/14-19)

पाण्डु—अरुचि, पिपासाधिक्य, छर्दि, ज्वर, शिरःशूल, अग्निसाद, शोथ, कण्ठगत दुर्बलता, मूर्च्छा, क्लम, हृदपीड़ा आदि। (सु.उ. 44/13)

प्रमेह—तृष्णा, अतिसार, दाह, दौर्बल्य, पिड़का, अलजी, विद्रधि, अनिद्रा, आलस्य, क्षवथु, कण्डू, प्रतिश्याय, मक्षिकोपसर्ग आदि। (च.नि. 4/48), (सु.नि. 6/13)

1. द्विधा व्याधात्कथाद् व्याधयोऽन्यथा: पुनर्द्विधा। पूर्वजा: पूर्वरूपाख्या जन्या: पश्चादुपद्रवा: ॥ (अ.हृ.सू. 12/60)

Scanned with CamScanner

जलोदर—प्लीहा, अतिसार, तमकश्वास, तृष्णा, कास, हिक्का, [illegible] मूत्राघात आदि। (च.चि. 13/52-54)

कुष्ठ—प्रस्रवण (पूयस्राव), अंगभेद, अंगों के अवयवों का टूटना गिरना, ज्वर, अतिसार, दाह, दौर्बल्य, अरोचक, अविपाक आदि। (च.नि. 5/11)

उन्माद—अधोमुख (मुख सदा नीचे रहना), ऊर्ध्वमुख (मुख सदा ऊपर रहना), मांस व बल क्षीण होना, आनिद्रा आदि। (सु.सू. 33/25)

अरिष्ट विवेचन

परिभाषा—जिन लक्षणों से रोगी की भावी निश्चयात्मक मृत्यु का ज्ञान होता है उन्हें 'अरिष्ट' या 'रिष्ट' कहा जाता है[1]।

लक्षण[2]—जो बढ़े हुए दोष चिकित्सा के फल को विफल कर सम्पूर्ण लक्षणों के व्यक्त होने के बाद जिन लक्षणों को उत्पन्न करते हैं उन्हें 'अरिष्ट' कहा जाता है। जब दोष अतिमात्रा में कुपित होते हैं तो शरीर निर्माणक पञ्चमहाभूत को विघटित कर देते हैं और रोग को ऐसी भयंकरता उत्पन्न कर देते हैं जिसमें चिकित्सा लाभ ही नहीं करती है। अरिष्ट इन्द्रिय (Sense organs) व्यापार की विकृति से उत्पन्न माने जाते हैं।

आचार्य चरक ने अरिष्ट सम्बन्धी बारह अध्याय युक्त स्वतन्त्र 'इन्द्रिय स्थान' की संरचना की है जो कि वास्तव में आयुर्वेदीय रोग विकृति विज्ञान (Pathology) का स्वरूप ही प्रतीत होता है।

जिस प्रकार उत्पन्न होने वाले फल का पूर्वरूप पुष्प होता है उसी प्रकार मरने वाले मनुष्य के शरीर में 'अरिष्ट' नामक लक्षण पूर्वरूप होता है[3]। इन्द्रिय स्थान (अरिष्ट ज्ञान) का महत्व चिकित्सा में व्याधि के परिणाम (Prognosis) की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

अरिष्ट भेद

आचार्य भट्टार हरिश्चन्द्र ने अरिष्ट के निम्न मुख्य दो भेद वर्णित किए हैं—

(I) अनियत अरिष्ट—ये अरिष्ट अनियमित होते हैं। ये कभी-कभी दैवव्यपाश्रय चिकित्सा (यथा मन्त्र, पूजा, पाठ से) अथवा रसायन चिकित्सा के पूर्ण पूर्वक प्रयोग से टल जाते हैं।

1. नियतमरणलक्षणं लिङ्गमरिष्टम्॥
2. क्रियातिपत्तिलक्षणः केवलं दैवमनुभवः।
   यिद्धं कुर्वन्ति यद्दोषाश्च यद्धिं निघ्नते॥ (च.वि. 1/3)
3. पूर्वं फलस्य पूर्वरूपं यथाऽनर्थस्य भविष्यतः।
   इत्यं लिङ्गमरिष्टानां पूर्वरूपं भविष्यतः॥ (च.इ. 1/4)
4. [illegible] (च.इ. 2/5)

(II) नियत अरिष्ट—नियतमरणलक्षणक होने से ये नियत अरिष्ट कहे जाते हैं। नियत अरिष्ट भी निम्न दो प्रकार के होते हैं[1]—

(अ) पुरुषाश्रित—ये अरिष्ट लक्षण आतुर में पाए जाते हैं। यथा—वर्ण, स्वर, गंध, रस, स्पर्श, पूर्वरूप, रूप, उपद्रव, सत्व, सौख्य, शौच, आकृति, छाया, प्रतिछाया आदि सम्बन्धी लक्षण रूप में।

(ब) पुरुषमनाश्रित—यह अरिष्ट लक्षण आतुर से सम्बन्धित अन्य भावों में पाये जाते हैं। यथा-दूत विषयक, शकुनविषयक, स्वप्नविषयक, पथविषयक आदि।

अरिष्ट के अन्य भेद

i) सद्योमारक

ii) कालान्तरमारक

वस्तुतः रोग एवं रोगी के शरीर में उत्पन्न हुए अरिष्ट लक्षणों को देखते हुए चिकित्सक को स्वविवेक से अरिष्ट सम्बन्धी निर्णय लेना चाहिये।

अरिष्ट व उपद्रव में भेद

अरिष्ट व उपद्रव में निम्न भेद होते हैं—

	अरिष्ट	उपद्रव
1)	अरिष्ट मरण सूचक लक्षण होते हैं, व्याधि नहीं।	1) प्रधान व्याधि के पश्चात उत्तर काल में होने वाले लक्षण ही उपद्रव कहे जाते हैं।
2)	नियत अरिष्ट की चिकित्सा नहीं होती है।	2) प्रधान व्याधि की चिकित्सा से ही उपद्रव भी शान्त हो जाते हैं।
3)	अरिष्ट उत्पन्न होने पर व्याधि को प्रत्याख्येय की असाध्य श्रेणी में रखा जाना चाहिये।	3) सुखसाध्य व्याधि भी उपद्रव उत्पन्न होने पर कृच्छ्र साध्य अथवा असाध्य हो जाती है।

अरिष्ट महत्त्व

चिकित्सक के प्रज्ञापराध के कारण अरिष्ट नहीं होने पर भी अरिष्ट मानना और अरिष्ट होने पर भी अरिष्ट न देख पाना और रोगी की मृत्यु हो जाना संभव है[2]। चिकित्सा में

1. तत्र तु खल्वेषां परीक्ष्याणां कानिचित् पुरुषमनाश्रितानि, कानिचिच्च पुरुषमाश्रयन्ति। तत्र यानि पुरुषमनाश्रितानि तान्युपदेशतो गुणितश्च परीक्षेत, पुरुषमाश्रयाणि पुनः प्रकृतितो विकृतितश्च॥" (च.इ. 1/4)
2. मिथ्यादृश्यरिष्टाधमनरिष्टमजानता।
   अरिष्टं वाऽप्यसमुद्दिश्य प्रज्ञापराधजम्॥ (च.इ. 2/6)

Scanned with CamScanner

साध्यासाध्यता का विशेष महत्व है। आचार्यों ने निर्देश दिया है कि आतुर में जब तक कष्टप्रदता प्राप्त हैं तब तक चिकित्सा करनी चाहिये, किन्तु उग्र व असाध्य रूप में रोगों के बारे में आतुर के निकट सम्बन्धियों को सूचित कर देना चाहिये। रोग की चिकित्सा करने के पूर्व साध्यता व असाध्यता के बारे में निश्चय कर लेना चाहिये। रोग साध्य हो, चिकित्सक को प्रत्यक्ष कर्माभ्यास का ज्ञान हो, तथा चिकित्सा समय पर की जाय तो चिकित्सक को सफलता अवश्य मिलती है। साध्यासाध्यता की दृष्टि से व्याधि चार प्रकार की होती है—

i) सुखसाध्य
ii) कृच्छ्रसाध्य
iii) याप्य
iv) प्रत्याख्येय (अनुपक्रम)

उपर्युक्त में से यदि प्रत्याख्येय व्याधि में अरिष्ट लक्षण उपस्थित हों तो वह रोग असाध्य होता है[1]। अतः बुद्धिमान चिकित्सक को चाहिये कि वह रोगों के साध्य, याप्य एवं असाध्य, अरिष्ट लक्षणों की परीक्षा कर साध्य रोगों में चिकित्सा कर्म शीघ्र प्रारम्भ करें।

विभिन्न रोगों में मुख्य अरिष्ट लक्षण

I) इन्द्रिय विषयक अरिष्ट

i) **वर्ण**—नील, श्याव (Cyanosis), ताम्र, हरित, शुक्ल ये वैकारिक वर्ण हैं[2]। ये वर्ण संक्षिप्त विषाक्तता, मूत्रविषमयता (Uraemia), रक्तविषमयता (Toxaemia), पाण्डु (Anaemia), अर्बुद (Cancer), श्वासावरोध (Respiratory Failure) आदि रोगों से ग्रसित रोगी में देखने को मिलते हैं।

ii) **स्वर**—वैकारिक स्वर भेड़ सदृश्य, ग्रस्त, अव्यक्त, गद्गद्, क्षीण, दीन, अनुकीर्ण होता है[3]। यह स्वरअरिष्ट कुष्ठ, फिरंग, स्वरभेद, राजयक्ष्मा, कण्ठगत अर्बुद (Larynx Cancer), अर्दित, हिक्का, श्वास, उन्माद आदि रोगों में मिलते हैं।

1. क्रियाक्षमव्याधिज्ञानं सर्वज्ञानमुपदिशन्।
दुर्बलस्य मुमूर्षुं व्याधिं ब्रूयादरिष्टमेव च॥ (च.सू. 12/19,20)
2. पित्तवत् प्रायशः पर्यायैर्वर्णं विकारजं स्वलक्षणम्।
पक्षात् कर्ममनाश्यः; कार्यः; सत्यंषु धीमता॥ (च.सू. 10/21)
3. तत्रैतावत्तावदाहीनमुक्तम्—वर्णः; तत्रोदाय वैकारिक भवति, पश्चात्तानुपेक्षणार्थमिदम्, प्रहीनवृत्तान पूर्वोपयान्, इति प्रकृतिविकृतिवर्णं भक्तमुक्तः; सर्वोदय। (च.इ. 1/9)
4. एवरू..... भवति॥ (च.इ. 1/15)

ii) **गन्ध**—आतुर शरीर से विभिन्न पुष्पगन्ध, चन्दन, कुष्ठ, तगर, मधु, मूत्र, माला, शव की गन्ध आना अरिष्ट सूचक है[1]। सुगन्ध को दुर्गन्ध व दुर्गन्ध को सुगन्ध समझना भी अरिष्ट है। यह गन्ध मधुमेह, कोथ या गलन (Gangrene), बद्धगुदोदर (Intestinal obstruction), मूत्रविषमयता, फुफ्फुस विद्रधि (Lung abscess), यकृत्, दन्तरूट आदि रोगों में पायी जाती है।

iv) **रस**—मरणासन्न पुरुष का रस अत्यन्त विरस या अत्यन्त मधुर हो जाता है[1]। विरसता में शरीर पर से मक्खी, मुक्का, मच्छर, डंस (कीट, खटमल) आदि अलग हो जाते हैं। अत्यन्त मधुर शरीर में स्नान पश्चात चन्दन-केसर का लेप करने के बाद भी मक्खियाँ शरीर पर बैठती हैं[2]। यह अरिष्ट मधुमेह, मूत्रविषमयता, रक्तविषमयता आदि रोगों में देखने को मिलता है।

v) **स्पर्श**—स्पर्श से आतुर शरीर की सम्पूर्ण परीक्षा की जाती है। सर्वदा स्पन्दन करने वाले (Carotid artery, Radial artery) अवयवों में स्पन्दन न होना, सर्वदा उष्ण रहने वाले भाग का शीत होना (Peripheral Circulatory Failure), मृदु प्रदेश का दारुण होना आदि अरिष्ट लक्षण हैं[3]। ये लक्षण पक्षाघात, जलह्रास (Dehydration), अवसाद, हृदयाघात (Cardiac Failure), मस्तिष्काघात (Brain Failure) आदि रोगों में देखने को मिलते हैं।

II) पूर्वरूप विषयक अरिष्ट

निम्न रोगों में पूर्व रूपों से विभिन्न असाध्य रोगों का ज्ञान करने में सहायता मिलती है—

i) **ज्वर**—संहिता में वर्णित समस्त या अधिकतर पूर्वरूप जब ज्वर में प्रकट हों तब मृत्यु निश्चित होती है[4]।

1. तद्यथा-चन्दनं कुष्ठं तगरागुरुणी मधु।
मस्त्यं मूत्रपुरीषे च मृताानि कुणपानि च॥
ये चान्ये विविधास्तत्रानं गन्धा विविधयोनयः।
तेऽप्यनेनानुमानेन विज्ञेया विकृतिं गताः॥ (च.इ. 2/13-14)
2. "कश्चिदेवास्यवैस्वर्यमुपपद्यते।
स्वदुत्वमथरसानि विपुलं भजते रसः॥ (च.इ. 2/19)
3. "मक्षिकादीव यूकाश्च दंशाश्च मशकैः सह।
विरसादपसर्पन्ति, जन्तोः कायानुपूर्वशः॥
अल्पदीप्तिकं कायं कालपक्वस्य मक्षिकाः।
अपि स्नानानुलिप्तस्यभृशमाक्रमन्ति सर्वशः॥ (च.इ. 2/21, 22)
4. स्पर्शप्रधान्ये..... भावानुरूपलक्षणेन॥ (च.इ. 3/4)
5. पूर्वरूपाणि सर्वाणि ज्वरेऽस्मान्मरणाय वै। यैर्विनापि विरूपेण मृत्युर्जन्तुः सः॥
अन्यस्यापि च रोगस्य पूर्वरूपाणि यैः सह। विज्ञानेनेन कर्त्तव्यं तस्यापि ज्ञानं ध्रुवम्॥ (च.इ. 5/4-5)

Scanned with CamScanner

ii) राजयक्ष्मा—जिस यक्ष्मा (Tuberculosis) के रोगी का [illegible] है, पीतवर्ण बढ़ता जाता है एवं रोगी स्त्री प्रसङ्ग में अधिक आसक्त [illegible] उसकी यक्ष्मा रोग से मृत्यु हो सकती है[1]।

iii) रक्तपित्त—जो आतुर अपने समीप से ही आकाश को लाल से [illegible] हुये वस्त्र के समान रक्तवर्ण का देखता है वह रक्तपित्त रोग से [illegible] हो जाता है[2]।

iv) गुल्म—जिस गुल्मी के उदर प्रदेश में आटोप, शूल, आध्मान, [illegible] दुर्बलता, नख-मूत्र-पुरीष व नेत्र की विवर्णता (Discolouration) हो वह गुल्मी मृत्यु को प्राप्त हो जाता है[3]।

v) प्रमेह—जिस प्रमेही के शरीर पर स्नान व चन्दन लेप पश्चात भी मक्खियाँ आकर शरीर पर बैठती हैं वह व्यक्ति प्रमेह रोग से मृत्यु को प्राप्त होता है[4]।

vi) कुष्ठ—जिस कुष्ठी के शरीर पर तृण आदि किसी भी वस्तु से थोड़ा भी कठिन स्पर्श मात्र से ही क्षत (Trophic-Ulcers) हो जाय और अधिक [illegible] क्षार प्रयोग से अच्छी चिकित्सा करने पर भी क्षत स्थान न भरे, इसके बाद होने वाला कुष्ठ उस व्यक्ति को मार डालता है[5]।

vii) अपस्मार—जो व्यक्ति जाग्रत अवस्था में अन्धकार न रहने पर भी अन्धकार को देखता है एवं शब्दों के न रहने पर भी अनेक शब्दों को सुनता है तो वह रोगी अपस्मार उत्पन्न होने पर मृत्यु को प्राप्त होता है[6]।

III) रुप (लक्षण) विषयक अरिष्ट

आचार्यों ने निम्न रोगों के अरिष्ट सूचक रुप तथा उपद्रव देखकर चिकित्सा न करने का निर्देश दिया है-

i) जिस रोगी को गम्भीरजा हिक्का तथा रक्तातिसार हो उसे औषध न दें।

ii) किसी भी अन्य रोग से दुर्बल मनुष्य को अजीर्ण तथा अतिसार दोनों रोग एक साथ हों तो उसका जीवित रहना दुर्लभ होता है।

iii) बल व मांस से हीन जिस रोगी को मरणान्त पूर्व ज्वर आता है एवं शुष्क खांसी (Dry Cough) भी हो तो यह शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त होता है[7]।

iv) जिस रोगी का मूत्र तथा पुरीष ग्रथित हो, शरीर में सर्वांगदाहता हो, श्वास व उदर रोग से पीड़ित हो तो यह मृत्यु को प्राप्त होता है[8]।

v) जिस रोगी में शोथ उदर से प्रारंभ होकर हस्तपाद में फैलता है वह मृत्यु को प्राप्त होता है।

vi) जिस व्यक्ति के वक्ष प्रदेश में रहने वाला कफ (Sputum) अति मात्रा में नीला, पीला एवं रक्तमिश्रित वर्णयुक्त सर्वदा विकसित रहता है वह मृत्यु को प्राप्त होता है[9]।

vii) जिस रोगी को शोथ पश्चात् ज्वर या अतिसार हो जाय अथवा ज्वर, अतिसार पश्चात् शोथ हो जाय तो वह मृत्यु को प्राप्त होता है।

viii) जिस व्यक्ति के बल, मांस, विज्ञान, आरोग्य, अङ्गगौ-शक्ति, रक्त शीघ्रता से नष्ट होते है वह मृत्यु को शीघ्र प्राप्त होता है[10]।

IV) स्वप्न विषयक अरिष्ट

स्वप्नों का प्रयोजन स्वस्थ तथा आतुर इन दोनों के लिए भविष्य फल बताने वाला होता है। मनुष्य जब पूर्ण रुप से निद्रा के वशीभूत नहीं रहता तब इंद्रियों के अधिष्ठाता मन की सहायता से सफल या विफल अनेक तरह के स्वप्नों (Dreams) को देखता है[1]। ये स्वप्न दृष्ट, श्रुत, अनुभूत, प्रार्थित, कल्पित, भाविक एवं दोषज भेद से सात तरह के होते हैं[2]। मृत्युकाल में अति बलवान त्रिदोषों से जब मनोवाही स्रोतस् पूर्ण हो जाते हैं तब भयंकर कष्टकारी स्वप्नों की उत्पत्ति होती है[3]। दृष्ट, श्रुत, अनुभूत, प्रार्थित, कल्पित, दिवास्वाप्न, अतिह्रस्वदीर्घ स्वप्न निष्फल रहता है[4]। रात्रि के प्रथम प्रहर का देखा गया स्वप्न अल्पफलदायक एवं प्रातःकाल का स्वप्न जिसे देखकर पुनः शयन न किया जाय महान फलदायक होता है[5]। अरिष्ट सूचक स्वप्न यदि आतुर को दिखें तो उसे मृत्युकारक

---

1. [illegible] ॥ — जीवितं स विमुञ्चति॥ (च.इ. 5/7-9)
2. [illegible] ॥ (च.इ. 5/10,11)
3. [illegible] ॥ (च.इ. 5/12-13)
4. [illegible] ॥ (च.इ. 5/16,17)
5. [illegible] ॥ (च.इ. 5/14, 15)
6. [illegible] ॥ (च.इ. 5/22, 23)
7. [illegible] ॥ (च.इ. 1/7)

1. ज्वरः पीनसिको घोरः शुष्ककासश्च दारुणः। बलमांसविहीनस्य यस्य हेतावपैति सः॥ (च.इ. 6/10)
2. यस्य मूत्रं पुरीषं च ग्रथितं संप्रजायते। विरुग्णस्तो जठरिणः श्वासी च स जीवति॥ (च.इ. 6/11)
3. ऊरुवृक्कोदरमुखः शोफः पीतः सरोहितः। क्रमात् सर्वगतो यस्य दूतं घोषयते॥ (च.इ. 6/15)
4. यस्तं विज्ञानसारोग्य प्रकृतीः मांस शोणितम्। एतानि यस्य क्षीयन्ते क्षिप्रं क्षिप्रं स हन्यते॥ (च.इ. 6/23)
5. नक्तिमुखः पुरुषः सफलस्वप्नफलोदयः। इंदिवेतेन स्वप्नेन स्वप्नान् पश्यन्नरोऽपि॥ (च.इ. 5/42)
6. दृष्टं श्रुतमनुभूतं च प्रार्थितं कल्पितं तथा। भाविकं दोषजं चैव स्वप्नं सप्तविधं विदुः॥ (च.इ. 5/43)
7. मनोवहानां पूर्णत्वाद्दोषैरतिबलैर्विभिः। स्रोतसां दारुणान् स्वप्नान् पश्यतो दारुणे हृदये॥ (च.इ. 5/41)
8. तत्र पञ्चविधं पूर्वमफलं भिषगादिशेत्। दिवास्वप्नमतिह्रस्वं दीर्घं च बुद्धिमान्॥ (च.इ. 5/44)
9. दृष्टं प्रथमयामे च स्वप्नः स्यादल्पफलो भवेत्। न स्वपेत्तं पुनर्दृष्ट्वा स हि स्वप्नः फलप्रदः॥ (च.इ. 5/45)

Scanned with CamScanner

समझना चाहिए एवं स्वस्थ पुरुष को दिखाई दें तो उसे दारुण रोग से पीड़ित होना समझना चाहिए यथा-

1. शिरः प्रदेश पर वंश (बांस), गुल्म, लता की उत्पत्ति दिखना।
2. स्वप्न में सिर के बाल मुण्डित हो जाना।
3. स्वप्न में गिद्ध, उल्लू, कुत्ता, कौआ आदि से घिर कर पराजय स्वीकारना।
4. राक्षस, प्रेत, पिशाच, स्त्री, चाण्डाल, द्रविड़ एवं आन्ध्रक देशवासी से पराजय स्वीकार करना।
5. स्वप्न में स्नेहपान, अभ्यंग, बन्धन, पराजय, सुवर्ण प्राप्ति, वमन, विरेचन आदि देखना।
6. कुएं में गिरना, नदी में बहना या डूबना।
7. चन्द्र, सूर्य, दीप व तारे देखना।

इस प्रकार शास्त्र में संक्षेप में दारुण स्वप्न वर्णित गये हैं[1]।

V) दूत सम्बन्धी अरिष्ट

दूत (Messenger) विषयक विचारों या घटनाओं का विश्लेषण करने से भी अरिष्ट तथा साध्यासाध्यता का ज्ञान प्राप्त होता है। अतः दूत सम्बन्धी अरिष्टों को निम्न तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है-

(i) चिकित्सक की स्थिति विषयक अरिष्ट[2]

- जो दूत चिकित्सक के यज्ञ करते समय या पिण्डदान करते समय आते हैं वे अरिष्ट सूचक हैं।
- जब दूत चिकित्सक को बुलाने आये उस समय चिकित्सक निद्रालीन हो या किसी वस्तु को काट रहा हो तो यह अरिष्ट सूचक है।
- चिकित्सक जब अपने केशों को खोले हुए हो या नग्न अवस्था में हो उस समय दूत के आने पर अरिष्ट सूचक है।

(ii) स्वयं दूत विषयक अरिष्ट[3]

जब दूत दीन-हीन होकर, भयभीत होकर, दौड़कर, घबड़ाकर, मलिन वेष में आये तो आतुर को मरणासन्न समझें। दुश्चरित्र स्त्री, पंगु, अन्धे व नपुंसक दूतों का आना भी अरिष्ट सूचक है। जब दूत गधे या ऊँट की सवारी कर चिकित्सक के पास आये तो यह अरिष्ट सूचक है।

1. चामरेणाहो, स्वप्ने ..... । ..... प्रमुच्यते ॥ (च.इ. 5/28-40)
2. दूतश्चिरी वस्त्रयो ..... । .....तमुपाचरेत् ॥ (च.इ. 12/9-15)
3. दीनभीभूत ..... । .....पुनः ॥ (च.इ. 12/16-25)

(iii) पथ विषयक अरिष्ट[1]

आतुरनिरीक्षणार्थ यात्रा करते समय पथ में निम्न अशुभ लक्षण दिखने पर अरिष्ट समझना चाहिए-

- छींक (क्षवथु), रोदन, लड़खड़ाना, गिरना, खिसकना, चोट लगना, ठोकर लगना, निन्दा का शब्द सुनना, वस्त्र, पगड़ी या दुपट्टे का किसी कांटे या अन्य वस्तुओं में लगकर रुक जाना।
- ध्वज, पताका का गिर जाना।
- बिल्ली, कुत्ता या सर्प के द्वारा रास्ता काटना।
- खाट, आसन, सवारी गाड़ी का उलटा रखे देखना।

VI) आयु सूचक अरिष्ट

चिकित्सक को निम्न अरिष्ट लक्षणों के आधार पर आतुर के मृत्यु काल का अनुमान करना चाहिए-

(i) **एक वर्ष का अरिष्ट**[2]-जिस व्यक्ति को सारे शरीर की ज्योति (कांति) अल्प हो गयी हो अथवा जठराग्नि बिल्कुल मन्द हो गयी हो, रोगी का चित्त चंचल रहता हो, शरीर की छाया सुंदर प्रतीत न हो, मन सदा दुखी रहता हो, कहीं भी किसी भी कार्य में मन न लगता हो, जिस व्यक्ति के द्वारा दी गयी बलि खाने वाले जीव नहीं खाते हों, जो पुरुष अरुन्धती चमक तारे को नहीं देख पाता है, जो व्यक्ति बिना किसी कारण के शोभा, शरीर की पुष्टि और धन-धान्य सूचक रेखा आदि को शरीर में प्राप्त करते हैं, उन सभी का जीवन एक वर्ष के अंत में नष्ट हो सकता है[3]।

(ii) **छह मास का अरिष्ट**[4]—जिस व्यक्ति के भक्ति, स्वभाव, स्मरण शक्ति (Memory), त्याग, बुद्धि एवं बल बिना कारण ही नष्ट हो जाते हैं, जिस व्यक्ति के मस्तक पर सहसा धमनियों का सुंदर जाल दिखाई पड़े, जिस व्यक्ति के ललाट के ऊपर चन्द्रमा की तरह टेढ़ी रेखाओं का समूह दिखाई पड़े, उस व्यक्ति की आयु छह मास में समाप्त हो सकती है।

(iii) **तीन पक्ष (डेढ़ मास) का अरिष्ट**[5]—जिस आतुर के तीव्रता के साथ बल व मांस क्षय हो रहे हों, तीव्रता के साथ रोग वृद्धि हो रही हो, आतुर अरोचक से पीड़ित हो तो वह व्यक्ति तीन पक्ष ($1\frac{1}{2}$ मास) में ही मृत्यु को प्राप्त होता है।

1. "अश्रुतमधोत्कुष्टं ..... । .....तदात्वं विद्यादरिष्टम् ॥ (च.इ. 12/26-31)
2. अपुञ्जभेतिरनेकाग्रो दुरछाये दुर्मनाः सदा । रात्रौ न तपतो पश्यति परलैकं नक्षत्रम् ॥ (च.इ. 11/3)
3. भक्तिः भक्तिमृतो ..... । .....तस्य जीवितम् ॥ (च.इ. 11/4-6)
4. पक्तिः शीलं ..... । .....समादिशेत् ॥ (च.इ. 11/7-9)
5. बलमांसक्षयवतीव्रो रोगवृद्धिरोचकः । यस्यातुरस्य लक्ष्यन्ते त्रीन् पक्षान् स जीवति ॥ (च.इ. 9/22)

Scanned with CamScanner

(iv) **एक मास का अरिष्ट**[1]—जिस आतुर का शरीर बिना कारण ही [illegible] हो, मूर्च्छा होती हो, चलना-फिरना-बोलना सहसाछोड़ पुरुष [illegible] जिस का हाथ-पैर-मुख विशेष रूप से शुष्क हो गये हों व भाषण [illegible] स्वाभाविक हो, ललाट व नासिका के ऊपरी भाग में चन्द्रमा की [illegible] रेखायें प्रतीत हों वह व्यक्ति एक मास में ही मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।

(v) **अर्धमास का अरिष्ट**[2]—जिस पुरुष के शरीर पर स्नान कर चन्दन लेपन के बाद सबसे पहले छाती (वक्ष) का भाग सूख जाता है व शरीर का अन्य भाग गीला रहता है तो वह पुरुष पन्द्रह दिन (एक पक्ष) तक ही जीवित रह सकता है।

(vi) **सद्योमरणीय अरिष्ट**—शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त होने वाले मनुष्य में निम्न लक्षण देखने को मिलते हैं। शीघ्र या सद्यः से यहाँ 3 दिन या 7 दिन लिया जाता है।

- जिसके हृदय में बहुत बड़ी वाताष्ठीला तृष्णा के साथ उत्पन्न हो गयी हो।
- जिसके शरीर में चलायमान वायु पिण्डिलियों को शिथिल कर एवं नासिका को टेढ़ाकर शरीर में चलती है।
- जिस पुरुष की भौंहें अपने स्थान से च्युत हो गयी हों, शरीर के भीतरी भागों में भयंकर दाह हो रहा हो एवं साथ ही हिक्का उत्पन्न हो जाये[3]।
- जिसका सारा शरीर वात प्रकृति से व्याप्त हो, मल पतला हो, खासज शोथ हो, वह शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त होता है[4]।
- किसी भी रोग से पीड़ित रोगियों में तृष्णा, श्वास, शिरोरोग, मूर्च्छा, दुर्बलता, कण्ठकूजन, पतला मल हो जाय तो वह शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त होता है[5]।
- जिस व्यक्ति के शरीर में प्रवाल की तरह लाल मसूरिकायें उत्पन्न हो जायें वह शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त होता है[6]।

VII) आहार विषयक अरिष्ट

चिकित्सक द्वारा उत्तम रीति से निर्मित किए गए आहार द्रव्यों का प्रयोग करने से व्याधि में कोई लाभ प्रतीत न हो तो रोगी का जीवित रहना दुर्लभ है[7]।

1. i) [illegible] ii) [illegible] ..... जीवितुमर्हति॥ (च.इ. 12/12)
2. [illegible] ..... न जीवति॥ (च.इ. 12/5)
3. [illegible] ..... जीवितम्॥ (च.इ. 10/4-6)
4. आतुरं मारुतेनैव शरीरं व्याप्य केवलम्। भिन्न पुरीषं तृष्णा च सद्यो जह्यात् स जीवितम्॥ (च.इ. 12/14)
5. तृष्णा [illegible] प्राणाग्रहश्चास्य शकृद्भेदेन चातुरः॥ (च.इ. 12/23)
6. प्रवालपुटिकाभाश्च यस्य गात्रे मसूरिकाः। दलयन्ति विदह्यन्ति न चिरात् स विनश्यति॥ (च.इ. 12/14)
7. अन्नद्रव्यगुणज्ञानं भिषजा मुक्तसंशयम्। यः पथ्यं तस्य नाप्नोति दुर्लभं तस्य जीवितम्॥ (च.इ. 12/8)

VIII) औषध विषयक अरिष्ट

चिकित्सक जिस आतुर का उद्देश्य लेकर औषधि परिश्रम से बनाना चाहता है या औषध का प्रयोग प्रयत्नपूर्वक करना चाहता है, पर कर न सकता हो तो उस आतुर का जीवित रहना दुर्लभ है[1]।

- जो औषधि अनेक बार प्रयोग करने पर सफल सिद्ध हुयी हो, विधि सम्मत उसका निर्माण व प्रयोग किया गया हो, पर वह आतुर के रोगनाशन में सफल सिद्ध न हो तो उसका जीवित रहना मुश्किल है[2]।

IX) मूत्र-पुरीष व शुक्र विषयक अरिष्ट[3]

जिस पुरुष का मूत्र, पुरीष व शुक्र जल में डालने पर डूब जावे एवं वह व्यक्ति अपने परिवार, हितैषी, मित्र वर्गों से द्वेष करता हो तो वह मृत्यु रूपी जल में डूब जाता है।

1. चतुश्चिकित्सं वैद्यः शंसत्यौषधसाधनम्। यत्नवानपि न शक्नोति दुर्लभं तस्य जीवितम्॥ (च.इ. 12/6)
2. भिन्नं बहुशः सिद्धं विधिवच्चावतारितम्। न सिध्यत्यौषधं यस्य चातुरं तस्य चिकित्सितम्॥ (च.इ. 12/7)
3. लोमपूरपुरीषाणि यस्य मज्जन्ति चाम्भसि। स मासात् स्वजनद्वेषी मृत्युवशमिति व्यवसेत्॥ (च.इ. 11/11)

Scanned with CamScanner

चतुर्दश अध्याय

चिकित्सा में सहायक अंङ्ग

चिकित्सा ज्ञान के पूर्व चिकित्सा के सहायक अंगों का ज्ञान भी परम आवश्यक है। चिकित्सा के मुख्य सहायक अंग निम्न हैं-

1. व्याधिक्षमत्व व शारीरिक बल
2. विकार अनुत्पत्तिकर एवं विकार प्रशमन चिकित्सा
3. औषध सेवन सम्बन्धी नियम
4. अनुपान विवेचन
5. पथ्य एवं अष्टविध आहार विशेषायतन
6. अपथ्य व वैरोधिक आहार-विहार
7. आत्यधिक आयुर्वेदीय औषध योग
8. आदर्श ऋतुचर्या पञ्चक

उपर्युक्त वर्णित चिकित्सा में सहायक अंगों का क्रमशः वर्णन निम्नानुसार है-

1. व्याधिक्षमत्व या व्याधि प्रत्यनीक क्षमता
(Body Resistance /Immunity)

व्याधिक्षमत्व शरीर की उस विशिष्ट शक्ति को कहते हैं जो व्याधि के बल को घटाती है एवं व्याधि को उत्पन्न होने से रोकती है। शरीर में रोगोत्पत्ति की प्रतिबंधक शक्ति को व्याधि प्रत्यनीक क्षमता कहते हैं[1]।

व्याधिक्षमत्व चिकित्सा का मुख्य फल है। प्रायः देखा जाता है कि-

1. बहुत से रोगी साधन हीन होते हुए भी बिना किसी चिकित्सा के ही स्वस्थ हो जाते हैं तथा बहुत से साधन सम्पन्न रोगी उत्तम चिकित्सा से भी ठीक नहीं होते एवं मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं[2]।
2. जहाँ पर महामारी फैलती है उस स्थान पर जीवाणुओं का प्रकोप होने से जल, वायु आदि सामान्य भाव दूषित हो जाते हैं। उन दूषित भावों के सेवन

1 व्याधिक्षमत्वं व्याधित्वकरं रोगोत्पादं व्याधुत्पादप्रतिबन्धबलमित्याहुः आचार्याः। (च.सू. 28/6 पर चक्रपाणि)
2 यथा प्रतिकुर्वन् भिषग्जितं, प्रतिकुर्वन् भिषग्, अप्रतिकुर्वन् भिषज्यति, अप्रतिकुर्वन् भिषजः। (च.सू. 12/4)

से वहाँ के कुछ निवासी रोगाक्रान्त हो जाते हैं सभी नहीं, कुछ की थोड़ी सी मृत्यु हो जाती है एवं कुछ ठीक हो जाते हैं[1]।

इसके अतिरिक्त रोग का न होना, मृदु या दारुण होना, शीघ्र गम्भीर रूप धारण कर लेना या चिरकारी (Chronic) होना आदि भी इस बात पर निर्भर करते हैं कि दूष्य दोषों से शारीरस्थ धातुयें कितनी मात्रा में दूषित हुई हैं[2]।

इन बातों को ध्यान में रखने पर निम्न तथ्य सामने आते हैं-

1. रोगी के रोग को दूर करने की एक स्वाभाविक रोग प्रतिरोधक शक्ति होती है जिसे 'बल', 'व्याधिप्रत्यनीक बल' या 'विकारविघातपत्व' कहते हैं।
2. ऊसर भूमि में बोये हुये बीज की भाँति शरीर की रोग प्रतिरोधक शक्ति के कारण रोगों के बीज इस शक्ति के द्वारा देह में नष्ट कर दिए जाते हैं जिससे रोग उत्पन्न नहीं होता।
3. इस शक्ति की प्रबलता या निर्बलता तथा रोगों के कारणों के बलाबल के अनुसार रोग, मृदु, दारुण, घातक या चिरकारी रूप धारण कर लेता है।
4. शरीर की आरोग्यता इसी रोग प्रतिरोधक शक्ति या बल पर निर्भर करती है[3]।
5. रक्षित बल ही व्याधि बल को नष्ट करता है अतः इसकी सदैव रक्षा करनी चाहिए। जिसका बल नष्ट हो जाये वह रोगी अचिकित्स्य होता है[4]।

आधुनिक चिकित्सा शास्त्र में इस शारीरिक शक्ति को "Body Resistance" या "Immunity" कहा जाता है।

ओज एवं व्याधि क्षमत्व

यदि व्याधि क्षमता के लिये शरीर में उपस्थित ओज को ही उत्तरदायी माना जाए तो आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की कसौटी पर यह तथ्य प्रमाणिकता लिये हुये सत्य सिद्ध होता है यथा-

"This immunity, however depends on antibacterial qualities not only of the blood, but also on that of tissues, the intercellular fluids, lymph & so for the defence comes into play in the order of tissues, lymphatic system, blood stream & finally Reticuloendothelial system."

आचार्य हेमाद्रि ने लिखा है कि 'ओज' शब्द शरीरस्थ धातुओं के तेज रस (Lymph), जीवशोणित (Blood), एवं प्राकृत श्लेष्मा के अर्थ में प्रयुक्त होता है[5]।

1 अविज्ञातोपघातानां पुनः कारणतो: (निमित्ततश्च) प्रतिबन्धकाद्धेतोः-चक्रदत्त)
न सर्वोपघातात् भवत्यपघातः॥ (च.सू. 28/6)
2 इह खलु निदानदोषदूष्य विशेषेभ्यो विकारविशेषाणां व्याधिविशेषो भवति। (च.वि. 4/4)
3 व्याधिक्षमत्वयोगेषु। (च.चि. 3/343)
4 यो हरेत् बलं व्याधि नरस्य नित्यं सहजितं व्याधिबलं निहन्ति। (सु.चि. 18/3)
5 व्याधेर्बलं च बलं यस्य बलवतो सकलव्याधिक्षमत्वम्। (सु.सू. 15/31)
धातूनां तैजसो रसो तथा ओजश्चोच्यते प्राकृतो श्लेष्मा च पर्यायैः शब्द प्रकीर्तितः। (च.सू. 11/17)

Scanned with CamScanner

आचार्य भेल ने जिन 12 ओज के स्थानों की गणना की है (रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र, शुक्त, स्वेद, पित्त, श्लेष्मा, मूत्र तथा पुरीष) उनमें [illegible] श्लेष्मल कलाओं (Mucous membrane) को आर्द्र रखने वाले रस, [illegible] स्राव तथा मल-मूत्र-स्वेदादि सभी में जीवाणुनाशक (Bacteriolytic) [illegible] जिन्हें आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की भाषा में Lysozymes कहते हैं। ओज [illegible] प्रकार का होता है-

1) पर ओज-(अष्ट बिंदु प्रमाण)-हृदयाश्रित

2) अपर ओज-(अर्धांजलि प्रमाण)-सर्वशरीर में व्याप्त

पर ओज के क्षय होने पर मृत्यु हो जाती है तथा अपर ओज की क्षीणता में मनुष्य भयभीत एवं चिंताकुर हो जाता है। उसकी इन्द्रियां एवं मन पीड़ित व अक्षम हो जाते हैं। शरीर की प्रभा नष्ट हो जाती है[1]। वह व्यक्ति व्याधि का वेग रोकने में असमर्थ रहता है। आधुनिक विद्वानों नें अपर ओज को Glycogen तथा पर ओज को Pitullary gland के Hormone माना है। हिताहार-विहार, रसायन सेवन व सदाचार से ओज की सदा रक्षा करनी चाहिये।

व्याधि-क्षमत्व या बल के प्रकार

शारीरिक बल निम्न तीन प्रकार का माना गया है[2]—

1) सहज (Natural)

2) युक्तिकृत (Acquired)

3) कालज (Periodic)

1. सहज बल[3]

शरीर एवं मन का वह प्राकृत बल जो जाति या व्यक्ति के जन्म (अनुवंशिक पारम्परा) से प्राप्त होता है किसी युक्ति या कारण की अपेक्षा नहीं करता वह 'सहज बल' कहलाता है।

2. युक्तिकृत बल[4]

हिताहार सेवन, हित विहार सेवन तथा ओजस्कर रसायन एवं वाजीकरण औषधियों के प्रयोग से उत्पन्न बल 'युक्तिकृत बल' कहलाता है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में विभिन्न रोगों की कृत्रिम क्षमता उत्पन्न करने के लिये वेक्सीन (Vaccine) तथा सीरम (Serum) का प्रयोग किया जाता है। वह भी 'युक्ति कृत' बल ही होता है। [illegible] में सिद्धान्त रूपेण इस कर्म का ज्ञान था। हानिकर द्रव्यों के शनैः शनैः अभ्यास

1. विषेणेव दुर्बलोऽतीक्ष्णं व्याधिं व्याधितोऽदिशः। (च.सू. [illegible])
दुष्टाय दुर्बलं रक्षः क्षयवृद्धीक्षणः यथे। (च.सू. [illegible])
2. त्रिविधं बलमाहारं सात्म्यं, कालजं, युक्तिकृतं च। (च.सू. [illegible])
3. सात्म्यं सत्त्वशरीरयोः प्राकृतं, कालकृतमृतुविभागजं वयःकृतं च। (च.सू. [illegible])
4. युक्तिकृतं पुनरन्नपानादिसंयोगसंस्कारम्।

पुनः उस द्रव्य से हानि न होने का उपदेश आचार्य चरक व आचार्य वाग्भट्ट दोनों ने किया है[1]।

3. कालज बल

यह बल जो ऋतु एवं आयु के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति में घटता या बढ़ता रहता है 'कालज बल' कहलाता है। यथा-आदान काल में शारीरिक बल स्वभावतः घटता है तथा विसर्ग काल में स्वभावतः बढ़ता है। इसी प्रकार युवावस्था व बलवयस्था में बल अधिक होता है तथा वृद्धावस्था में बल क्रमशः क्षीण होता जाता है।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में बल को Immunity कहा जाता है तथा इसके निम्न तीन प्रकार बताये गये हैं—

1. स्वाभाविक क्षमता (Natural Immunity)
2. रोगज क्षमता (Acquired Immunity)
3. युक्तिकृत क्षमता (Artificial Immunity)

1. स्वाभाविक क्षमता (Natural Immunity)

मनुष्य के शरीर में स्वाभाविक रूप से उपस्थित रोग प्रतिरोधक क्षमता को स्वाभाविक या Natural Immunity कहते हैं। जब यह स्वाभाविक क्षमता कम हो जाती है तब मनुष्य रोगाक्रान्त होने लगता है। रक्त में उपस्थित Leucocytes (W.B.Cs.) एवं Reticuloendothelial System (R.E. System) इसके लिये उत्तरदायी हैं।

शरीर में रोगों की उत्पत्ति करने वाले जीवाणुओं एवं उनके विषों (Antitoxin/ Antigen) के भक्षण का कार्य W.B.Cs. करते हैं। इस भक्षण क्रिया को Phagocytosis कहते हैं। W.B.Cs. द्वारा जीवाणुओं एवं उनके विषों को यह भक्षण क्रिया ही व्याधि क्षमता का प्रमुख आधार है।

शरीर की प्रतिरोधक क्षमता बढ़ाने के लिये जीवनीय तत्वों से युक्त आहार, शुद्ध वायु का सेवन एवं स्वस्थवृत्त के नियमों का पालन करना आवश्यक है।

Leucocytes के अतिरिक्त Lymphocytes भी जीवाणु प्रतिरोध का कार्य करते हैं। इनकी उत्पत्ति Lymph glands, Tonsills तथा Spleen में होती है। Blood के Plasma में भी जीवाणुओं के संहार करने के लिये कुछ विशिष्ट द्रव्य पाये जाते हैं जिन्हें Bacteriolysins कहते हैं।

Blood में जीवाणु प्रवेश होने पर Agglutin नामक द्रव्य उत्पन्न होते हैं जो कि जीवाणु को गति शून्य कर आपस में चिपका देते हैं। यह क्षमता Blood की Agglutinating

1. i) तथाविधेषु द्रव्येषु पूर्वाभिसंस्कारः प्रत्ययतेति। (च.सू. 26/104)
ii) तदुपशमायैव शरीरमुपसृष्टम्। (अ.ह.सू. 22/5)

Scanned with CamScanner

Power कहलाती है। यह भी रोग प्रतिरोध करने का कार्य करती है। [illegible] Body के शरीर में प्रविष्ट होने पर उसको निष्क्रिय करने के लिये [illegible] बनती है जो कि उस Antigen (Foreign body) को नष्ट कर देती है। [illegible] शरीर का बचाव तंत्र (Defence System) शरीर की विभिन्न रोगों से [illegible] करता है।

2. रोगज क्षमता (Acquired Immunity)

किसी रोग से आक्रान्त होने के पश्चात रोग मुक्त होने पर उस रोग के [illegible] संहार की शक्ति शरीर में स्वयमेव ही उत्पन्न हो जाती है। एक बार रोग हो जाने के [illegible] व्यक्ति दोबारा उस रोग से पीड़ित नहीं होता यथा-मसूरिका। इसे रोगज या "Acquired Immunity" कहते हैं।

प्रत्येक जीवाणु के लिये Leucocytes तो एक ही होते हैं किन्तु कल्पन (Opsonin), जीवाणु सूदन (Bacteriolysin), प्रतिविष (Antitoxin) तथा समक्षन (Agglutin) भिन्न-भिन्न होते हैं। शरीर पर जीवाणु जन्य किसी रोग का आक्रमण होने पर उसके प्रतिकारार्थ शरीर में यथोचित कल्पन प्रभृति द्रव्यों तथा Leucocytes की अधिकाधिक उत्पत्ति होती है। रोग का आक्रमण यदि घातक सिद्ध हुआ तो शरीर की क्षमता कम समझना चाहिये एवं यदि रोग का नाश होकर शरीर रक्षित रहा तो शरीर की प्रतिरक्षण क्षमता बलवती समझनी चाहिये एवं रोगोत्पादक जीवाणु पर प्रतिरक्षण क्षमता की विद्यमान जानना चाहिये।

रोगोत्पादक जीवाणुओं का नाश होने पर शरीर में विशिष्ट रोग प्रतिरोधक शक्ति बनती है जो कि दीर्घ काल तक बनी रहती है। यथा-मसूरिका, आंत्रिक ज्वर आदि का आक्रमण एक बार हो जाने पर पुनराक्रमण शीघ्र नहीं होता। इसका कारण रोगज क्षमता व Acquired Immunity है।

3. युक्तिकृत क्षमता (Artificial Immunity)

स्वाभाविक क्षमता के अतिरिक्त कृत्रिम उपायों से भी शरीर में क्षमता उत्पन्न की जाती है। यथा- विशिष्ट प्रकार के जीवाणुओं का Vaccine बनाकर टीका लगाना। किसी विशिष्ट जाति के जीवाणु अथवा उसके विष क्रमोत्तर बढ़ती मात्रा में सूची वेध द्वारा शरीर में प्रविष्ट किये जाते हैं। फलतः उनके रस (Lymph) एवं रक्त (Blood) में उस जीवाणु के विष (Toxin) का प्रतिविष (Antitoxin) उत्पन्न हो जाता है इनको एकत्र निकालकर उसकी लसीका (Serum) का संग्रह कर रख लिया जाता है तथा अन्यत्र रोग के प्रतिषेधार्थ (Prophylactic) तथा आगत रोग के प्रतिकारार्थ (Curative) इसका सूचीवेध (Injection) दिया जाता है। इसे Serum therapy कहते हैं।

इसी प्रकार मसूरिका के उन्मूलन के लिये गोमसूरिका से आक्रान्त बछड़ों के [illegible]

के शरीर का सूचीवेध (Injection) दिया जाता है, इसे Vaccination कहते हैं। इस प्रकार के माध्यम से जीवाणुओं को स्वस्थ शरीर में प्रविष्ट कराया जाता है जिससे शरीर उनके प्रति (Anti-body) बन जाती हैं एवं रोग का आक्रमण नहीं हो पाता है।

युक्तिकृत विशेष क्षमता की अपेक्षा रोगज क्षमता अधिक स्थायी है। संक्रामक रोग के प्रसार के समय युक्तिकृत क्षमता को उत्पन्न करना श्रेयस्कर है। ऐसा प्रतीत होता है कि श्वेत रक्त कोशाओं (W.B.Cs.) के द्वारा रोगों को रोकने की शक्ति को ही प्राचीन आचार्य ने 'प्राकृत श्लेष्मा' या 'ओज' या 'बल' कहा है।

व्याधि क्षमित्व के ह्रास का कारण

शरीर का निर्माण चार प्रकार के अंशों, पेशी, मेद, सिरा एवं धमनियों अस्थि द्रव्यों से होता है एवं इन्हीं के अहितकर प्रयोग से रोग उत्पन्न होता है[1]। अहितकर आहार व प्रयोग शीघ्र ही दोषकारी नहीं होता, क्योंकि समस्त अन्नपान आहार मुख्य दोष वाले नहीं होते, सभी दोष भी समान बल वाले नहीं होते तथा सभी शरीर भी समान व्याधिक्षमत्व वाले नहीं होते। वही अपथ्य देश, काल, संयोग, शौर्य, ज्ञान एवं अतियोग से युक्त अपथ्य हो जाता है।

जिन व्यक्तियों का शरीर अति स्थूल या अतिकृश होता है, जिनके शरीर में मांस रक्त एवं अस्थियां सुसंगठित नहीं होतीं, जो दुर्बल होते हैं, जिनका शरीर अहितकर आहार-विहार से पोषित होता है एवं जो अल्प सत्व व अल्पसारों हों, उनका शरीर व्याधि क्षमता से हीन होता है। ये साधारण परिस्थितियों से भी शरीर की रक्षा नहीं कर पाते व रोगाक्रान्त हो जाते हैं[2]।

व्याधिक्षमत्व वर्धक उपाय

1. सात्म्य सेवन (जो शरीर को हितकर हो) से व्याधिक्षमत्व बढ़ता है।
2. सर्वरसाभ्यास से उत्तम बलप्राप्ति होती है[3]।
3. उत्तम जीवनीय द्रव्यों का सेवन, शुद्ध वायु का सेवन, सद्वृत्त पालन आदि से भी शारीरिक बल बढ़ता है।
4. जिन्हें घृत, दूध, मांसरस एवं षड्रस सात्म्य हो उनमें उत्तम बल होता है तथा वे क्लेश सहने में समर्थ व चिरायु होते हैं[4]।
5. जो नातिस्थूल, नातिकृश हों, रक्त, मांस अस्थियां समप्रमाण में हों, जो सबल शरीर का स्वामी हो, शरीर का पोषण हितकर एवं पौष्टिक आहार से हुआ हो,

---

1. आहारसंभवं वस्तु रोगाश्चाहारसंभवाः। (च.सू. 28/45)
2. अहितोपचितैर्गात्रैः पुनः..... भवत्यव्याधिभक्षतिः। (च.सू. 28/6)
3. सर्वरसाभ्यासो बलकराणाम्। (च.सू. 25/40)
4. घृतदुग्धमांसरसभक्षाणां रक्षक्षमाणाम्। (च.सू. 25/40)

Scanned with CamScanner

जिसके आहार की मात्रा शरीर के अनुपात से समृद्ध हो एवं [illegible] व्यक्ति हो, ऐसे व्यक्तियों का शरीर 'व्याधिक्षम' होता है एवं [illegible] रोग प्रतिरोधक क्षमता उत्तम होती है[1]।

2. विकार अनुत्पत्तिकर एवं विकार प्रशमन चिकित्सा

(अ) विकार अनुत्पत्तिकर चिकित्सा

विकार अनुत्पत्तिकर चिकित्सा से तात्पर्य है विकार या रोग को उत्पन्न ही न होने देना। विकार प्रशमन चिकित्सा में उत्पन्न हुये विकार को युक्ति पूर्वक शमन करते हैं जैसा कि सूत्र में भी वर्णित किया गया है कि आयुर्वेद शास्त्र व चिकित्सा के मुख्य दो प्रयोजन हैं—

(i) स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा करना।

(ii) आतुर या रोगी में उत्पन्न हुये विकार का प्रशमन करना।

प्रथम प्रयोजन 'स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणम' की पूर्ति के लिये आचार्य चरक ने सूत्र स्थान में 'स्वस्थचतुष्क' नामक चार अध्यायों का वर्णन किया है। यही 'स्वस्थवृत्त' भी है। स्वस्थवृत्त में कहे गये नियमों का पालन करने एवं दिनचर्या-रात्रिचर्या-ऋतुचर्या आदि का पालन करने से रोग के उत्पन्न होने की संभावना बिल्कुल क्षीण हो जाती है। यही आयुर्वेद की 'विकार अनुत्पत्तिकर' चिकित्सा है जिसका अर्थ है-विकार को उत्पन्न ही न होने देना।

आचार्य सुश्रुत ने चिकित्सा स्थान के 24वें अध्याय में 'अनागताबाधाप्रतिषेध' के रूप में इसी विकार अनुत्पत्तिकर चिकित्सा का अप्रत्यक्षतः वर्णन किया है। अर्थात् जो दुःख या बाधा अभी उत्पन्न नहीं हुआ है, परन्तु भविष्य में जिसके उत्पन्न होने की संभावना है उसका प्रतिषेध "अनागत बाधाप्रतिषेध" कहलाता है। इसमें 'स्वस्थवृत्त' का सम्पूर्ण वर्णन प्राप्त होता है।

जिस प्रकार नगरी (नगर रक्षक) नगर की रक्षा में तथा रथी (सारथी) रथ की रक्षा में सदा सावधान रहता है वैसे ही बुद्धिमान मनुष्य को अपने शरीर की क्रियाओं के प्रति सदैव सावधान रहना चाहिये[2]। यहाँ पर नगर का उदाहरण शरीर को आभ्यन्तर दोषों (कुपित दोष-दूष्यादि) से बचाने और रथ का उदाहरण शरीर को बाह्य दोषों (विरुद्ध आहार-विहारादि) से बचाने की ओर संकेत करते हैं।

1. समधातोरनाबाधः समाग्निश्च नरः। दृढेन्द्रियश्च विज्ञेयो न यत्नेनाभिपूजितः॥
धृतिश्चात्मवत्त्वम्, शीलसम्पन्नसंग्रहः। अनवज्ञा समवरः; समर्यादश्च गतः॥ (च सू 21/18-19)
2. प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनं च॥ (च सू 30/26)
3. अथातः स्वस्थातुरपरायणं व्याख्यास्यामः॥ (सु सू 24/1)
4. कार्यकालमतीत्यैव रक्षी यत्नः। त्यजतीश्वरं हि रथी यत्नः कृतोऽप्यफलाय भवति॥ (च सू 8/20)

विकार अनुत्पत्तिकर चिकित्सा के अन्तर्गत निम्न बिन्दु सम्मिलित किये जाते हैं[1] जिनके सम्यक् पालन से मनुष्य निरोगी एवं स्वस्थ रह सकता है-

(i) आदर्श दिनचर्या
(ii) आदर्श रात्रिचर्या
(iii) आदर्श ऋतुचर्या
(iv) अन्य चर्या व सद्वृत्त-सदाचार सेवन

I) **आदर्श दिनचर्या**—निम्न नियमों का नियमपूर्वक पालन 'आदर्श दिनचर्या' के अन्तर्गत अपेक्षित होता है—

1. प्रातःकाल ब्रह्ममुहूर्त्त में उठना।
2. उठकर ही करतल (हस्त) की रेखाओं का दर्शन करना।
3. दैनिक नित्यकर्म (मल-मूत्र त्याग) करें।
4. दन्तधावन या दातौन करें।
5. जिह्वा निर्लेखिनी से जिह्वा स्वच्छ करें।
6. यथोचित अंजन, धूमपान (प्रायोगिक), नस्य कर्म करें।
7. मुख में सुगन्धित द्रव्य (एला, लवंग, जावित्री, पूग) व ताम्बूल धारण करें।
8. गण्डूष-कवल का प्रयोग करें।
9. यथोशक्ति व्यायाम व योगाभ्यास करें।
10. प्राणायाम का अभ्यास करें।
11. अभ्यंग (तैलमर्दन), कर्णपूरण, मूर्ध तैल धारण करें।
12. शरीर मार्जन, स्नान, अनुलेप स्वच्छवस्त्र धारण करें व देवोऽर्चन-पूजन करें।
13. माला-रत्न-आभूषण धारण करें।
14. यथाकाल क्षौरकर्म (केश-नख-श्मश्रु कर्तन करना) करें।
15. पादत्र-जूते, छाता व दण्ड धारण करें।
16. लघु व अनुकूल आहार एवं जल ग्रहण कर जीविकोपार्जन करें।

इस तरह मर्यादित दिनचर्या का पालन करने से व्यक्ति स्वस्थ रहता है एवं रोगों से बचा रहता है।

II) **आदर्श रात्रिचर्या**

1. संध्याकाल में नित्य दैनिक कर्मों से निपटकर आहार ग्रहण करें।
2. आहार रात्रि के प्रथम प्रहर में (निद्रा से 3 घण्टे पहले) ही लें।
3. रात्रिकालीन भोजन दिन के आहार की अपेक्षा लघु, अल्प एवं सुपाच्य होना चाहिये।

1. सुश्रुत संहिता चिकित्सा स्थान अध्याय-24, चरक संहिता सूत्र स्थान अध्याय-5,6,7,8, एवं अष्टांग हृदय सूत्रस्थान अध्याय 2,3

Scanned with CamScanner

4. रात्रि में दधि का सेवन न करें।
5. आहार के पश्चात् दूध ग्रहण करें।
6. शयन से पूर्व व आहार ग्रहण के पश्चात् शतपदम् (सौ कदम) चलें।
7. शयन से पूर्व दिन में किये गये कार्यों की समीक्षा कर अगले दिन किये जाने वाले कार्यों की रूप-रेखा तैयार करें।
8. सुखप्रद आसन या शय्या पर शयन करें।
9. आयुर्वेदीय ग्रन्थ 'काकचंडीश्वर कल्प तन्त्र' में कहा गया है कि रात्रि के प्रथम प्रहर में पानी पीना शरीर के लिये विष के समान हानिप्रद होता है। मध्य-रात्रि में पानी पीना दूध के समान लाभप्रद होता है। प्रातःकाल (सूर्योदय से पहले) पिया गया जल मां के दुग्ध के समान शरीर को लाभ देता है।

जो मनुष्य हितकर आहार-विहार का सेवन करता है, विचार पूर्वक समस्त कर्मों को सम्पादित करता है, विषय-वासनाओं से दूर रहता है, दानी-शान्त प्रिय-सत्यपरायण-क्षमाशील तथा आप्त पुरुषों के वचनों का अनुसरण करने वाला होता है वह सदा निरोगी रहता है[1]।

iii) आदर्श ऋतुचर्या

विकार अनुत्पत्तिकर चिकित्सा में दिनचर्या एवं रात्रिचर्या के समान ही ऋतुचर्या का भी महत्त्व है। स्वस्यवृत्त में प्रत्येक ऋतु के नियम, आहार, विहार का वर्णन मिलता है। दो मास की एक ऋतु होती है एवं छह ऋतुओं का एक वर्ष (संवत्सर) होता है। एक वर्ष को सूर्य गति अनुसार आदानकाल व विसर्गकाल में बाँटा जाता है[2]—

(i) आदानकाल

आदानकाल में सूर्य उत्तरायण व आग्नेय होता है। इसमें शिशिर-वसन्त-ग्रीष्म ऋतुयें सम्मिलित की जाती हैं जो सामान्यतया 21 दिसम्बर से 21 जून तक के बीच का काल होता है। इस काल में क्रमशः तिक्त, कषाय एवं कटु रस की वृद्धि होती है, मनुष्यों में यथाक्रम स्वाभाविक रूप से दौर्बल्य (Low Immunity) की प्राप्ति होती है।

1. नवे हिताहारविहारसेवी समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्तः। दाता समः सत्यपरः क्षमावानाप्तोपसेवी च भवत्यरोगः। (च.सू. 7/46)
2. i) इह खलु संवत्सरं षड्ङ्गमृतुविभागेन विद्यात्। तत्रादित्यस्यैवंगतयो भवन्ति यासां वशात् षडृतवो भवन्ति, यथोक्तेन पुनर्हीनाधिकान् दक्षिणापवं विसर्गं च॥ (च.सू. 6/4)
ii) आदाने च दौर्बल्यं विसर्गे बलसंग्रहम्। मध्ये मध्यबलं स्वस्थे श्रेष्ठमाहुर्बलं च निर्दिशेत्। (च.सू. 6/5)
iii) मार्गशीर्षादिष्वर्केन्दोर्भागैः क्रमात् षड्गुणैः स्मृताः। शिशिरोऽथ वसन्तश्च ग्रीष्मो वर्षाः शरत्तथा॥
हेमन्तशिशिरौ तिक्तकषायमधुरान्वितम्। अदाने भं, तदाहुते नृणां प्रीतिदं बलम्॥ (अ.हृ.सू. 3/2-3)

(ii) विसर्गकाल

इसमें सूर्य दक्षिणायन व सौम्य होता है। इसमें वर्षा-शरद-हेमन्त ऋतुयें सम्मिलित की जाती हैं जो सामान्यतया 22 जून से 20 दिसम्बर तक के बीच का काल होता है। इस काल में क्रमशः आम्ल, लवण एवं मधुर रस की वृद्धि होती है। मनुष्यों में यथाक्रम स्वाभाविक रूप से बल (Immunity) की प्राप्ति होती है। विस्तृत ऋतुचर्या का वर्णन (विस्तारतः) 'स्वस्यवृत्त' के ग्रन्थ में ही देखें। यहाँ केवल संकेत मात्र ही संभव है।

आदानकाल व विसर्गकाल के अनुसार विभिन्न ऋतुओं में शरीर के मुख्य षटक दोष वात-पित्त एवं कफ का भी संचय-प्रकोप-प्रशमन स्वभाव से होता रहता है। अतः ऐसे आहार-विहार का सेवन करना चाहिये जिससे स्वास्थ्य सदा एक सा बना रहे। क्या काल दोषों का निर्हरण (संशोधन) आवश्यक है अन्यथा ऋतुजन्य रोग (Seasonal Disorders), ऋतुसंधिगत रोग होने की प्रबल सम्भावना रहती है जिससे शरीर अस्वस्थ हो जाता है। अतः प्रकृतितः व स्वभावतः चैत्र मास (फरवरी-मार्च मध्य) में कफ दोष का वमन कर्म से, श्रावण मास में (जुलाई-अगस्त मध्य) वात दोष का बस्ति कर्म से व अगहन मास (दिसम्बर-जनवरी मध्य) में पित्त दोष का विरेचन कर्म द्वारा निर्हरण करना चाहिये[1]।

iv) अन्य चर्या व सद्वृत-सदाचार सेवन

इसके अन्तर्गत निम्न बिन्दुओं की ओर ध्यान दिया जाना अत्यावश्यक है—

अ) रसायन व वाजीकरण सेवन

जो औषध द्रव्य या भाव स्वस्थ पुरुष में ऊर्जस्कर (ओज या ऊर्जा को बढ़ाने वाली) होते हैं उन्हें ही वृष्य व रसायन कहते हैं[2]। इन दोनों का प्रयोग स्वस्थ पुरुष की जीवनीय शक्ति (Immunity, Body Resistance) बढ़ाने के लिये किया जाता है। संशोधन कर्म के पश्चात् ही रसायन-वाजीकरण औषध का प्रयोग श्रेयस्कर होता है।

ब) सद्वृत्त-सदाचार सेवन

कायिक-वाचिक-मानसिक पापकर्मों का त्याग, सत्यवचन, अहिंसा, अपरिग्रह, शौच एवं ब्रह्मचर्य आदि के पालन से रोगाक्रमण से बचा जा सकता है। इस सन्दर्भ में आचार्य चरक ने सूत्रस्थान के अध्याय 8 में विभिन्न सद्वृतों का वर्णन किया है जो निम्न प्रकार हैं[3]—

I) दैनिक जीवन में क्या करें क्या न करें-स्पष्ट कर ही विभिन्न कर्म सम्पादित किए जाने चाहिएं।

1. चतुष्पथे गतीः नक्षत्रपथे पुनः। सहस्रपथे चैव ह्रस्वदेहोऽसत्यवत्। (च.सू. 7/46)
2. पेयं भिषक्तमं च यत्।
सप्तसप्तौषधकरं किञ्चिच्चिरविरोधि यत्॥
सप्तसप्तैकरं यच्च तद् वृष्यं तद्रसायनम्॥ (च.चि. 1/1/4-5)
3. तत्सद्वृत्त..... स्मर्यतेऽह॥ (च.सू. 8/18-29)

Scanned with CamScanner

ii) भोजन सम्बन्धी सद्वृत्त।
iii) मलत्याग सम्बन्धी सद्वृत्त।
iv) स्त्रियों से व्यवहार सम्बन्धी सद्वृत्त।
v) पूज्य लोगों का तिरस्कार न करें।
vi) पठन-पाठन में निषेध सम्बन्धी सद्वृत्त।
vii) सामाजिक व्यवहार में निषेध।
viii) मानसिक व्यवहार में निषेध।
ix) कार्य सम्बन्धी निषेध।
x) हवन-कर्म की विधि।

इसलिये स्वकल्याण चाहने वाले सभी मनुष्यों को सर्वदा अपनी स्मरण शक्ति को जागरूक रखते हुए सभी सद्वृत्तों का पालन करना चाहिये। इन सबका पालन करने से एक ही साथ आरोग्य और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त की जा सकती है[1]।

ब) पथ्य आहार सेवन

ऐसे आहार द्रव्यों का नित्य सेवन करना चाहिये जिससे स्वास्थ्य का अनुवर्तन (Maintance of positive health) होता रहे अर्थात् स्वास्थ्य उत्तम बना रहे तो ऐसे उत्पन्न नहीं हुये हैं उनकी उत्पत्ति भी न हो सके[2]।

c) सम्यक् निद्रा सेवन

आहार-स्वप्न-ब्रह्मचर्य ये त्रय उपस्तम्भ हैं। यदि प्राणी नियमित रूप से निद्रासेवन करे तो बल, वर्ण, उपचय (वृद्धि), स्वास्थ्य लाभ व दीर्घ जीवन प्राप्त होता है। निद्रा प्राकृतिक रात्रिस्वभावजन्या होनी चाहिये[3]।

ड) धर्मानुष्ठान व यज्ञ

प्रणिदया, दान, बलि, देव अर्चना, क्षमा, अस्तेय, शुचिता, संयम, यज्ञानुष्ठान, हवन आदि धार्मिक कर्मों व नियमों के पालन से मन, शरीर व आत्मा में प्रसन्नता रहती है और शरीर निरोगी रहता है।

फ) सद्जन गोष्ठी

धार्मिक, सात्विक, जितेन्द्रिय, ज्ञान-सम्पन्न, अनुभवी, समप्रकृति एवं समवय व्यक्तियों के साथ सम्पर्क में रहने से मानसिक स्वास्थ्य उत्तम बना रहता है।

उपर्युक्त सभी नियमों का पालन करने से यथा संभव स्वास्थ्य की रक्षा की जा सकती है।

1. तस्मादुपदिशंति भिषजोनित्यं सर्वत्र सर्वदा स्मृतिमास्थाय सद्वृत्तमनुष्ठेयम्॥ (च.सू. 8/21)
तद्धर्मकुशलैर्नृपुरुषसंसर्गसत्यधर्मपरैर्ज्ञानविज्ञानसंपन्नैरनुवर्तेत। (च.सू. 8/22)
2. तत्र त्रिषु प्रयुज्यमानेषु स्वास्थ्यं यथानुवर्तते। अजातानां विकाराणामनुत्पत्तिकरं च परम्॥ (च.सू. 11/34)
3. त्रय उपस्तम्भा इति- आहारः स्वप्नो..... । ..... इतीमौपदेशिकौ। (च.सू. 11/35)

(ब) विकार प्रशमन चिकित्सा

आयुर्वेद शास्त्र या चिकित्सा के द्वितीय प्रयोजन 'आतुरस्य विकारप्रशमनं च' की पूर्ति के लिये विकारप्रशमन चिकित्सा का प्रयोग किया गया है। इसे ही 'आगत व्याधि प्रतिषेध' कहते हैं। शरीर में दोष-धातु-मल वैषम्य को प्राप्त होकर विकार उत्पन्न करते हैं, उसके पश्चात् इन दोष-धातु-मल को साम्यता में लाने के लिये चिकित्सा का प्रयोग किया जाता है[1]। यही चिकित्सा 'विकार प्रशमन' चिकित्सा है। धातु-वैषम्य करने वाले कारक या निदान निम्न तीन प्रकार के होते हैं[2]—

i) असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग
ii) प्रज्ञापराध
iii) परिणाम

अतः विकार प्रशमन चिकित्सा का प्रयत्न सूत्र है कि धातुवैषम्य करने वाले निदानों (कारणों) का परित्याग किया जाय और धातुओं को सम करने वाले भावों का सेवन किया जाये[3]। यहाँ पर "धातु" शब्द से दोष-धातु-मल ही लिया जाना उचित होगा। मानसिक रोगों के लिए रज व तम की स्थिति देखकर सत्वावजय, आश्वासन, धैर्यधारण, पथ्यापथ्य आदि चिकित्सा करनी चाहिए। अतः विकारप्रशमन चिकित्सा के अंतर्गत यथावश्यकता निम्न उपाय किये जाने अपेक्षित हैं-

i) दैवव्यपाश्रय, युक्तिव्यपाश्रय-सत्वावजय चिकित्सा।
ii) संतर्पण-अपतर्पण चिकित्सा।
iii) शोधन-शमन चिकित्सा।
iv) हेतु विपरीत-व्याधिविपरीत-उभयविपरीत चिकित्सा।
v) द्रव्य भूत- अद्रव्य भूत चिकित्सा।
vi) रसायन वाजीकरण चिकित्सा।
vii) अन्तःपरिमार्जन-बहिपरिमार्जन-शस्त्रप्रणिधान चिकित्सा।
viii) आसुरी-मानुषी-दैवीय चिकित्सा।
ix) लंघन-संघनपाचन- दोषावसेचन चिकित्सा।
x) संशोधन-संशमन-आहार-आचार चिकित्सा।
xi) पाचन-दीपन-क्षुधा-तृषा-व्यायाम-धूपसेवन-वायुसेवन चिकित्सा इत्यादि का शास्त्र सम्मत विधान से पालन।

1. विकारे धातुवैषम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते। सुखसंज्ञकमारोग्यं विकारे दुःखमेव च॥ (च.सू. 9/4)
2. शीघ्रमश्नातीति- अर्थान्..... । ..... विषयोगः॥ (च.सू. 11/37)
3. स्वगादिग्रहणहेतुर्न शब्दार्थः दोषसमत्वकृत्। विपरीतानुपशयिनि ज्ञापने व्याधेः शमः॥ (च.सू. 16/36)

Scanned with CamScanner

3. औषध सेवन सम्बन्धी नियम

चिकित्सा में भेषज का महत्वपूर्ण स्थान है। अतः चिकित्सा के सफलतम अंगों में भेषज के सेवन काल, मात्रा निर्धारण आदि का सम्यावेश करना आवश्यक प्रतीत होता है क्योंकि यदि औषध उचित मात्रा में, उचित समय पर सेवन नहीं की जाये तो लाभप्रद नहीं होती एवं चिकित्सा में भी सफलता प्राप्त नहीं होती। अतः यहाँ पर संक्षेप में औषध सेवन काल एवं मात्रा निर्धारण विधि का वर्णन किया जा रहा है-

1. औषध सेवन काल

औषध सेवन के काल रोगी व रोग की अवस्था के आधार पर निर्धारित किये जाते हैं। आचार्य चरक ने औषध सेवन के दशकाल[1] व आचार्य शार्ङ्गधर ने पाँच काल वर्णित किये हैं। अतः विभिन्न आचार्यों के वर्णन के अनुसार औषध सेवन के निम्न एकादश काल होते हैं[2]-

i) अभक्त या अनन्न (Medicine Intake on Empty Stomach)— खाली पेट अर्थात् पूर्व में खाये हुए भोजन के पच जाने पर औषध लेना तथा औषध के पच जाने पर भोजन लेना 'अभक्त काल' (अनन्न काल) कहलाता है।

कफ प्रकोप की अवस्था में रोग व रोगी के बलवान होने पर इस काल में औषध प्रयोग करते हैं।

ii) पूर्वभक्त (प्राक्भक्त) (Pre-prandial Medicine Intake)— इसे 'अन्नादि काल' भी कहते हैं। इसमें भोजन करने के कुछ मिनट पूर्व औषध सेवन करना चाहिए। इस काल में अपान वायु के विकार यथा-विबन्ध, उदावर्त्त, अश्मरी, मूत्रकृच्छ एवं प्रदर आदि रोगों की चिकित्सा में औषधि प्रयोग करना चाहिए।

iii) मध्यभक्त (अन्नमध्य या अन्तराभक्त) (Medicine intake in between the meals)— आधा भोजन करने के बाद औषध लेना तत्पश्चात् बचा हुआ आधा भोजन करना यह 'मध्यभक्त काल' कहलाता है। समान वायु से होनेवाली विकृतियों यथा- ग्रहणी दोष, अन्नद्रवशूल, परिणामशूल, उदर शूल, अतिसार, प्रवाहिका, अलसक एवं विलम्बिका आदि रोगों में इस विधि से औषधि प्रयुक्त करते हैं।

iv) सभक्त (साग्र) (Medicine intake mixed with meals)— भोजन के एक ग्रास के साथ औषध मिलाकर लेना 'सभक्त काल' कहलाता है। अरुचि (Anorexia) की अवस्था में इस काल में औषध प्रयुक्त करते हैं।

v) पश्चाद् भक्त या अधो भक्त (Post-prandial medicine intake)— भोजन करने के तुरंत पश्चात् औषध सेवन करना 'अधोभक्त काल' कहलाता है। व्यानवायु

1. भैषज्यकाले भुक्तादौ मध्ये पश्चान्मुहुर्मुहुः। सदुर्द्द भक्तसंयुक्तं ग्रासाग्रासान्तरे दश॥ (च.चि. 30/298)
2. अग्रे विभुक्ते ..... । .....हितम्॥ (च.चि. 30/299-301)

की विकृति में प्रातःकाल भोजन के बाद, जैसे-उच्च रक्तचाप में एवं उदान वायु की विकृति में सायंकाल भोजन के बाद जैसे- स्वरभेद में औषध देने का विधान है।

vi) सामुद्ग (Pre and post prandial Medicine Intake)—भोजन के पूर्व व पश्चात औषध लेना 'सामुद्ग काल' कहलाता है। इस काल में कम्प, आक्षेपक व हिक्का आदि रोगों की अवस्था में रोगी को औषध प्रयुक्त करते हैं।

vii) भक्तान्तर (Medicine Intake repeatedly in between the meals)—भोजन के बीच-बीच में औषध सेवन कराना औषध देने का 'भक्तान्तर काल' कहलाता है। इस विधि से अरुचि आदि रोगों की अवस्था में औषधि प्रयुक्त करते हैं।

viii) सग्रास (Medicine intake with every bite of meals)—भोजन के प्रत्येक ग्रास के साथ औषध सेवन करना 'सग्रास काल' कहलाता है। प्राणवायु से उत्पन्न होने वाले विकारों यथा- श्वास रोग आदि में रोगी को इस विधि से औषध प्रयुक्त कराते हैं।

ix) ग्रासान्तर या कवलान्तर (Medicine intkae in between two bites of meals)—एक ग्रास खाकर औषध लेना फिर दूसरा ग्रास खाना एवं फिर औषध लेना अर्थात् दो ग्रासों के बीच औषध सेवन करना औषध सेवन का 'ग्रासान्तर काल' कहलाता है। इस काल के अनुसार प्राणवायु की विकृति जन्य रोगों में रोगी को औषधि प्रयुक्त कराते हैं।

x) मुहुर्मुह (Frequent intake of medicine irrespective of food consumption)—भोजन के पूर्व, पश्चात, मध्य आदि का विचार न करके बार-बार औषध सेवन करना 'मुहुर्मुह काल' कहलाता है। इस विधान के अनुसार विष विकार, छर्दि रोग, हिक्का, तृष्णा, श्वास, कास आदि रोगों में रोगी को औषध प्रयुक्त कराते हैं।

xi) नैश (Medicine intake just before the hours of sleep)—इसे आचार्य वाग्भट्ट ने वर्णित किया है। रात्रि में सोने से पूर्व औषध सेवन करना औषध का 'नैश काल' कहलाता है। इस विधि के अनुसार उर्ध्वजत्रुगत विकारों में रोगी को औषध प्रयुक्त कराते हैं।

2. औषध मात्रा निर्धारण— आचार्य शार्ङ्गधर के मतानुसार रोगी में औषध प्रयोग की मात्रा काल (ऋतु), जठराग्नि, वय, बल, प्रकृति, दोष एवं देश आदि का विचार करके निश्चित करनी चाहिए। औषध सेवन की कोई निश्चित मात्रा नहीं होती है। क्योंकि औषध मात्रा सिर्फ रोगों पर ही निर्भर नहीं होती है बल्कि औषध की मात्रा चिकित्सक के विवेक पर भी निर्भर करती है[1]।

1. निर्दिशेन्नैव मात्रायाः कालमग्निं वयो बलम्। प्रकृतिं दोषदेशौ च दृष्ट्वा मात्रां प्रकल्पयेत्॥
(शार्ङ्गधर संहिता पूर्वखण्ड 1/37)

Scanned with CamScanner

कालानुसार औषध मात्रा- अल्प मात्रा में दी गयी औषध रोग को दूर नहीं कर पाती है जैसे दीपक जल बहुत ज्यादा अग्नि को नहीं बुझा पाता है। अधिक मात्रा में प्रयुक्त औषध स्वाधि को दोषयुक्त आहार (उपद्रव) युक्त कर देती है जैसे अधिक मात्रा में घृतयुक्त हुआ जल (अतिवृष्टि) फसल (खेती) को बाढ़ा या गला देता है। अतः रोग न औषध को बल विशेष कर मात्रा से न अधिक और न कम औषधि का प्रयोग करना उचित रहता है[1]।

बाल्यावस्था में औषध मात्रा- बच्चों को औषधियाँ हमेशा द्रव या लेह के रूप में देनी चाहिएँ। चूर्ण या कल्क घृत-मधु के साथ मिलाकर चटाना चाहिए। गोली या टैबलेट बच्चों को कदापि न दें। माता या धात्री को (क्षीराद् व क्षीरान्नाद अवस्था में) दी गयी औषध स्तनों से दूध के माध्यम से उत्सर्जित होकर बालक पर प्रभाव डालती है। आचार्य सुश्रुत ने 16 वर्ष तक की वय बाल्यावस्था (कफ प्रधान) मानी है। ये बालक भी तीन प्रकार के वर्णित हैं[2]-

1. क्षीरप— केवल दुग्ध पीने वाले बालक जो एक मास से एक वर्ष तक की आयु के होते हैं, उन्हें क्षीरप कहते हैं। क्षीरप अवस्था में यदि बालक को औषध देना हो तो धात्री या माता को औषध देना चाहिए। अत्यल्प मात्रा में मधु मिलाकर औषधि को धात्री या माता के स्तनों पर लेप कर बालक को स्तन पान कराना चाहिए। इस अवस्था में "अङ्गुलिपर्वद्वय" मात्रा में बालक को औषध दें[3]। यहाँ अङ्गुलिपर्वद्वय से तात्पर्य अंगुलि के दो पोरों में जितनी औषध रह सके उतनी औषधि है।

2. क्षीरान्नाद— दूध और अन्न खाने वाले बालक जो एक वर्ष से दो वर्ष तक की आयु के होते हैं उनमें बेर की गुठली के समान मात्रा में कल्क या चूर्ण देना चाहिए।

3. अन्नाद— केवल अन्न खाने वाले बालक जो तीन वर्ष से सोलह वर्ष की आयु के होते हैं उनके लिए बेर के बराबर मात्रा में औषध देने का विधान है[4]।

---

1. बालं हन्त्यौषधं व्याधिं यथाऽल्पो ऽग्निर्महानलम्। दोषबलाधिमात्रं स्यात्तदायत्तौ हि तौ यतः॥
   मात्रावत् कार्यं तस्मात्तामवेक्ष्यौषधाय च। नवतिष्वपि बालत्वं पैचम्यमवचारयेत्॥ (च.चि. 30/313-314)
2. बालं त्रिविधं-क्षीरप, क्षीरान्नाद:, अन्नाद इति। (सु.सू. 35.29)
3. तत्र मातृगतौ क्षीरपायाङ्गुलिपर्वद्वय मात्र (म) संमितमौषधमात्रां विदध्यात्॥ (सु.उ. 40.30)
4. बदरास्थ्यवयविनं कल्कमात्रं क्षीरान्नादाय॥ (सु.उ. 40.31)
5. बदरसंमितमन्नादायेति॥ (सु.उ. 40.32)

कालौषधि का प्रयोग करना हो तो औषधि की तरुता पूर्व मौलता का विचार कर देना चाहिए।

चूर्ण एक रत्ती (लगभग 125 मि.ग्रा.) की मात्रा में मधु या दूध में मिलाकर 0 से 1 वर्ष तक के बालक को देना चाहिए। फिर प्रतिवर्ष आधा-आधा रत्ती (लगभग 50-60 मि.ग्रा.) बढ़ाते हुए 1 वर्ष में 6 रत्ती (लगभग 600 मि.ग्रा.) तक औषधि दें। फिर 1 से 16 वर्ष तक औषधि की मात्रा आधा-आधा ग्राम (मासा) बढ़ाकर 16वें वर्ष तक 6 ग्राम (मासा) तक ले जायें। 6 ग्राम की औषधि मात्रा 70 वर्ष तक की उम्र के रोगियों को दें।

वृद्धों में बालकों की मात्रा के अनुरूप औषध दें।

बालकों में रसौषधि (भस्म) $^1/_4$ से एक रत्ती (लगभग 25-125 मि.ग्रा.) की मात्रा में दें। धीरे-धीरे आयु के अनुसार मात्रा बढ़ाते हुए युवावस्था में 1 से 4 रत्ती (लगभग 125-500 मि.ग्रा.) तक की मात्रा में रोगों को औषधि देनी चाहिए।

विभिन्न औषध कल्पों की सामान्य मात्रा

आयुर्वेद में वर्णित विभिन्न औषध कल्पनाओं की मात्रा रोगों के बलाबल और अवस्थानुसार निर्धारित की जाती है। सामान्यतः विभिन्न औषध कल्पों की मात्रा निम्न प्रकार से दी जाती है-

1. रस, भस्म, लौह, मण्डूर, पिष्टी- 125 मि.ग्रा. से 375 मि.ग्रा. (1 से 3 रत्ती)
2. पर्पटी (कल्प रहित)- 250 से 500 मि.ग्रा. (2 से 4 रत्ती)
3. वटी — 500 मि.ग्रा. - 1 ग्राम
4. स्वरस — 10 से 24 मि.ली. ($^1/_2$ पल)
5. क्वाथ कल्पना — 24 - 48 मि.ली. (1 पल)
6. चूर्ण — 6 से 12 ग्रा. (1 कर्ष)
7. अवलेह या पाक — 10 से 24 ग्राम ($^1/_2$ पल)
8. सिद्ध घृत या तैल — 24 से 48 मि.ली. (1 पल)
9. आसव या अरिष्ट — 24 से 48 मि.ली. (1 पल)

औषध निषेध—सेवक के अनुभव के आधार पर निम्न अवस्थाओं में उल्लेखित औषधियों का निषेध रखना चाहिए-

1. बच्चों को अफीम या अफीम युक्त औषधि न दें क्योंकि उनके ऊपर अफीम का विषैला प्रभाव बहुत शीघ्र होता है।

Scanned with CamScanner

2 सगर्भा स्त्री को भी अफीम युक्त औषधि न दें।

3 मन्दाग्नि व बहुमूत्र के रोगी को घृत अधिक न दें।

4 सगर्भा स्त्री को घृतकुमारी से निर्मित औषधि न दें।

5 पारद, संखिया, कुचला के योगों का प्रयोग यदि अधिक काल तक कराना हो तो बीच-बीच में एक-दो सप्ताह तक ये औषध योग बन्द कर देना चाहिए।

6 कमजोर आन्त्र वाले मधुमेह के रोगी को अफीम युक्त औषध न दें।

7 अम्ल पित्त के रोगी को भोजन के बाद या बीच में अधिक जल पीना, ज्यादा शाक खाना, खट्टे पदार्थ खाना, गर्म भोजन खाना एवं अधिक चाय-कॉफी पीना हानिप्रद है।

8 बहुमूत्र रोग में अधिक घृत, खट्टी चीजें, नये चावल, अधिक मीठा खाना, अजीर्ण में भोजन, पुनः पुनः भोजन और अधिक जल पीना हानिकारक है।

औषध संबंधी अन्य निर्देश

लेखक के अनुभव के आधार पर निम्न औषध सेवन संबंधी निर्देशों का पालन करना हितकर रहता है-

1 आमाशय पर कार्य करने वाली औषध रिक्तकोष्ठ प्रातःकाल में दें।

2 दीपन (भूख बढ़ाने वाली) औषध भोजन के पूर्व देना चाहिए।

3 पाचन (भोजन पचाने वाली) औषध भोजन के बाद देना चाहिए।

4 अनुलोमक औषध भोजन के तीन घंटे बाद देना चाहिए।

5 खनिज व अम्ल रस युक्त औषध प्रायः भोजन के पूर्व दें।

6 अम्ल व क्षार को उदासीन करने के लिए औषध (Antacids & Alkaliser) भोजन के तुरंत बाद देना चाहिए।

7 लौह व संखिया के योग भोजन के बाद दें।

8 आसव व अरिष्ट भी भोजनोत्तर दें।

9 तीव्रता से कार्य करने वाले रेचक द्रव्य यथा-इच्छाभेदी रस, नाराच रस आदि प्रातःकाल एवं मन्दता से कार्य करने वाले रेचक द्रव्य यथा-सनाय, हरीतकी, त्रिफला आदि रात्रि में सोते समय देना चाहिए।

10 आर्तवजनन औषध मासिक स्राव होनेवाली तिथि के एक सप्ताह पूर्व दें।

11 मूत्रल औषध प्रातःकाल दें।

12 परिणामशूल में औषध भोजन के पूर्व व पश्चात (सामुद्ग काल) दें।

13 निद्राजनन (Sedative) औषध निद्राकाल के आधा घंटे पूर्व देना चाहिए।

14 ऋतुअनुसार ग्रीष्म में अधिक उष्ण औषध व शीत ऋतु में अधिक शीत औषध न दें।

15 आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की औषधियाँ आग्नेय स्वभाव की होने के कारण कुछ अल्पाहार या जलपान के बाद देना चाहिए।

4. अनुपान विवेचन

अनुपान का अर्थ होता है जो औषध या आहार के साथ में या बाद में पिया जाता है।

जो अनुपान खाये हुए औषध-आहार के गुणों से विपरीत गुण वाला हो किंतु वीर्य आदि से धातुओं के लिए विपरीत न हो यह प्रशस्त (उत्तम) अनुपान होता है[1]। अनुपान सेवन से अनेक लाभ होते हैं। औषधि एवं आहार के साथ अनुपान सेवन करने से वह विलीन होकर शीघ्र ही शरीर में फैल जाती है व औषध-आहार के गुण धर्म शीघ्र ही शरीर पर कार्य करते हैं। दोष युक्त, गुरु एवं अधिक मात्रा में खाया हुआ भोजन भी अनुपान से सुखपूर्वक पचकर आयु व बल वृद्धि करता है। अनुपान से शारीरिक धातुयें पूर्ण तृप्त होती हैं। अनुपान से तर्पण, प्रीणन, बृंहण, अन्नसंघात, क्लेदन, पाचन होता है[2]। अतः रोग-रोगी-दोष-औषध-आहार-विहार का विचार करके अनुपान का सेवन करना चाहिए। अनुपान का निर्धारण हम निम्न तीन वर्गों के अनुसार कर सकते हैं—

(अ) औषध व आहार अनुसार — जैसे— स्नेह में उष्णोदक सेवन

(ब) रोगी अनुसार — जैसे— स्थूल रोगी में मधूदक सेवन

(स) रोग अनुसार — जैसे— रक्तपित्त में क्षीर व इक्षुरस सेवन

(अ) औषध व आहार अनुसार निर्देशित अनुपान

1. स्नेह (भल्लातक व तुवरक तैल के अतिरिक्त) में उष्ण जलपान।
2. मधु-दधि-मद्य-भल्लातक तेल-तुवरक तैल में शीतल जलपान।
3. मांस में मद्य या फलाम्ल सेवन।
4. हरीतकी - सैंधव, शर्करा, शुण्ठी, पिप्पली, मधु गुड़ प्रयोग।
5. लशुन - शर्करा, मधु, घृत प्रयोग।

1. यदन्नाद्गुणैः पानं विपरीतैः तदिष्यते। अन्यत्पुनरं धातूनां दूषणं यत्र विद्यते च॥ (च.सू. 27/319)
2. अन्नपानकर्मगुणान् प्रवक्ष्यामः ..... । ..... चाहारस्योपजायते॥ (च.सू. 27/325)

Scanned with CamScanner

(घ) रोगी अनुसार निर्देशित अनुपान

1. कृश रोगी - मांस रस, सुरा प्रयोग
2. स्थूल रोगी - मधुदक प्रयोग
3. बालक, वृद्ध रोगी - क्षीर प्रयोग

(ङ) रोगानुसार निर्देशित अनुपान[1]

1. वातज रोगों में — स्निग्ध व उष्ण अनुपान, लशुन कल्क मिला घृतपान।
2. पित्तज रोगों में — मधुर-शीत अनुपान।
3. कफज रोगों में — रूक्ष व उष्ण अनुपान।
4. सन्निपातज रोगों में — मधुमिश्रित आर्द्रक स्वरस पान।
5. धातुक्षय जन्य रोगों में — मांसरस पान।
6. अग्निमांद्य, अनिद्रा, तन्द्रा, क्लम में — मद्य, भैंस दुग्ध प्रयोग।
7. रक्तपित्त — दुग्ध या इक्षुरस, वासा स्वरस पान।
8. शोष — मांस रसपान।
9. विष रोग — शिरीष या आक, स्वर्ण पत्र सेवन।
10. शूल में — घृत मिश्रित हिंगु सेवन।
11. जीर्ण ज्वर में — पिप्पली चूर्ण मिश्रित मधु सेवन।
12. ज्वर — चिरायता, नागरमोथा, पित्तपापड़ा क्वाथ सेवन।
13. ग्रहणी दोष — तक्र प्रयोग।
14. अतिसार — कुटज त्वक क्वाथ प्रयोग।
15. अजीर्ण — उष्णोदक, निद्रासेवन।
16. कृमिरोग — विडंग प्रयोग।
17. अर्श — भिलावा, चित्रक मूल चूर्ण प्रयोग।
18. हिक्का — लाक्षारस नस्य प्रयोग।
19. कास — वासा, कण्टकारी प्रयोग।
20. श्वास — त्रिकटु मिश्रित मधु, भार्ङ्गी, शुण्ठी प्रयोग।
21. पाण्डु — पुनर्नवा क्वाथ, मण्डूर प्रयोग।
22. क्षय रोग — क्षीर, मांसरस, शिलाजतु प्रयोग।
23. प्रमेह — त्रिफला, आमलकी व हरिद्रा प्रयोग।
24. प्लीहोदर — पिप्पली चूर्ण सेवन।
25. उन्माद — पुराण घृत (कौम्भ घृत) सेवन।
26. अपस्मार — ब्राह्मी व वचा स्वरस पान।
27. नेत्ररोग — त्रिफला प्रयोग।

1. कैराताम्बुपर्पटं ..... पीत्वाम्॥ (चे.र. रसवर्णनम्।)

28. आमवात — गोमूत्र सिद्ध एरण्ड तैल पान।
29. वातरोग — गुग्गुलु व लशुन प्रयोग।
30. उदररोग — रेचन (Purgation) प्रयोग।
31. वातरक्त — गुडूची प्रयोग।
32. अर्दित — माषेण्डरी (उड़द का वटक) प्रयोग।
33. मेदोरोग — मधुदक पान।
34. प्रदर — लोध्र प्रयोग।
35. अरुचि — बिजौरा निम्बू स्वरस प्रयोग।
36. व्रण — नवीन गुग्गुलु प्रयोग।
37. शोक — मद्यपान।
38. अम्लपित्त — द्राक्षा, कूष्माण्ड प्रयोग।
39. मूत्रकृच्छ — शतावरी, श्वेत कूष्माण्ड प्रयोग।
40. कुष्ठ — खदिरसार जल प्रयोग।
41. श्वेत कुष्ठ — वाकुचीचूर्ण प्रयोग।
42. भय — संतोष करना।
43. छर्दि — लाजा व मधु प्रयोग।
44. पार्श्वशूल — पुष्करमूल प्रयोग।
45. मूर्च्छा — शीत जल सिंचन।
46. अश्मरी — पाषाणभेद प्रयोग।
47. गुल्म — शिग्रु त्वक प्रयोग।
48. विद्रधि — रक्तमोक्षण प्रयोग।
49. भगन्दर — केचुआँ व क्षत अस्थि, गर्दभ रक्त प्रयोग।
50. स्वरभेद — पुष्कर मूल व मधु प्रयोग।

उपर्युक्त वर्णन के अनुसार दिया गया अनुपान देश-देशे-औषध-आहार-विहार के अनुसार श्रेष्ठ होता है। अनुपान उपलब्ध न होने पर "उष्ण जल (कोष्ण जल)" का अनुपान सर्वश्रेष्ठ होता है।

5. पथ्य (Dietetics)

"पथ्य" चिकित्सा या भैषज का पर्याय है। "पथ्य" की व्याख्या करते हुए आचार्य चरक ने स्पष्ट किया है कि जो आहार-विहार पथ अर्थात् शरीर मार्ग (स्रोतों) के लिए हितकर हो तथा मन को भी प्रिय हो उसे "पथ्य" कहते हैं।

निरुक्ति

1. "पथो गच्छेत बाह्या दोषा यतावश्च, तथा पथ्यमिच्छंतीह भक्तादि तेन पृथक्त्वमेव शरीरगृहोक्तं भवति, तथा शरीरानुपघाति पथ्यमिति भवति।" अर्थात्

पथ शब्द से दोष एवं धातुओं का ग्रहण होने से सम्पूर्ण शरीर को पथ है, उपकार सम्पूर्ण शरीर को जो हितकर हो उसे "पथ्य" कहते हैं।

2. "पथः स्रोतोरूपात् शरीरमार्गात् अनपकारकं यत्तपथ्यम्।" अर्थात् स्रोतोरूप शरीर के लिये जो पदार्थ हानिकार न हो वह "पथ्य" है।

3. "किंवा स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनं च पंथाः, तस्मादनपकारि पथ्यम्, यच्च मनसः प्रियम्, एतेन मनःशरीरानुपघाति पथ्यमिति।" अर्थात् स्वस्थ के स्वास्थ्य की रक्षा एवं रोगी के रोग का शमन करना ये दोनों पंथा हैं अतः दोनों के लिए जो हितकर हो वह "पथ्य" है।

जो शरीर का अपकार करनेवाला व मन को प्रिय नहीं है वही "अपथ्य" है। किंतु द्रव्य की दृष्टि से यह लक्षण निश्चित नहीं है। वही द्रव्य मात्रा, काल, संस्कार, भूमि, देह व दोष की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त करके पथ्य भी हो जाता है एवं अपथ्य भी यथा- घृत पित्त व वात रोगों में साधारणतः पथ्य है किंतु अतिमात्रा में सेवन करने से वर्षा ऋतु में, मधु के साथ, आनूप देश में, स्थूल मनुष्यों व कफज रोगों में घृत अपथ्य हो जाता है। अतः मात्रादि का ध्यानकर पथ्यापथ्य का निर्णय करना चाहिए। विष भी उचित मात्रा में देने पर अमृत तुल्य हो जाता है। "विषस्य तिलं दद्यात्" (च.चि.) पथ्य का निर्देश करने वाला तंत्र आयुर्वेद वाङ्मय में "स्वस्थवृत्त" कहलाता है। चरक संहिता के सूत्रस्थान के अध्याय 5 से 8 तक (स्वस्थ चतुष्क) में इन्हीं का निर्देश है।

पथ्यापथ्य नियामक भाव[2]

पथ्य एवं अपथ्य का नियमन करने वाले भाव छः हैं। इनके प्रयोग से अपथ्य भी पथ्य हो सकता है तथा सही प्रयोग न होने पर पथ्य भी अपथ्य हो सकता है। यह भाव निम्न प्रकार हैं-

1. मात्रा	2. काल	3. क्रिया
4. भूमि	5. देह	6. दोष

पथ्य का महत्व

1. शरीर पथ्याहार पर ही अवस्थित हैं। शरीर के तीन उपस्तम्भों में आहार का पहला स्थान है[3]। शरीर के घटक द्रव्य आहार से निर्मित होते हैं[4]। रोग भी अहिताहार सेवन से होते हैं। अतः पथ्याहार ही जीवन संरक्षण का मूल है।

---

1. पथ्यं पथोऽनपेतंयद्यच्चोक्तं मनसः प्रियम्॥ (च.सू. 25/45)
2. मात्राकालक्रियाभूमिदेहदोषगुणान्तरम्। प्राप्य तत्तद्धि दृश्यन्ते ते ते भावास्तथा तथा॥
   तस्मात् स्वभावो निर्दिष्टस्तथा मात्रादिरप्यतः। (च.सू. 25/46-47)
3. त्रय उपस्तम्भाः इति आहारः स्वप्नो ब्रह्मचर्यमिति। (च.सू. 11/35)
4. आहारसंभवं वस्तु रोगश्चाहारसंभवाः॥ (च.सू. 28/45)

Scanned with CamScanner

द्रव्यों की भावना देकर गुणों में वृद्धि करने के उद्देश्य से [illegible] है यथा- दही शोथ कारक है परंतु मक्खन के साथ [illegible] नष्ट करता है। "करण" का तात्पर्य है विभिन्न "Preparation [illegible]

(iii) संयोग— किन्हीं भी दो द्रव्यों का प्रयोग हितकर या अहितकर उसके संयोग पर निर्भर करता है जैसे घृत एवं मधु समभाग में [illegible] से विष तुल्य होता है, वही विषम मात्रा में देने पर या पृथक्-पृथक् [illegible] लाभप्रद है। "संयोग" का अर्थ है "Combinations"।

(iv) राशि— राशि का तात्पर्य है मात्रा "Quantum"। राशि के [illegible] हैं-

1. सर्वग्रह 2. परिग्रह

1. सर्वग्रह— विभिन्न आहार द्रव्यों को मिलाकर लेना 'सर्वग्रह' कहलाता है। इसमें द्रव्यों का नियतमान नहीं होता।

2. परिग्रह— विभिन्न आहार द्रव्यों को पृथक्-पृथक् निश्चित प्रमाण में लेना ग्रहण करना 'परिग्रह' कहलाता है।

(v) देश[1]— आहार द्रव्य की उत्पत्ति किस प्रदेश में हुई है? देशसात्म्य [illegible] आदि का विचार 'देश' की दृष्टि से किया जाता है। देश गुण के विपरीत गुण वाला द्रव्य देश सात्म्य होता है यथा आनूपदेश में कफज रोग, जांगल देश में स्निग्ध द्रव्य देश सात्म्य होते हैं। उसी प्रकार हिमालय में उत्पन्न औषध [illegible] होती है। देश से तात्पर्य आहार द्रव्य के "Place of Origin" से है।

(vi) काल[2]— ऋतु सात्म्य के अनुसार आहार सेवन, रोग की स्थिति (नव [illegible] आम/पक्व आदि) तथा रोगी की आयु (बाल्य/युवा/वृद्ध) आदि के अनुसार ही आहार ग्रहण करना चाहिए। काल के निम्न दो भेद हैं-

1. नित्यग् — ऋतु के अनुसार।
2. आवस्थिक- रोग की अवस्था के अनुसार

'काल' से तात्पर्य Season, state of disease and age of patient से है।

(vii) उपयोग संस्था— उपयोग संस्था से तात्पर्य Rules of use से है। भोजन करने के नियम को "उपयोग संस्था" कहते हैं। इसको लिये आचार्य सुश्रुत ने "द्वादश अशन विधा" व आचार्य चरक ने "आहार विधि विधान" में वर्णन किया है[3]।

1. देशः पुनः स्थानं, स द्रव्यगतगुणविशेषाणां देशसात्म्यं भजते। (च.वि. 1/22)
2. कालो हि नित्यमावस्थिकश्च; ऋतवोऽस्यको विकाराणांचये, नित्यगतु ऋतुसात्म्यतः। (च.वि. 1/23)
3. उपयोगसंस्था पुनरेषां नियमः, स च जीर्णशनादेयः। (च.वि. 1/24)

(viii) उपयोक्ता— भोजन ग्रहण करने वाले को "उपयोक्ता" कहते हैं। उपयोक्ता को अपने सात्म्य मात्रा के अनुसार भोजन करना चाहिए। उपयोक्ता से तात्पर्य है "User"।

आहार विधि विधान[1]

आचार्य चरक ने आहार ग्रहण करने के लिए निम्न विधान स्थान के प्रथम अध्याय में वर्णित किए हैं-

1. उष्ण 2. स्निग्ध 3. मात्रापूर्वक
4. पूर्वकृत भोजन के पच जाने पर
5. अविरुद्ध वीर्य (जो द्रव्य परस्पर वीर्य विरुद्ध न हों)
6. हितकर स्थान में बैठकर
7. हितकर उपकरणों के साथ
8. नाति शीघ्र
9. नाति विलम्ब
10. भोजन काल में न बोलते हुए।
11. न हंसते हुये।
12. अपनी "अग्नि बल" को समझकर धैर्यता के अनुरूप भोजन ग्रहण।
13. एकाग्रचित होकर हितकारी पदार्थों का सेवन करना चाहिए।

द्वादश अशन विधा[2]

आचार्य सुश्रुत ने भोजन के 12 प्रकार के विधानों का वर्णन किया है, जो निम्न प्रकार है—

(i) शीत आहार—उष्णता, मद एवं तृष्णा पीड़ित को शीत आहार का सेवन करायें।

(ii) उष्ण आहार—कफ-वातज रोगों में, शीतपीत, विरिक्त व्यक्ति को उष्ण वीर्य आहार का सेवन करायें।

(iii) स्निग्ध आहार—वात प्रकृति में, वात व्याधि पीड़ित, एवं कृश व दुर्बल व्यक्ति में स्निग्ध आहार का प्रयोग करायें।

1. उपयोक्तेष्टपूर्वमन्नमश्नीयात्, यदपरमेकमन्नस्य [illegible] (च.वि. 1/23)
2. उष्णं, स्निग्धं, मात्रावत्, जीर्णे, वीर्याविरुद्धम्, इष्टे देशे, इष्टसर्वोपकरणं, नातिद्रुतं नातिविलम्बितम्, अजल्पन्, अहसन्, तन्मना मुहूर्तम्, आत्मानमभिसमीक्ष्य सम्यक्। (च.वि. 1/24)
3. अन्न वेगान् धारयेत्, उदीर्णान् वेगान्, न चैवं [illegible] (सु.उ. 64/56)

Scanned with CamScanner

(iv) रूक्ष आहार—मेदस्वी, कफज रोगों में, प्रमेही को, कफ प्रकृति के व्यक्तियों में रूक्ष आहार का प्रयोग।

(v) द्रव आहार—शुष्क शरीर वाले, तृष्णा पीड़ित, दुर्बल शरीर वाले व्यक्तियों को द्रव आहार दें।

(vi) शुष्क आहार—कुष्ठ, विसर्प से जिनका शरीर क्लिन्न हो, प्रमेही को सदैव शुष्क (बिना घी, तेल) आहार देना चाहिए।

(vii) एक कालिक आहार—दुर्बल जठराग्नि की वृद्धि के लिए रोगी को 24 घंटे में एक समय भोजन देना चाहिए।

(viii) द्विकालिक आहार—जिस व्यक्ति की अग्नि सम हो, उसे द्विकालिक आहार दें।

(ix) औषधयुक्त आहार—औषध द्वेषी पुरुष को आहार में ही औषध मिलाकर देना चाहिए।

(x) मात्राहीन आहार—जिनकी जाठराग्नि मंद हो, रोगी हो, उसे सामान्य व्यक्ति की भोजन की मात्रा की अपेक्षा कम मात्रा में भोजन देना चाहिए।

(xi) प्रशमन कारक आहार—जिस ऋतु में जिस दोष का संचय एवं प्रकोप होता है उस ऋतु में उस दोष को नष्ट करने वाला आहार दोष प्रशमन कारक कहलाता है।

(xii) स्वस्थवृत्ति प्रयोजक—स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य के संरक्षणार्थ सर्वरस युक्त आहार देना चाहिए। "नित्यं सर्वरसाभ्यासः स्वस्थाधिक्यमृतावृतौ।"

6. अपथ्य

जो आहार या औषध दोषों को अपने स्थान से उभार दे, चलायमान कर दे एवं शरीर से बाहर न निकले, वह विरोधी आहार होता है एवं वही आहार अहितकर एवं अपथ्य होता है। आचार्य चरक ने निम्न 18 प्रकार के विरुद्ध आहार (Incompatible diets) का वर्णन किया है[1]-

1. **देश विरुद्ध (Contrary to climate)**—आनूप देश में स्निग्ध एवं शीत पदार्थों का सेवन।
2. **काल विरुद्ध (Contrary to season)**—शीत ऋतु में शीतल एवं रूक्ष आहार एवं औषध द्रव्यों का प्रयोग।

1. उष्णमि देशकालाग्निप्रकृतिमात्रोपयोगसंस्कारसात्म्यदोषसंक्लेशक्रमपरिहारोपचारपाकसंयोगहृदयनियमातिनियमविरुद्धं तच्च न हितं इतिसंज्ञकमिति विधिशब्दवत्। (च.सू. 26/86-87)

3. **अग्नि विरुद्ध (Contrary to digestive power)**—दुर्बलाग्नि पुरुष द्वारा गुरु-स्निग्ध आहार सेवन करना।
4. **मात्रा विरुद्ध (Contrary to measure)**—मधु व घृत का सममात्रा में सेवन विष तुल्य है।
5. **सात्म्य विरुद्ध (Contrary to adaptability)**—जिसे कटु रस व ऊष्णवीर्य आहार सात्म्य हो उसे मधुर रस व शीत वीर्य आहार सात्म्य विरुद्ध है।
6. **दोष विरुद्ध (Contrary to body humours)**—त्रिदोष के समान गुण वाले व अभ्यास विरुद्ध औषध, आहार कर्म का सेवन करना दोष विरुद्ध है।
7. **संस्कार विरुद्ध (Contrary to preparations)**—चन्दन की लकड़ी में छेद कर भूना हुआ मोर का मांस विष तुल्य होता है।
8. **वीर्य विरुद्ध (Contrary to potency)**—दूध (शीत वीर्य) एवं मूली (ऊष्णवीर्य) द्रव्यों को एक साथ खाना।
9. **कोष्ठ विरुद्ध (Contrary to bowel habit)**—मृदु कोष्ठी व्यक्ति को गुरु या मात्रा में अधिक व विरेचक द्रव्यों का प्रयोग।
10. **अवस्था विरुद्ध (Contrary to state of patient)**—आलसी एवं आराम-तलबी व्यक्ति को कफ वर्धक आहार सेवन करना।
11. **क्रम विरुद्ध (Contrary to order of eating)**—मल-मूत्र त्याग किए बिना भूख लगने पर या अधिक भूख लगने पर भोजन करना।
12. **परिहार विरुद्ध (Contrary to avoided things)**—सुअर का मांस खाकर उष्ण वस्तुओं का सेवन करना।
13. **उपचार विरुद्ध (Contrary to treatment)**—स्नेहपान करने के तुरन्त बाद शीतल जलपान करना।
14. **पाक विरुद्ध (Contrary to cooking)**—जला हुआ अन्न सेवन करना, या पूर्ण पाक हुये बिना ही अन्न का सेवन करना।
15. **संयोग विरुद्ध (Contrary to combination)**—दूध के साथ अम्ल रस (इमली) का सेवन करना।
16. **हृदय विरुद्ध (Contrary to palatability)**—जो आहार मनोनुकूल न हो उसे सेवन करना।

Scanned with CamScanner

17. संपद विरुद्ध (Contrary to richness of quality)—[illegible] में उचित रूप से रस उत्पन्न न हुआ हो, जो अतिक्रान्त रस हो या [illegible] हो, उसे सेवन करना।

18. विधि विरुद्ध (Contrary to rules of meals)—आहार सेवन [illegible] के विधियाँ बताई है उनका पालन न करते हुए भोजन करना विधि विरुद्ध कहलाता है।

इन 18 प्रकारों के विरुद्ध आहारों का सेवन शरीर के लिए अहितकर होता है जो इनसे अनेक रोगों की उत्पत्ति होती है जो निम्न हैं–

विरुद्ध आहार सेवन जन्य रोग[1]

सम्भवतः विरुद्ध आहार सेवन से नपुंसकता, अंधापन, विसर्प, जलोदर, विस्फोट, पलायन, भगन्दर, मूर्च्छा, मद, आध्मान, गलग्रह, पाण्डु, आमविष, किलास, कुष्ठ, ग्रहणी, शोष, अम्लपित्त, ज्वर, पीनस एवं संतानों में द्वेष आदि रोग उत्पन्न हो सकते हैं।

विरुद्ध आहार जनित (अपथ्यज) रोगों की चिकित्सा[2]

1. वमन
2. विरेचन
3. विरुद्ध गुण वाले द्रव्यों का सेवन
4. विरुद्धाहार जन्य व्याधि के विरुद्ध उपचार
5. रसायन सेवन करना।

विरुद्धाहार भी यदि[3]

1. लगातार सेवन किया जाए तो ओकसात्म्य हो जाता है।
2. अल्पमात्रा में सेवन किया जाता है तो हानिप्रद नहीं होता।
3. पुरुष की जाठराग्नि तीक्ष्ण हो तो विरुद्धाहार को पचा देती है।
4. पुरुष युवावस्था में हो व नित्य व्यायाम करता हो,
5. सदैव घृत सेवन करता हो,
6. बलवान हो, तो शरीर के लिए हानिप्रद नहीं होता।

1. [illegible] ..... [illegible] ..... पूर्वपरविरुद्धान्नजन्यानि हेतुवत्। (च.सू. 26/102-120)
2. एषां खल्वपथ्यानां यैर्यैर्विकारैर्यथास्वं व्यभिचरितमेषां भवति; प्रतिकारो भवति। तद्यथा–वमनं विरेचनं च, [illegible] द्रव्याणां संप्रयोगः, तथाविधेषु देशेषु; पूर्वमभ्यस्तानां वा तत्सात्म्यतेति। (च.सू. 26/124)
3. सात्म्यं हि [illegible] सेवितमात्मवत् च। स्निग्धोष्णप्रायमश्नन्तं विरुद्धं विरुध्यते॥ (च.सू. 26/126)

7. आत्ययिक अवस्था में प्रयुक्त आयुर्वेदीय औषध योग

आतुर का अर्थ है-भय। अर्थात् जब आतुर के जीवन को भय उपस्थित हो जाय, उस समय जो चिकित्सा की जाती है उसे "आत्ययिक चिकित्सा" (Emergency Treatment) कहते हैं। किसी भी रोग के प्रत्यात्म लक्षण (Cardinal sign / symptoms) ही व्याधिदुष्टि के मुख्य लक्षण होते हैं। जब ये ही प्रत्यात्म लक्षण उग्र रूप में हो जाते हैं तब आत्ययिक अवस्था कहलाती है। कई बार रोग के उग्र उपद्रव भी आत्ययिक अवस्था उत्पन्न कर देते हैं। उदाहरण स्वरूप निम्न अवस्थाएँ आत्ययिक मानी जा सकती हैं–

1. तीव्र ज्वर (Hyper Pyrexia)
2. तीव्र अतिसार (Acute Diarrhoea)
3. तीव्र वमन या छर्दि (Projectile Vomitings)
4. जलाल्पता (Dehydration)
5. दग्ध (Burn & Scald)
6. तीव्र रक्तस्राव (Acute Haemorrhage)
7. तीव्र उदरशूल (Acute Colics)
8. तीव्र श्वासकाठिन्य (Acute Dyspnoea)
9. मूत्रावरोध (Suppression of Urine)
10. हृच्छूल (Angina Pectoris)
11. निम्न रक्तदाब (Hypotension)
12. मूर्च्छा व सन्यास (Syncope & Coma)
13. तीव्र विषाक्तता (Acute Poisoning)
14. आघातज व्रण (Accidental Injury)
15. प्रलाप (Delirium)

उपर्युक्त आत्ययिक अवस्थाओं में उस समय उपलब्ध किसी भी चिकित्सा पद्धति की सद्यः फलदायक औषध दी जा सकती है, क्योंकि उस समय आतुर के जीवन को ही बचाना चिकित्सक का मुख्य कर्तव्य होता है।

आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति में निम्न औषधियों को आत्ययिक अवस्था में सद्यः फलदायी औषधियों के रूप में प्रयुक्त कर सकते हैं–

(अ) जीवन रक्षक औषधियाँ

1. रस सिन्दूर
2. हेमगर्भपोटली रस
3. हेमगर्भपोटली रस
4. सिद्धमकरध्वज रस
5. समीरपन्नग रस
6. बृहत वातचिन्तामणि रस

Scanned with CamScanner

7. योगेन्द्र रस
8. रसराज रस
9. कृष्णचतुर्मुख रस
10. प्रवाल पिष्टी
11. वृद्ध भस्म
12. आमरसुन्दरी वटी

(ब) सद्यः बलप्रद औषधियाँ

1. कस्तूरीभैरव रस
2. त्रैलोक्यचिन्तामणि रस
3. स्वर्णवसन्तमालती रस
4. श्वासकासचिन्तामणि रस
5. महालक्ष्मीविलास रस
6. जयमंगल रस
7. मल्लसिन्दूर
8. वातकुलान्तक रस
9. स्वर्णसूतशेखर रस
10. शतपुटी अभ्रक भस्म
11. कहरवा पिष्टी
12. जहर मोहरा
13. स्वर्ण युक्त ब्राह्मी वटी
14. अमृतोज चूर्ण

(स) रोग प्रतिकारक औषधियाँ

1. संजीवनी वटी
2. अर्कभावित गोदन्ती भस्म
3. कर्पूर रस
4. अमृत धारा
5. अरोग्यवर्धिनी रस
6. रामबाण रस
7. चौमुखवत्सनाभ रस
8. वमनकुठार रस
9. खर्दिरेषु रस
10. मयूरपिच्छ भस्म
11. श्वेत पर्पटी
12. हिंगुलेश्वर रस
13. आनंदभैरव रस
14. बोलबद्ध रस
15. वृक्कशूलान्तक वटी
16. सर्पगन्धा घन वटी
17. कुटजघन वटी
18. अचिन्त्यशक्ति रस
19. कांचनार वटी
20. कनकासव
21. सोमसव
22. अहिफेनासव
23. हिंगुकर्पूर वटी
24. निद्रोदय रस
25. सूचिकाभरण रस
26. आयुष-64 (विषम ज्वर)

8. आदर्श आतुरवृत्त पत्रक (Patient Case History Sheet)

आतुर का इतिवृत्त (History) ज्ञात करना एक कला है जिसे चिकित्सक वर्षों के अनुभवों के पश्चात प्राप्त कर पाता है। आतुरीय इतिवृत्त (Patient Case History Sheet) आतुर से सम्बन्धित चिकित्सकीय व स्वास्थ्य सम्बन्धी घटनाओं का लेखा-जोखा है जो कि एक विशेष क्रमबद्ध रूप में लिखा जाता है। अनुमानतः 80% आतुरों में व्याधि विनिश्चय (Diagnosis) सटीक इतिवृत्त (History) ज्ञात करने से ही हो जाता है। अतः आतुर के रोग का इतिवृत्त लिखना व जानना चिकित्सक का महत्वपूर्ण व आवश्यक कर्तव्य है। अतः एक आदर्श इतिवृत्त (Ideal Case History Sheet) निम्न

बिन्दुओं के आधार पर क्रमानुसार नोट करना चाहिये—

1. आतुर सामान्य परिचय (Biodata of the Patient)

आतुर नाम	बहिरङ्ग क्रमांक
पिता/पति नाम	अन्तरङ्ग क्रमांक
वय (वर्षों में)	शय्या क्रमांक
लिङ्ग	प्रवेश दिनाङ्क
जाति/धर्म	निर्गम दिनाङ्क
	अन्तर्वासी व्याधि विनिश्चय
पता	परिणाम

2. आतुरोक्त प्रमुख व्यथायें-सावधि (Chief Complaints with duration)

नोट—आतुर की सामान्य भाषा में ही लिखना चाहिये। Medical Terms का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

i) .....
ii) .....
iii) .....
iv) .....
v) .....
vi) .....

3. वर्तमान रोग इतिवृत्त (History of present illness)

Scanned with CamScanner

4. पूर्व रोग इतिवृत्त (History of past Illness)

5. पारिवारिक इतिवृत्त (Family History)

माता/पिता
दादा/दादी
नाना/नानी
पति/पत्नी
पुत्र/पुत्री
भाई/बहिन

6. व्यैक्तिक इतिवृत्त (Personal History)

जन्म स्थान-आनूप/जांगल/पर्वतीय/साधारण प्रदेश
प्रायो निवास स्थान-आनूप/जांगल/पर्वतीय/साधारण प्रदेश
शैक्षणिक स्तर-अशिक्षित/प्राथमिक/माध्यमिक/स्नातक/स्नातकोत्तर
व्यवसाय-अतिश्रम साध्य/श्रम साध्य/अश्रम साध्य/निजी/राजकीय/राजनीतिक
सामाजिक आर्थिक स्थिति-निम्न/मध्यम/उच्च वर्ग
वैवाहिक स्थिति-विवाहित/अविवाहित/विधुर/विधवा
आहार स्थिति-शाकाहारी/मांसाहारी/व्यामिश्र (Mixed)-प्रवर/मध्य/अव
(मात्रानुसार) फॉस्टफूड/समुद्रौभोजन
निद्रास्थिति-सम्यक/अति/अल्प/नाश
कोष्ठ स्थिति-क्रूर/मध्य/मृदु
अग्नि स्थिति-सम/विषम/तीक्ष्ण/मन्द
शरीर स्थिति-मेदस्वी/कृश/मध्य/सामान्य काय
व्यसन-चाय/कॉफी/धूम्रपान/मद्य/तम्बाकू/अन्य

7. आर्तव इतिवृत्त (Menstrual History in Females)

रजोदर्शन आयु
रजोनिवृत्ति आयु
मासिक स्राव अवधि (Periodicity) (e.g. 4/28)
आर्तव चक्र-नियमित/अनियमित/अनार्तव/कष्टार्तव/क्षीणार्तव/अल्पार्तव आदि।
अन्तिम मासिक स्राव (LMP)

8. प्रसूति इतिवृत्त (Obstetric History in Females)

विवाह की आयु (Age at Marriage)
वन्ध्यत्व समय (Any Period of infertility)
गर्भ निरोधक प्रयोग (Any Contraceptive use)
पूर्व शिशु (Previous children)-

i) Age at Present
ii) Weight at birth
iii) Term / Preterm
iv) Vaginal / Caesarean
v) Associated Complications (DM, PPH)
vi) Any congenital anomalies

9. चिकित्सकीय-औषधीय इतिवृत्त (Treatment or Drug History)

चिकित्सा प्रकार-आधुनिक/आयुर्वेदिक/होम्योपैथिक/अन्य
औषध सेवन-स्टीराइडस/अनूर्जताशोधी औषध/गर्भ निरोधक औषध/मूत्रल औषध
रक्तचाप नियामक द्रव्य/निद्राप्रद औषध/अन्य (.....)

10. अ) सामान्य भौतिक परीक्षा (General Physical Examination)

काय प्रकार (शरीर)-कृश (Thin)/मध्य (Moderate)/स्थूल (Obese)
रक्ताल्पता (Anaemia)—(Grade +, ++, +++, ++++)
श्यावता (Cyanosis)—(Grade +, ++, +++, ++++)
कामला (Jaundice)—(Grade +, ++, +++, ++++)
नखचिपिटता (Koilonychia)
नखमुद्गरता (Clubbing)
शोफ (Oedema)—एकाङ्ग/सर्वाङ्ग/दबाव सहित (Pitting)/ दबाव रहित (Non Pitting)/हृदजन्य/वृक जन्य/यकृतजन्य।
नख
त्वक्

Scanned with CamScanner

जीवन चिह्न (Vital Signs)

क्रमांक	चिह्न	चिकित्सा पूर्व	चिकित्सा पश्चात
1.	नाड़ी गति प्रति मिनट		
2.	श्वसन गति प्रति मिनट		
3.	तापक्रम (°F/°C)		
4.	रक्तदाब (in mm Hg)		
5.	शरीर भार (in Kg)		

(ब) अष्टविध परीक्षा (रोग बल प्रमाणार्थं)

I) नाड़ी परीक्षा

दोषज—वातज/पित्तज/कफज/वातपित्तज/वातकफज/पित्तकफज/त्रिदोषज

सादृश्य गति—जलौका/सर्प/चातक/मण्डूक/काक/हंस

अन्य—सम/विषम/द्रुत/विलम्बित

—मन्द/मध्य/तीव्र

यति—सम/विषम

संहति—कठिन/मृदु

आकृति—कृश/स्थूल

अन्य

ii) मूत्र परीक्षा

मात्रा—.....ml/प्रतिदिन (24 Hours)

प्रवृत्ति—दिन में....बार, रात्रि में..... बार

वर्ण—पीत/कृष्ण/रक्ताभ/श्वेताभ/आविल/.....

स्वरूप—सपूय/सकृमि/सशुक्राणु/सरक्त/सदाह/सशूल/सज्वर/बिन्दूवत/छिधर/फेन निराम/.....

स्पर्श—शीत/उष्ण/रूक्ष/स्निग्ध/.....

गंध—तीव्र/अल्प/.....

प्रतिक्रिया—अम्लीय/क्षारीय

विशिष्ट गुरुता

अन्य

iii) मल परीक्षा

मात्रा—अल्प/बहुल/सामान्य

प्रवृत्ति—.....बार/प्रतिदिन

वर्ण—श्वेताभ/कृष्णाभ/हरित/रक्ताभ/पीताभ/मिश्रविष्टिभ

स्वरूप—मृदु/कठिन/ग्रथित/सद्रव/सकफ/सरक्त/सकृमि.....

प्रकृति—साम/निराम/जलमग्न/जलतर/सफेन/.....

गंध—सामान्य/तीव्र/अल्प/.....

iv) जिह्वा परीक्षा

वर्ण—रक्ताभ/श्वेताभ/पीताभ/नीलाभ/कृष्णाभ

स्वरूप—सकम्प/कृश/स्थूल/आर्द्र/शुष्क/कंटकपुर्ण/ग्रन्थित/सदुष्क/खर/मलावृत स्वच्छ/साम/निराम/.....

अन्य.....

v) शब्द परीक्षा

स्वरूप—अव्यक्तकूजन/कण्ठकूजन/संघिस्फुटन/गर्दभवत्/बधिर (मूक)/निम्नित/गद्गद् गुरु/सानुनासिक/.....

अन्य.....

vi) स्पर्श परीक्षा (त्वक्)

स्वरूप—मृदु/कठोर/शीत/उष्ण/शुष्क/आर्द्र/रूक्ष/खर/स्निग्ध/सस्वेद/मसृण/सकण्डू सस्राव/संताप/.....

अन्य.....

vii) दृक् परीक्षा (नेत्र)

वर्ण—धूम्रवर्ण/रक्तवर्ण/ताम्रवर्ण/हारिद्र/श्वेत/पीत/....

स्वरूप—सदाह/साश्रु/सकण्डू/सशोफ/अर्ध निमीलित/प्रकाश सहिष्णु/प्रकाश असहिष्णु अन्तःप्रविष्ट/बहिर्कोटर स्थित/.....

दृष्टि दोष—निकटदृष्टिदोष/दूरदृष्टिदोष/अपवर्त्य दोष/तिमिर (Cataract)

अन्य

viii) आकृति परीक्षा

स्वरूप—कृश/स्थूल/ह्रस्व/दीर्घ/सामान्य/.....

अन्य.....

Scanned with CamScanner

(स) दशविध परीक्षा (आतुर बल प्रमाणार्थ)

i) प्रकृति

शारीरिक—वातज/पित्तज/श्लेष्मज/वात पित्तज/वातकफज/पित्तकफज/सन्निपातज

मानसिक—सात्विक/राजस/तामस/....

ii) विकृति—प्रकृति सम समवाय/विकृति विषम समवाय

iii) सार—त्वक्/रक्त/मांस/मेद/अस्थि/मज्जा/शुक्र/सत्वसार

iv) संहनन—प्रवर (सुसहंत)/मध्य/अवर

v) प्रमाण—सम/मध्यम/हीन

vi) सात्म्य (उपशय)—एक रस/मध्य रस (2 से 5 रस)/सर्वरस/अहितकर रस/स्निग्ध

vii) सत्व—प्रवर/मध्य/अवर

viii) आहार शक्ति

(अ) अभ्यवहरण शक्ति—प्रवर/मध्यम/अवर

(ब) जरण शक्ति—प्रवर/मध्यम/अवर

ix) व्यायाम शक्ति—प्रवर/मध्य/अवर/अव्यायामी

x) वय (आचार्य सुश्रुतानुसार)

बाल्यावस्था—1 से 16 वर्ष तक

युवावस्था (विवर्धमानावस्था)—17 से 30 वर्ष

प्रौढ़ावस्था (मध्यम अवस्था)—31 से 60 वर्ष

वृद्धावस्था (जीर्णावस्था)—60 वर्ष से ऊपर

11. (अ) स्रोतस् परीक्षा

i) प्राणवह स्रोतस् (हृदय, फुफ्फुस, रसवाही धमनी)

हृदय—क्लान्त/सशूल/सशब्द/स्तिमित/भारित/....

फुफ्फुस—अवरुद्धमार्ग/कफपूर्ण/शोथयुक्त/सशब्दश्वास/ग्रन्थियुक्त/सशूलश्वास/यक्ष्मायुक्त/.....

ii) उदकवह स्रोतस् (तालु, क्लोम)

जिह्वाशोष/वातुशोष/कण्ठशोष/ओष्ठशोष/अतिपिपासा/अपिपासा/जलोद/.....

iii) अन्नवह स्रोतस् (आमाशय, अन्नवाही धमनी)

आमाशय-आन्त्रादि—सशूल/सार्बुद/मृदु/कठिन/सोदावर्त/विबन्ध/सशूल कठिनता/.....

अन्य—क्षुधा वृद्धि/आध्मान/अरुचि/छर्दि/तृषा/भ्रम/अरुचि/अविपाक/.....

iv) रसवह स्रोतस् (हृदय, रसवहधमनी, शिरा)

शोथ/रुद्धपथ/सग्रन्थि/सशूल/प्रतिचय-युक्त/मृदु/कठिन/उच्छ्वास/गौरव/तन्द्रा/अंगमर्द/ज्वर तम/पाण्डु/क्लैब्य/वली/पलित/अरुचि/अरसज्ञता/.....

v) रक्तवह स्रोतस् (यकृत, प्लीहा, रक्तवाही धमनी)

यकृत—सशूल/सार्बुद/ अपक्रान्त (Fatty degeneration)/ रुद्धपथ/संकुचित (Cirrhosis)/वृद्धि (Megaly)/.....

प्लीहा—सशूल/सार्बुद/संकुचित/वृद्धि/.....

vi) मांसवह स्रोतस् (स्नायु, त्वचा, रक्तवाही धमनी)

सशोथ/मांसशोष (Dystrophy)/अधिमांस/अर्बुद/मांसकील/पूतिमांस/गलगण्ड/गण्डमाला/उपजिह्विका/.....

vii) मेदोवह स्रोतस् (कटि, वृक्क)

स्वेदागमन/स्वेदाधिक्य/तालुशोष/पिपासा/अतिकृश/अतिस्थूल/अतिह्रस्व/अतिदीर्घ/अलोम/अतिलोम/क्षुधातुर/क्षुद्रश्वास/तन्द्रा/प्रनेह/स्फिकस्तनोदरत्वक्त्व/मैथुन सामर्थ्य हीन/..

viii) अस्थिवह स्रोतस्

अध्यस्थि/अधिदन्त/दन्तभेद/दन्तशूल/अस्थिभेद/अस्थिशूल/दन्तविवर्णता/आनवात/सन्धिवात/वातरक्त/अस्थिसुषिरता/.....

ix) मज्जावह स्रोतस्

भ्रम/मूर्च्छा/तमोदर्शन/स्तब्धपर्वणा/.....

x) शुक्रवह स्रोतस् (वृषण, स्तन)

क्लैब्य/अहर्षणम्/शुक्रअप्रवृत्ति/मैथुनअरति/सरक्त शुक्र/सपूय शुक्र/समूय शुक्र/शुक्र विलम्ब प्रवृत्ति/गर्भस्राव/गर्भपात/.....

xi) मूत्रवह स्रोतस् (वस्ति, मेढ्र)

मूत्रनिरोध/मूत्रकृच्छ्र/सशूल/सदाह/अतिसृष्ट/अतिबद्ध/अश्मरी/अष्ठीला/अर्बुद/सशोफ/अवरुद्धपथ/सग्रन्थ/.....

xii) पुरीषवह स्रोतस् (पक्वाशय, गुद)

आनाह/मलदौर्गन्ध्य/मलग्रन्थि/सशूल मलप्रवृत्ति/सरक्तमल/सकृमि मल/सकफ मल/सशब्द/सकृच्छ्र/अल्प/बहुल/विबन्ध/उदावर्त/अर्शांकुर (बाह्य/आभ्यांतर)/पुनः पुनः/....

Scanned with CamScanner

xiii) स्वेदवह स्रोतस्

अस्वेदन/अतिस्वेदन/त्वक्पारुष्य/अतिश्लक्ष्ण/त्वकदाह/रोमांच/स्तब्ध-रोमहर्षण...

xiv) आर्तववह स्रोतस् (गर्भाशय, आर्तववाही धमनी)

वन्ध्यत्व (Infertility)/मैथुनसहिष्णु/अनार्तव/अत्यार्तव/कृच्छ्रार्तव/.....

(ब) सांस्थानिक परीक्षा (Systemic Examination)

निम्न संस्थानों का 5 बिन्दुओं के आधार पर परीक्षण करते हैं—

i) दर्शन परीक्षा (Inspection)
ii) स्पर्शन (Palpation)
iii) अङ्गुलिताड़न (उपण) (Percussion)
iv) श्रवण (उरः व उदर) (Auscultation)
v) प्रश्न (Interrogation)

संस्थान—(जिनका परीक्षण अनिवार्यतः करना चाहिए)

1. पाचनवह संस्थान (Gastro Intestinal Tract)
2. रक्तवह संस्थान (Cardiovascular System)
3. श्वसनवह संस्थान (Respiratory System)
4. मूत्रजनन संस्थान (Urogenital System)
5. केन्द्रीय तन्त्रिका संस्थान (Central Nervous System)
6. परिसरीय तन्त्रिका संस्थान (Peripheral Nervous System)
7. अस्थि/सन्धि संस्थान (Locomotor System)
8. अन्तःस्रावी ग्रन्थि संस्थान (Endocrinological System)
9. अन्य.....

12. निदान पंचक परीक्षा (रोग परीक्षा)

i) निदान

(अ) सामान्य निदान...
(ब) विशिष्ट निदान...

ii) पूर्वरूप

(अ) सामान्य पूर्वरूप...
(ब) विशिष्ट पूर्वरूप...

iii) रूप या लक्षण

(अ) सामान्य रूप...
(ब) विशिष्ट रूप...
(स) प्रत्यात्म रूप...
(द) भेदानुसार/दोषानुसार रूप...

iv) उपशय/अनुपशय (सात्म्य-असात्म्य)

v) सापेक्ष निदान

vi) सम्प्राप्ति घटक

(अ) सामान्य सम्प्राप्ति...
(ब) विशिष्ट सम्प्राप्ति...

दोष.....
दूष्य....
अधिष्ठान....
स्रोतस्.....
स्रोतोदुष्टि लक्षण-अतिप्रवृत्ति/संग/विमार्गगमन/सिराग्रन्थि
आम.....
ओज.....
व्याधि स्वभाव—शीघ्र/चिरकारी

vii) साध्यासाध्यता

viii) i) उपद्रव
ii) अरिष्ट लक्षण

ix) प्रयोगशालीय परीक्षण

(i) Blood-Hb%, ESR, TC, DC
(ii) Urine-Routine/Microscopic
(iii) Stool-Ova/Cyst
(iv) X Ray Chest (PA view)
(v) Ultra Sonography
(vi) Any Other relavent Investigations

13. चिकित्सा सूत्र एवं सिद्धान्त

14. चिकित्सा

Scanned with CamScanner

(अ) शोधन
(ब) शमन— रस/भस्म/पिष्टी/लौह/मण्डूर
— वटी/वटक/मोदक
— चूर्ण/कल्क
— क्वाथ/स्वरस
— आसव/अरिष्ट
— घृत/तैल
— पाक/अवलेह
— रसायन

(स) कल्प चिकित्सा—e.g. जलोदर में-वृहद्दुग्ध कल्प, ग्रहणी में पर्पटी कल्प

15. पथ्यापथ्य—
(अ) आहार जन्य
(ब) विहार जन्य

16. योग व प्राकृतिक उपाय

17. दैनिक प्रगति विवरण (Daily Progress)

दिनाङ्क	प्रगति
.....	.....
.....	.....
.....	.....
.....	.....
.....	.....
.....	.....
.....	.....
.....	.....
.....	.....
.....	.....

हस्ताक्षर
(चिकित्सक)

पंचदश अध्याय

विभिन्न चिकित्सा पद्धतियों के सामान्य सिद्धान्त

विश्व में स्वास्थ्य के क्षेत्र में अनेक चिकित्सा पद्धतियाँ अपनायी जा रही हैं। ये चिकित्सा पद्धतियाँ परम्परागत, गैर परम्परागत, आधुनिक व वैकल्पिक अनेक नामों से जानी जाती हैं। कई चिकित्सा पद्धतियाँ क्षेत्रीय या राष्ट्रीय आधार पर एक-दो देशों में ही सीमित थीं जैसे आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति भारत व नेपाल में, युनानी चिकित्सा पद्धति अरब देश व खाड़ी देशों में, होम्योपैथी जर्मनी में, तिब्बि चिकित्सा पद्धति तिब्बत व भूटान में, एक्यूपंचर चीन व हांगकांग में। लेकिन आज के बदलते परिवेश एवं वैश्वीकरण (Globalisation) के दौर में ये चिकित्सा पद्धतियाँ अपने देशों की सीमायें लाँघकर सम्पूर्ण विश्व में सफलता का परचम फहरा रही हैं। अतः आयुर्वेद के चिकित्सक को इन सभी चिकित्सा पद्धतियों के सामान्य चिकित्सा सिद्धान्त जानना आवश्यक है। वर्तमान समय में प्रचलित मुख्य चिकित्सा पद्धतियाँ निम्नानुसार हैं—

1. योग चिकित्सा (Yoga Therapy)
2. नैसर्गिक (प्राकृतिक) चिकित्सा (Naturopathy)
3. युनानी व तिब्बि चिकित्सा (Unani & Tibbi medicine)
4. सिद्ध चिकित्सा (Siddha Medicine)
5. होम्योपैथी (Homeopathy)
6. आधुनिक चिकित्सा पद्धति (Allopathy/Modern Medicine)
7. रेकी चिकित्सा (Reiki Therapy)
8. चुम्बकीय चिकित्सा (Magnetic Therapy)
9. रंग चिकित्सा (Colour Therapy)
10. संगीत चिकित्सा (Music Therapy)
11. सुगंध चिकित्सा (Aroma Therapy)
12. एक्यूप्रेशर व एक्यूपंक्चर (Accupressure & Accupuncture)
13. हास्य चिकित्सा (Laughing Therapy)

Scanned with CamScanner

14. प्राणिक चिकित्सा (Pranic Therapy)
15. ताली चिकित्सा (Clapping Therapy)
16. सम्मोहन चिकित्सा (Hypnotism Therapy)
17. बायोकेमिक चिकित्सा (Bio-chemic Therapy)

उपर्युक्त चिकित्सा पद्धतियों में से भारतवर्ष में प्रचलित चिकित्सा पद्धतियों "स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण विभाग" (Health and Family Welfare Department) के अधीन (Ayush) विभागान्तर्गत निम्न चिकित्सा पद्धतियाँ समाविष्ट हैं—

A - Ayurveda
Y - Yoga & Naturopathy
U - Unani & Tibbi Medicine
S - Siddha Medicine
H - Homeopathy

उपर्युक्त समस्त चिकित्सा पद्धतियों के सामान्य चिकित्सा सिद्धान्तों को यहां पर क्रमशः वर्णित किया जा रहा है—

1. योग चिकित्सा पद्धति (Yoga Therapy)

प्रस्तावना—मनुष्य ईश्वर की सर्वोत्तम कृति है जो पदार्थ एवं परमात्मा से बना है। सर्वक्षम सृष्टि निर्माण क्रम में पंच तन्मात्राओं से पंचमहाभूत निर्मित हुए। आत्मा के संयोग से निर्जीव पंचमहाभूत सजीव त्रिदोषों में बदले, जीवन प्रारम्भ हुआ, मनुष्य विकसित हुआ। इस मनुष्य के स्थूल घटक दोष-धातु-मल एवं सूक्ष्म घटक आत्मा-इन्द्रियाँ-मन परस्पर इतने संयुग्मित हैं कि स्थूल आत्मा ही शरीर है व सूक्ष्म शरीर ही आत्मा है। जीवन के विकास की कहानी भव प्रधान जगत से भावना प्रधान जगत के बनने की गाथा है। शरीर के स्थूल व सूक्ष्म घटकों का सेतु मन व अहंकार है। यह मन स्थूल भावों (दोष-धातु-मल) से भोग कराता है तो सूक्ष्म भावों (आत्मा-इन्द्रिय-मन) से योग।

आजकल यह मन भोग की तरफ ज्यादा दिखाई देता है एवं विषयों में लिप्त रहता है जिससे विषयासक्ति, काम, क्रोध, संमोह, स्मृति विभ्रम, बुद्धिनाश, विनाश की प्रक्रिया अनवरत चलती रहती है। यही प्रक्रिया सभी दुःखों का कारण है। चित्त की वृत्तियाँ अनियन्त्रित व विषय भोग परक हो जाती हैं जिससे दुःख उत्पन्न होते हैं। अतः दुखों से बचने का उपाय योग के माध्यम से 'चित्तवृत्तिनिरोधः' कहकर वर्णित किया गया है।

योग व आयुर्वेद एक दूसरे के पूरक, पोषक व प्रेरक हैं। योग से मन को एवं आयुर्वेद से शरीर को स्वस्थ व प्रसन्न रखा जा सकता है। आयुर्वेद आयु का वेद है। आयु जीवन का

नाम है। आयु को हितायु, अहितायु, सुखायु, दुःखायु इस प्रकार विभक्त किया जाता है। सुखायु-दुःखायु व्यक्ति परक है जबकि हितायु-अहितायु समाजपरक है। व्यक्ति स्वयं स्वस्थ रहे (सुखायु) और समाज को भी सुखी रखे (हितायु) यह आज के समाज की आवश्यकता है। दुःखायु और अहितायु वैकारिक हैं। अतएव योग मानव जीवन की सर्वोत्तम उपलब्धि है। पुरुषार्थ चतुष्टय (धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष) की प्राप्ति व अवाप्ति का साधन योग ही है। अतः आयुर्वेद के अध्येता को 'योग' एवं इसके सिद्धान्तों का ज्ञान होना अति आवश्यक है।

योग शब्द की व्युत्पत्ति व निष्पत्ति

(i) योग शब्द रुधादिगणीय युज् धातु से संयोगार्थ में बनता है। 'युजिर योगे'-संयोग अर्थ में युज् धातु का प्रयोग होता है। 'युज्यते असौ इति योगः' यह योग की व्युत्पत्ति होती है, अर्थात् जो आत्मा को परमात्मा से मिलाये उस प्रक्रिया को योग कहते हैं।

करण कारक में युज् धातु से 'युज्यते अनेन इति योगः' यह व्युत्पत्ति भी बनती है, अर्थात् जिस प्रक्रिया से आत्मा परमात्मा से संयुक्त हो जाये उसे योग कहते हैं। योग जोड़ता है तोड़ता नहीं। यह बात अलग है कि बिना टूटे दूसरे से जुड़ा नहीं जा सकता। वह प्रक्रिया जिससे चित्त (मन) अपनी वृत्तियों को इन्द्रिय विषयों से हटाकर परमात्मा की ओर लगाये, परमात्मा से जोड़े उसे योग कहते हैं।

(ii) योग शब्द सुरादिगणीय युज् धातु से भी बनता है जो संयमन के अर्थ में है। 'युज्यते एतत् इति योगः'-कर्म कारक में बनी इस व्युत्पत्ति से यह भाव निकलता है कि योग मन की वह अवस्था है जब उसकी वृत्तियों में एकाग्रता आ जाती है। एकाग्रता आने से चंचल मन वश में आ जाता है और तब ध्यान तथा समाधि द्वारा उसे परमात्मा पर केन्द्रित किया जा सकता है। 'संयमन' का अर्थ 'वश में करना' है। योग 'युज् संयमने' से बनता है।

(iii) 'दिवादीगणीय युज् समाधौ' धातु से भी योग शब्द बनता है। 'युज्यते अस्मिन इति योगः' इस व्युत्पत्ति से अधिकरण कारक में योग का अर्थ 'समाधि' होता है। जिसमें (परमात्मा में) मन लगाया जाये उसे (उसकी प्रक्रिया को) योग कहते हैं। समाधि का अर्थ है-मन का (परमात्मा में) सम्यक् स्थापन। महर्षि व्यास ने 'योगः समाधिः' कहकर योग का अर्थ समाधि माना है।

इस प्रकार उपर्युक्त तीनों व्युत्पत्तियों में योग शब्द 'युजिर योगे', 'युज् संयमने' तथा 'युज् समाधौ' धातुओं से बनता है। इसलिये योग का अर्थ निम्न प्रकार किया जा सकता है—

Scanned with CamScanner

1. समाधि
2. संयोजन
3. जोड़ना
4. जोड़ना
5. संयोग या मेल
6. ध्यान
7. उपाय
8. स्मृति
9. साधन
10. युक्ति

इस प्रकार योग का अर्थ (शाब्दिक) हुआ-जुड़ना[1]। योग बीज वो अनुभव जब इस अपार, रस व चेतन, सूर्य व चन्द्रमा, जीवात्मा व परमात्मा आदि विपरीत गुणों के एकीकरण को योग कहते हैं। योग मानसिक, शारीरिक तथा आध्यात्मिक विकास का क्रम है।

योग परिभाषा

भगवद् गीता में विभिन्न सन्दर्भों में योग को भिन्न-भिन्न परिभाषायें दी गयी हैं जिनमें निम्न तीन महत्वपूर्ण हैं—

1. दुःख संयोग के वियोग को "योग" कहा है। अर्थात् वेदना से सर्वथा मुक्त हो जाना[2]।
2. "योग" कर्मों में कुशलता का नाम है। कर्म-कौशल का अभिप्राय यह है कि कर्म इस तरह किए जायें कि वे बन्धन का कारण न बनें। यही कर्मयोग कहलाता है[3]।
3. फल की तृष्णा से रहित होकर किए जाने वाले कर्मों की सिद्धि और असिद्धि के समत्व बुद्धि रखना ही "योग" है[4]।

योगशास्त्र के प्रमुख ग्रन्थ 'पातञ्जल योग दर्शन' के अनुसार चित्तवृत्तियों के निरोध को ही "योग" कहते हैं। चित्तवृत्ति का तात्पर्य चित्त या मन के विभिन्न भावों से है[5]।

योग के भेद

योगशास्त्र के मौलिक ग्रन्थ, उपनिषद्, भगवद्गीता व पातञ्जल योग दर्शन के अनुसार योग के निम्न भेद हैं—

1. ज्ञान योग
2. कर्म योग
3. भक्ति योग
4. मन्त्र योग

1. योगः संयोगमित्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः। (अमरकोश 3/3/22)
2. तं विद्याद्दुःखसंयोग वियोगं योगसंज्ञितम्। (गीता 6/23)
3. योगः कर्मसु कौशलम्। (गीता 2/50)
4. समत्वं योग उच्यते। (गीता 2/48)
5. योगश्चित्तवृत्ति निरोधः। (पातञ्जल योग दर्शन 1/2)

5. लय योग
6. हठ योग
7. राज योग
8. ध्यान योग
9. अभ्यास योग
10. ब्रह्म योग
11. सांख्य योग

अन्य ग्रन्थों में समाधि योग, क्रियायोग, हंसयोग, सुरति योग आदि का भी उल्लेख मिलता है। आधुनिक समय में महर्षि श्री अरविन्द के पूर्ण योग, महात्मा गाँधी के अनासक्ति योग, पं. गोपी कृष्ण के कुण्डलिनी योग तथा महर्षि महेश योगी के भावातीत ध्यान योग का भी यहाँ उल्लेख करना आवश्यक है।

उपर्युक्त सभी भेदों को मुख्यतः ज्ञान योग, कर्म योग, भक्ति योग में विभक्त किया जाता है। मुख्यतः योग की दो धारायें हैं जिनका यौगिक चिकित्सा से निकट सम्बन्ध है। ये दो धारायें निम्न हैं—

I) हठयोग-शारीरिक योग

II) राजयोग-आध्यात्मिक योग

राजयोग को ही उत्तम कोटि का योग माना जाता है।

हठयोग

हठ शब्द में 'ह' अक्षर से सूर्य नाड़ी या पिंगला नाड़ी एवं 'ठ' अक्षर से चन्द्रनाड़ी या इड़ा नाड़ी अभिप्रेत है। इस प्रकार सूर्य व चन्द्र के योग से हठयोग बनता है[1]। जो पिण्ड (शरीर) में है वह ब्रह्माण्ड (बाह्य जगत्) में है एवं जो ब्रह्माण्ड में है वह पिण्ड में है। इस तरह पिण्ड व ब्रह्माण्ड के सम्बन्धों में मनुष्य पर बाह्य जगत् के पड़ने वाले प्रभावों का संकेत है। चन्द्र संतर्पक व सूर्य अपतर्पक भाव है। चन्द्र कफ व सूर्य पित्त है। ये दोनों मानव शरीर में वायु (योगवाही) द्वारा नियंत्रित होते हैं। प्राणवायु को हम ग्रहण करते है व अपानवायु का निष्कासन करते हैं। हठयोग में प्राण-अपान की क्रिया का सम्यक् नियमन किया जाता है। प्राण-निरोध से मन का निरोध करना हठयोग कहलाता है। हमारे शरीर में इड़ा व पिंगला नाड़ियाँ है तथा कई नाड़ी चक्र हैं। इन सभी के माध्यम से कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करके मूलाधार चक्र (अचान) से क्रमशः ऊपर आज्ञा चक्र तक ले जाने की विधियाँ हठयोग में आती हैं। विभिन्न आसन एवं मुद्राओं का अभ्यास हठयोग में किया जाता है। शरीर व मन परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। शरीर के माध्यम से मन को प्रभावित करके चित्तवृत्ति निरोध करना ही हठयोग है। अतः हठयोग शरीर साधना प्रधान पद्धति है। इसे राजयोग की प्राप्ति के उपाय के रूप में स्वीकार किया गया है[2]।

1. हकारः कीर्तितः सूर्यः ठकारस्तत्र उच्यते। सूर्याचन्द्रमसोर्योगात् हठयोगो निगद्यते। (हठयोग प्रदीपिका)
2. सर्वेषामपि हठाभ्यासो राजयोगस्यसाधनम्। (हठयोग प्रदीपिका 1/69)

Scanned with CamScanner

हठयोग के अंग

हठयोग के निम्न अंग हैं—

1. षट्कर्म
2. आसन
3. प्राणायाम
4. बन्ध
5. मुद्रा
6. महामुद्रा
7. नादानुसंधान

शरीर की आन्तरिक शुद्धि के लिये षट्कर्मों का प्रयोग किया जाता है। आसनों के अभ्यास से शरीर में दृढ़ता, स्थिरता व सामर्थ्य की वृद्धि होती है। प्राणायाम से फेफड़ों की क्षमता व शक्ति बढ़ती है। मुद्रा-महामुद्रा व बन्धों के अभ्यास से शरीर सुसंगठित, स्वस्थ तथा स्वनियंत्रित होकर राजयोग की साधना के योग्य बन जाता है।

हठयोग व षट्कर्म

जिस प्रकार आयुर्वेदीय चिकित्सा पद्धति में शरीर के शोधन के लिये पंचकर्म का प्रयोग बताया गया है, तत्पश्चात् रसायन, वाजीकरण व शमन चिकित्सा का प्रयोग करने से शरीर रोग रहित व स्वस्थ होता है उसी प्रकार शरीर साधना प्रधान हठयोग में भी शरीर की आन्तरिक शुद्धि के लिये षट्कर्मों का प्रयोग वर्णित है। इससे काया का शोधन होता है। इनमें किसी विशेष यन्त्र या औषधि की आवश्यकता नहीं होती है। जिन साधकों के शरीर में कफ दोष (श्लेष्मा दोष) व मेद धातु की वृद्धि हो उन्हें षट्कर्मों का प्रयोग करना चाहिये। जिनके शरीर में दोष-धातु-मल की समावस्था हो उन्हें यह कर्म आवश्यक नहीं है।

ये षट्कर्म निम्न हैं[1]—

1. नौलिकर्म
2. धौतिकर्म
3. वस्तिकर्म
4. नेतिकर्म
5. कपालभाति
6. त्राटक

1. नौलिकर्म

यह कर्म उदर प्रदेश की पेशियों व अङ्गों का व्यायाम है। इस कर्म के सम्यक् अभ्यास पर ही वस्तिकर्म व षडोली क्रिया आधारित है। यह कर्म 'उड्डीयान बन्ध' की अवस्था में किया जाता है। इस बन्ध में उदर की Rectus abdominus मांसपेशियों का दैर्घिक संकुचन किया जाता है। उड्डीयान बन्ध में उदर को उसके सम्पूर्ण कोष्ठाङ्गों (यकृत-प्लीह-आमाशय-पित्ताशय-अग्नाशय-आन्त्र) सहित अधिक से अधिक पीछे

1. मेदःश्लेष्माधिकः पूर्वं षट्कर्माणि समाचरेत्। अन्यस्तु नाचरेत् तानि दोषाणां समतामतः॥ (हठयोग प्रदीपिका 2/22)
2. धौतिर्बस्तिस्तथा नेतिस्त्राटकं नौलिकं तथा। कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि प्रचक्षते॥ (हठयोग प्रदीपिका)

की ओर (Posteriorly) खींचा जाता है। इस प्रकार के संकोचन द्वारा उदर की पेशियों का संचालन किया जाता है। यही नौलि कर्म की मौलिक अवधारणा है[1]।

विधि

प्रातःकाल निरन्न कोष्ठ की अवस्था में इसे करते हैं। दोनों पैरों को एक हाथ की दूरी पर रखकर खड़े हों तत्पश्चात् आगे की ओर झुककर दोनों हथेलियों को दोनों घुटनों के ऊपर जंघा पर टिका दें, जिससे जंघाओं पर शरीर का भार आ जाये। गर्दन व कन्धों को सीधा रखें। अब फेफड़ों से श्वास को बाहर निकाल दें। फिर गर्दन को थोड़ा नीचे झुकाकर उदर की पेशियों को शिथिल कर पीछे की ओर ले जाना चाहिये। साधक को उदर के अङ्ग प्रत्यङ्गों को दायें-बायें भी संचालित करना चाहिये।

लाभ

नौलिकर्म सम्पूर्ण अन्नवह स्रोतस् (महास्रोत) को स्वस्थ रखता है। उदर गत कोष्ठाङ्गों की क्रिया को गतिशील बनाता है। इसके नियमित प्रयोग से मन्दाग्नि, अजीर्ण, उदावर्त आदि रोग दूर होते हैं। प्रजनन संस्थान पर भी प्रभाव पड़ता है, मानसिक धर्म सम्बन्धी विकार दूर होते हैं। जनन्नाङ्गों की क्रियाशीलता बढ़ती है। अतः नौलिकर्म को सर्वरोग हर कहा गया है[2]।

निषेध

नौलि कर्म को निम्न स्थितियों व रोगों में नहीं करना चाहिये—

1. चालीस वर्ष से अधिक आयु होने पर योग-चिकित्सक की सलाह से करें।
2. चौदह वर्ष से कम की आयु के कौमार (बच्चे) इसे न करें।
3. आन्त्र क्षय (Intestinal Tuberculosis)
4. जीर्ण आन्त्रपुच्छप्रदाह (Chronic Appendicitis)
5. उदररोग (Ascites, Hepato splenomegaly)
6. उच्च रक्तचाप (Hypertension)
7. भोजन करने के तत्काल बाद
8. तनाव व अवसाद की अवस्था में

1. अथातो घेरण्डेनोक्तं षट्कर्मसाधनम्। कर्तव्यं प्रथमेनैव नौलिः सिद्धैः प्रशंसितः॥ (हठयोग प्रदीपिका 2/33)
2. सर्वरोगविनाशश्च जठराग्निविवर्धनम्। नौलिकर्मपरं प्राहुरतिगुह्यं हि योगिनाम्॥ (हठयोग प्रदीपिका)

Scanned with CamScanner

2. धौति कर्म

यह कर्म आमाशय प्रक्षालन व शोधन की विधि है। इसमें सुखोष्ण लवणोदक पिलाकर वमन कराया जाता है। वस्त्र खण्ड का भक्षण कर फिर बाहर निकालकर भी आमाशय शोधन किया जाता है। इसके मुख्यतः निम्न दो भेद होते हैं—

1. वस्त्र धौति
2. जल धौति या दण्ड धौति

धौति कर्म के अन्य भेद भी वर्णित हैं यथा—

1. दन्त धौति	2. नासिका धौति
3. कर्णरन्ध्र धौति	4. कर्णरन्ध्र धौति
5. जिह्वा धौति	6. गजकरणी।

1. वस्त्र धौति

वस्त्र धौति में साधक मृदु, स्वच्छ (Aseptic) 21 इंच लम्बे व 2.5 इंच चौड़े वस्त्रखण्ड या धौति को धीरे-धीरे मुख मार्ग से निगलता है। इस वस्त्र का एक छोर पकड़ रखना चाहिये। धौति या वस्त्र भक्षण के 10 मिनट बाद नौलि चालन करना चाहिये। तत्पश्चात् वस्त्रखण्ड को बाहर निकाल देना चाहिये। इस क्रिया को शान्त मन से खड़े होकर ही करना चाहिये। इस प्रक्रिया को सप्ताह में एक बार क्रिया कोष्ठ ही करना चाहिये।

लाभ—इस प्रक्रिया में श्लेष्मा (कफ) व म्यूकस वस्त्र के साथ चिपककर बाहर निकल आते हैं और आमाशय का शोधन हो जाता है।

2. जल धौति

इसमें सुखोष्ण लवणोदक को भरपेट पिलाकर उदर में मुखमार्ग से रबर की नली डालकर बाहर निकाला जाता है। इस क्रिया को 'दण्ड धौति' इसलिये कहते हैं कि प्राचीन काल में किसी वृक्ष की पतली, मृदु टहनी को गले में डालकर जल को बाहर निकाला जाता था। इसमें लवणोदक द्वारा आमाशय का प्रक्षालन होकर श्लेष्मा व म्यूकस शरीर के बाहर निकल आता है।

लाभ—जल धौति के नियमित अभ्यास से कफ पित्तज विकार, अम्लपित्त, वक्षुः पीड़ा-आमाशय के रोग शान्त होते हैं।

जिस प्रकार हाथी अपनी दन्त शुण्ड से जल खींचकर पुनः बाहर फेंक देता है उसी प्रकार इसमें भी 'गजकरणी' करता है।

निषेध—धौति कर्म को अन्त्रपुच्छशोथ, चक्षुःशोथ, जलोदर, परिणामशूल, अजीर्ण शूल, उदावर्त, प्लीहदोष, उदर-शोथ, उदरावरणकलाशोथ या उदरशूल की अवस्था में नहीं करना चाहिये।

3. वस्ति कर्म

महास्नेहात् (पाचनयन्त्रसंस्थान) के अधोभाग व पक्वाशय का शोधन करने की क्रिया वस्तिकर्म है। हठयोग में इसके निम्न दो भेद वर्णित हैं—

1. पवन वस्ति
2. जल वस्ति

1. पवन वस्ति

पूर्व में वर्णित नौलि कर्म द्वारा अपान वायु (अधो वायु) को ऊपर को ओर खींचना एवं उसका संचालन करना ही 'पवन वस्ति' है। पवन वस्ति का अभ्यास ठीक से हो जाने के पश्चात् ही जल वस्ति करना आसान होता है, क्योंकि जल को अधोवायु के सहारे ही ऊपर खींचा जाता है।

2. जल वस्ति

जल वस्ति में 6 अंगुल लम्बी एवं अन्दर से कनिष्ठिका अंगुली बराबर प्रवेश योग्य छिद्र वाली रबर या धातु की नली ली जाती है जिसे बस्तिनेत्र कहते हैं। इस बस्तिनेत्र में घृत या तैल लगाकर स्निग्ध कर लिया जाता है जिससे वह आसानी से गुदा में प्रविष्ट हो जाता है। अब इसे 4 अंगुल तक गुदा में प्रविष्ट कराया जाता है फिर व्यक्ति को एक शुद्ध व स्वच्छ (Aseptic) जल से भरे टब में इस तरह उकड़ू बैठाया जाता है कि जल में उसकी नाभि तक का भाग डूब जाय। अब उपरोक्त पवन वस्ति विधि से जल ऊपर आन्त्रों की ओर खींचा जाता है। इस तरह जल ऊपर चढ़ जाने पर फिर पैरों कर्म द्वारा उदर पेशियों का संचालन कर जल को बाहर निकाल दिया जाता है। इस विधि से पक्वाशय व आन्त्र प्रक्षालन को ही "जल वस्ति" कहते हैं। जल को बाहर निकालने के लिये साधक को पश्चिमोत्तासन में खड़ा करना चाहिये।

लाभ

उपर्युक्त दोनों वस्तियों के प्रयोग से मल, आमदोष, कृमि, अजीर्ण, म्यूकस, श्लेष्मा बाहर निकल जाते हैं। इससे गुल्मरोग, प्लीहदोष, कृमि रोग, अग्निमांद्य एवं उदावर्त दूर होता है।

निषेध

वस्ति कर्म को संग्रहणी, आनाह, अर्श, भगन्दर, अन्त्रक्षय, गुदपाक, गुदशोथ, गुदपिदार, वैत्तिक विकार, तमकश्वास एवं आम की अवस्था में नहीं करना चाहिये।

4. नेतिकर्म

नेतिकर्म से नासिका, ऊर्ध्व श्वासपथ व ऊर्ध्व अनुगत अंगों का शोधन होता है। इसके निम्न दो भेद वर्णित हैं—

Scanned with CamScanner

1. जलनेति 2. सूत्रनेति या घर्षण नेति

1. जलनेति

जलनेति में धातु या प्लास्टिक का पात्र (Pot) लेकर उसमें आधा से एक लीटर शुद्ध स्वच्छ (Aseptic) जल भरकर, इस जल को दायें नासा मार्ग से शरीर के अन्दर की ओर खींचा जाता है। तत्पश्चात् बायें नासा मार्ग से उस जल को शरीर से बाहर निकाल देना चाहिये। इसके पश्चात् विपरीत नासा मार्ग से भी क्रमशः यही प्रक्रिया दोहरायें। इसे को 'जलनेति' कहते हैं।

लाभ

जलनेति के नियमित अभ्यास करने से नेत्र ज्योति का वर्धन होता है। ऊर्ध्वजत्रु व्याधियाँ दूर होती हैं।

निषेध

तीव्र (Acute) नेत्र रोगों, अम्लपित्त तथा ज्वरावस्था में जलनेति का निषेध है।

2. सूत्रनेति

सूत्रनेति में कपड़े या धागे के एक शुद्ध, स्वच्छ (Aseptic) सूत्र या पतले रबर के कैथेटर (No.6) का प्रयोग किया जाता है। सूत्र या कैथेटर को दायें नासामार्ग से शरीर के अन्दर डालकर बायें नासा मार्ग को अंगुली से बन्द करके श्वास ऊपर की ओर खींचने से वह गलमार्ग में चला जाता है। फिर उसे मुँह से खींचकर उसके दोनों अन्तिम छोरों को पकड़कर घर्षन करना चाहिये। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को पुनः बायें नासा मार्ग से करना चाहिये।

लाभ

इससे कपाल शुद्धि होती है, दृष्टि का प्रसादन होता है और ऊर्ध्व जत्रुगत रोग नष्ट होते हैं।

निषेध

सूत्रनेति को तीव्र नासा शोथ, नवप्रतिश्याय, नासापाक, एवं दाह की अवस्था में न करें।

5. कपालभाति कर्म

यह प्राणायाम का ही एक प्रकार है। इसमें रेचक-पूरक प्राणायाम को लुहार की भस्त्र, (धौंकनी) के समान तेज गति से सम्पादित किया जाता है[1]।

लाभ

इसके नियमित अभ्यास से प्राणवह स्रोतस् व फुफ्फुस में एकत्रित श्लेष्मा दोष मुक्त

1. भास्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौ ससम्भ्रमौ। कपालभातिर्विख्याता कफदोषविशोषणी॥

(हठयोग प्रदीपिका)

जाता है। फुफ्फुस सबल होते हैं। इससे यातनाड़ी संस्थान व पाचन संस्थान को भी बल मिलता है एवं पाचन शक्ति बढ़ती है।

निषेध

उरःक्षत, क्षतक्षीण, राजयक्ष्मा, रक्तपित्त, अम्लपित्त, छर्दि, हृद्रोग, स्वाभेद, अनिद्रा, ज्वर एवं हृद दौर्बल्य आदि रोगों में कपालभाति कर्म का अभ्यास न करें।

6. त्राटक कर्म

किसी शान्त स्थान पर एकाग्र मन से किसी सूक्ष्म वस्तु को लगातार अश्रुपात होने तक देखते रहना "त्राटक" कहलाता है। इसके निम्न तीन भेद वर्णित हैं[1]—

1. आन्तर त्राटक

नेत्रों को बन्द कर व मन को एकाग्र कर हृदय या भ्रूमध्य प्रदेश पर एकटक ध्यान लगाने को आन्तर त्राटक कहा जाता है।

2. बाह्य त्राटक

सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र विशेष या किसी दूरस्थ लक्ष्य पर दृष्टि कर एकटक ध्यान लगाने को बाह्य त्राटक कहते हैं।

3. मध्य त्राटक

श्वेत कागज पर लिखे ओऽम् (ॐ), स्वस्तिक (卐) या किसी अन्य चिह्न पर अथवा नासिकाग्र समीपस्थ किसी लक्ष्य पर दृष्टि को एकटक लगाने की प्रक्रिया को मध्य त्राटक कहा जाता है।

त्राटक के अभ्यास के पूर्व नेत्र व्यायाम करना हितकर होता है। प्रातः काल इस कर्म का अभ्यास करना चाहिये।

लाभ

निरन्तर एक वर्ष तक त्राटक का अभ्यास करने से संकल्प सिद्धि होने लगती है और व्यक्ति को दिव्यदृष्टि भी प्राप्त होने लगती है।

निषेध

त्राटक कर्म को मस्तिष्क दौर्बल्य, नेत्रदाह, नासिकादाह, अतिदुर्बल व्यक्ति एवं जीर्ण रोगों में न करें।

हठयोग व यन्त्र, मुद्रा, महामुद्रा

षट्कर्म के अतिरिक्त तीन प्रकार के यन्त्र, बारह प्रकार की मुद्रा एवं दश प्रकार की

1. निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः। अश्रुसम्पातपर्यन्तमाचार्यैस्त्राटकं स्मृतम्।

(हठयोग प्रदीपिका)

Scanned with CamScanner

महामुद्रा भी योग शास्त्र में वर्णित है[1]।

बन्ध

विभिन्न अंगों के मार्ग को मांसपेशियों के संकोचन द्वारा बन्द करना ही बन्ध कहलाता है। इसका उद्देश्य सुषुम्ना (Spinal Cord) के द्वार को ढँककर कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत करना है। बन्धों में निम्न तीन बन्ध प्रमुख हैं—

1. **उड्डियान बन्ध**

यह बन्ध खड़े होकर किया जाता है। इसमें साधक आगे को झुककर महाप्राचीरा पेशी (Diaphragm) को अन्दर की ओर खींचते हुये ऊपर को ओर उठाता है। इसमें उदर की सम्पूर्ण पेशियों व महाप्राचीरा पेशी का व्यायाम होता है। प्राण का हृदय स्थान सुषुम्ना में उड्डान जाता है। प्राण के उड्डयन का हेतु होने से इसे उड्डियान बन्ध कहते हैं। इसके नियमित अभ्यास से अग्निवृद्धि, नाभिशोधन एवं वायु शुद्धि होती है। इसके अभ्यास से पाचन संस्थान, रक्त वह संस्थान व प्राणवह संस्थान पर प्रभाव पड़ता है।

2. **मूल बन्ध**

यह शरीर के अधो भाग (अपान क्षेत्र) में सम्पादित किये जाने वाला बन्ध है। इस बन्ध का अभ्यास साधक को सदैव "सिद्धासन" अवस्था में ही करना चाहिये। इस बन्ध में दोनों उपस्थेन्द्रिय की एड़ियों को गुदामार्ग व जननेन्द्रिय के बीच दबाते हुये योनिपेशि को संकुचित करके अपानवायु को ऊर्ध्व भाग की ओर भेजा जाता है[2]। इसके निरन्तर अभ्यास से अपानवायु ऊर्ध्वमार्ग को प्राप्त होकर समान वायु व पाचक पित्त को लिए हुए, बढ़ाकर जठराग्नि प्रदीप्त करता है। जठराग्नि प्रदीप्ति पश्चात् कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होती है।

3. **जालन्धर बन्ध**

यह शरीर के ऊर्ध्व भाग (उदान् क्षेत्र) में सम्पादित किये जाने वाला बन्ध है। इस बन्ध की सहायता से ही कुम्भक प्राणायाम किया जाता है। इस बन्ध में गल प्रदेश (कण्ठ, स्वरयन्त्र, ऊर्ध्व श्वास पथ) का आकुंचन करते हुए हनु को वक्ष पर टिका लिया जाता है। इससे सुषुम्ना के द्वार को ढँककर कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत किया जाता है। हठयोगप्रदीपिकाकार ने इस बन्ध को जरामरण नाशक कहा है[3]।

मुद्राओं में ज्ञानमुद्रा, सिंहमुद्रा, योगमुद्रा, योनिमुद्रा, खेचरी मुद्रा, महा मुद्रा प्रमुख हैं।

यहाँ पर संक्षेपतः षटकर्मों व बन्धों का वर्णन किया गया है। आसन, प्राणायाम, महामुद्रा, मुद्रा का विस्तृत वर्णन योग-शास्त्र के ग्रन्थों में देखें। ग्रन्थ विस्तार को देखते हुए इनका वर्णन यहाँ संक्षेपतः किया जा रहा है।

---

1. पार्ष्णिभागेन सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयेत्तथा। उड्डियानाख्यमेतत्तु प्रोच्यते योगिभिः सदा॥
करणं विपरीतायाः प्रथमेनैव सर्वतः। ह्यनेन हि सुखादाशु जरामरणनाशनम्॥
(हठयोग प्रदीपिका 3/57)
2. यदा वेत्ति सुषुम्नायां प्राणस्तूर्ध्वगतो भवेत्। तदाख्यमुत्तमं बन्धं मूलबन्धं तु योगिनः समुदाहृतः॥ (हठयोग प्रदीपिका 3/61)
3. पीड्यादधो हनुं सम्यक् योनिमाकुञ्चयेद् गुदम्। जालन्धरे कृते बन्धे षोडशाधारबन्धनः। जरामृत्युविनाशाय जालन्धरमुदाहृतम्॥
(हठयोग प्रदीपिका 3/70)
4. कण्ठमाकुञ्च हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम्। बन्धो जालन्धराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः॥
(हठयोग प्रदीपिका 3/71)

राजयोग

राजयोग को ही आध्यात्मिक योग कहा गया है। इसे करने के पूर्व हठयोग में निष्णात व पारंगत होना आवश्यक है। यह मानव के अन्तःकरण में निहित ज्ञानपुंज के मूल को अपनी संघर्षशील, प्रसादपूर्ण ऊर्जस्विता से संवर्धित करता है। मनुष्य के जीवन को सुखमय और शांतिमय बनाने के लिए मानव मन में अन्तर्निहित शक्तियों का रहस्योद्घाटन करना और मन में शिव संकल्पों का भरण करना आवश्यक है। इससे मनुष्य एक आध्यात्मिक प्राणी के रूप में उदित होता है, तब उसमें ब्रह्मशक्ति व संस्कृति का अभिनिवेश होता है। तत्पश्चात् व्यक्ति निर्भय, चरित्रवान्, दृढ़शक्ति सम्पन्न, सत्कर्ता, तपस्वी, सरल हृदय, अहिंसक, सत्यवक्ता, अक्रोधी, त्यागी, उदार, ज्ञानवान, तेजस्वी, क्षमाशील एवं धैर्यवान देह-मन का हो जाता है। इस सांस्कृतिक निधि के सक्रियण से मन निर्विकार होता है और ऐसे मन को वश में रखने की जो विधि है उसे "राजयोग" कहते हैं। जैसे- शारीरिक स्वास्थ्य के संतुलन की पद्धति हठयोग है वैसे ही मानसिक स्वास्थ्य के सन्तुलन की पद्धति राजयोग है। कुछ आचार्यों ने 'मन' को इंद्रियों का स्वामी बनाते हुए मन के योग (राज) अर्थात् मनो विजय को राजयोग माना है। वस्तुतः महर्षि पातञ्जल द्वारा प्रतिपादित अष्टाङ्ग योग ही राजयोग है। यह अष्टाङ्ग योग राजयोग की साधना को कहा है। इस अष्टाङ्ग योग में समाधि को उच्चतम उपलब्धि माना गया है। यह अष्टाङ्ग योग निम्न हैं[1]—

अष्टाङ्ग योग

योग के आठ अङ्ग निम्न प्रकार हैं[2]—

1	यम	Ethical Practices
2	नियम	
3	आसन	Physical practices
4	प्राणायाम	
5	प्रत्याहार	Sensorial practices
6	धारणा	Meditative practices
7	ध्यान	
8	समाधि	

उपर्युक्त में यम, नियम, आसन व प्राणायाम को बहिरंग योग (External yoga) तथा धारण, ध्यान व समाधि को अंतरंग योग (Internal yoga) कहते हैं। इन सोपों को

---

1. अथातो ..... भवति॥ (योग 1/1-3)
2. यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधयोऽष्टावङ्गानि॥
(पातञ्जल योग दर्शन 2/29)

Scanned with CamScanner

संयम भी कहा जाता है। प्रत्याहार को दोनों के बीच की एक महत्वपूर्ण व सेतु मान गया है[1]। महर्षि पतञ्जलि ने इस विषय पर ध्यान देते हुए कहा है कि अहिंसा योग की साधना सम्पन्न करने के बाद भी किया समुचित प्रत्याहार के अंतर्गत योग साधना सम्पन्न नहीं है। यह दोष साधक चित्तशुद्धि करक होने से सम्पूर्ण मानव व्यक्तित्व में सुधार लाता है, इसलिए यह बचाती है (As a preventive medicine) अर्थात् योग साधना का निर्धारित साधक होने के रोकथाम का महत्वपूर्ण उपाय हो सकता है, यह भी विशेष रूप से मानस जन्य मनोदैहिक (Psycho-somatic disorders) रोगों के लिए। अतः योग को पूर्ण साधक के लिए इन आठों अङ्गों का क्रमशः अभ्यास आवश्यक है। इन सभी का क्रमानुसार वर्णन निम्न प्रकार है—

1. यम

यह उच्च स्तर का मन-वचन व कर्म से किया जाने वाला शिष्टाचार है। यह अष्टाङ्ग योग का प्रथम सोपान है। महर्षि पतञ्जलि ने इसके निम्न पाँच भेद बताये हैं।-

(i) अहिंसा	—	हिंसा न करना
(ii) सत्य	—	सदैव सच बोलना
(iii) अस्तेय	—	चोरी न करना
(iv) ब्रह्मचर्य	—	इंद्रिय नियंत्रण
(v) अपरिग्रह	—	संचय प्रवृत्ति या लोभ का अभाव।

(i) अहिंसा— प्रमाद के योग से जीवमात्र के प्राणों का हरण करना हिंसा है और उससे विपरीत अहिंसा। दूसरे शब्दों में किसी भी प्राणी की हिंसा न करना अहिंसा है। अहिंसा प्राणी मात्र को सुरक्षा प्रदान करती है। मन, वचन व काय से अहिंसा का पालन प्रत्येक योग को करना चाहिए। किसी को वाणी से भी कष्ट पहुँचाना हिंसा है। किसी के प्रति मन में बुरा सोचना भी हिंसा है। अहिंसा ही परम धर्म है क्योंकि धर्म की साधना शरीर से होती है (शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्) और अहिंसा से शरीर की रक्षा होती है। अहिंसा बलवानों का आभूषण है। हिंसा का भाव रज व तम गुण के प्रभाव से आता है। अतः अहिंसा सत्वगुण के प्रभाव से ही सम्भव है। अतः अहिंसक बनने के लिए राग-द्वेष रहित होना आवश्यक है। मन में राग-द्वेष न हो तो उसे वश में रखा जा सकता है और योग की अन्य की प्रक्रियायें सम्पादित की जा सकती हैं। अतएव यम में अहिंसा को प्रथम स्थान प्राप्त है। भगवान महावीर, महात्मा बुद्ध से लेकर महात्मा गाँधी ने भी सत्य और अहिंसा को अपने दर्शन का आधार बनाया और उसे प्रायोगिक रूप भी दिया। महर्षि

1. [illegible]
2. अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।

(योगसूत्र 2/35)
(पातञ्जल योग दर्शन 2/35)

पतञ्जलि ने कहा है कि यदि अहिंसा प्रतिष्ठित हो जाय, साथ ही जाय तो उस अहिंसक योगी के निकट वैरभाव समाप्त हो जाता है। अहिंसक व्यक्ति के निकट बैठने पर हिंसात्मक भाव स्वतः समाप्त हो जाते हैं[1]।

(ii) सत्य—सत्य का अर्थ है- सच बोलना। सत्य का अर्थ है कि जैसी भी स्थितियाँ में है, उसे उसी रूप में समझना। छल, कपट, चोरी आदि में झूठ बोलते हैं। सत्य पर ही अन्य यम-नियमों का पालन निर्भर है। सच बोलना बहुत बड़ा साहस है इसे झूठ बोलना कायरता है। सत्य तो वाणी की शोभा, धर्म व चरित्र है। सदा सत्य बोलें जो प्रिय हो, जिससे किसी को कष्ट हो वह सत्य न बोलें। इसका अर्थ यह कि बोलें तो सत्य बोलें अन्यथा न बोलें। अंतिम सत्य तो ब्रह्म ही है। "ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या"। जगत में सच और झूठ सापेक्ष है। सच बोलने से मन पवित्र होता है। सत्य आत्मिकता को जन्म लेता है। द्वन्द्व की अवस्था में सत्य की ही विजय होती है। "सत्यमेव जयते नानृतम्" अर्थात् सच ही जीतता है झूठ नहीं। महर्षि पतञ्जलि ने कहा है कि सत्य की प्रतिष्ठा होने पर योगी में क्रियाफल का आश्रयत्व आ जाता है अर्थात् वह क्रिया के फल को पा लेता है[2]। वाणी से निम्न चार पाप बचाने चाहिये हैं-

1. निन्दा करना
2. अश्लीलता
3. मिथ्या भाषण
4. चुगलखोरी करना।

अतः इन चारों पापों से बचना चाहिए। चुगलखोर कर्म विष से भी अधिक विषैला होता है। महात्मा गाँधी ने सत्य पर विशेष बल दिया और सत्य को ही अपने कार्य पद्धति का मुख्य हथियार बनाया। तत्पश्चात भारत देश को स्वतंत्रता दिलायी। किसी विद्वान ने कहा है कि "जब सत्य जूते पहन रहा होता है तब तक झूठ आधी दुनिया का चक्कर लगा लेता है"। अतः सत्य को स्थापित करने में समय लगता है।

(iii) अस्तेय— चोरी न करना अस्तेय कहलाता है। दूसरे के धन, वस्तु या विचारों का अपने हित में प्रयोग की प्रवृत्ति से विरत होना ही अस्तेय है। इसे "अचौर्य" भी कहते हैं। चोरी एक अनधिकार चेष्टा है। आयकर न देना, चुंगी अदा न करना, बिना टिकट ट्रेन या बस में यात्रा करना आदि भी चोरी में सम्मिलित है। अतः मन-वचन-कर्म से किसी दूसरे की वस्तु को, जो अपनी न हो, नहीं लेना चाहिए। सामाजिक व व्यक्तिगत व्यवस्था बनाये रखने के लिए अस्तेय एक व्रत है। महर्षि पतञ्जलि ने कहा है कि अस्तेय की प्रतिष्ठा या सिद्धि होने पर सभी रत्न उपलब्ध हो जाते हैं[1]। चोरी मन को बोझिल है।

1. अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।
2. सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्।

(पातञ्जल योग दर्शन 2/35)
(पातञ्जल योग दर्शन 2/36)

Scanned with CamScanner

निर्मल व सात्विक मन अस्तेय व्रत वाला होता है।

(iv) **ब्रह्मचर्य**—आहार, स्वप्न (निद्रा) व ब्रह्मचर्य इन्हें आयोग के तीन उपस्तंभ कहे हैं। [illegible] है। ब्रह्मचर्य सात्विक जीवन का आधार है। ब्रह्मचर्य सिद्ध होने पर अद्भुत शक्ति एवं [illegible] लाभ होता है, सामर्थ्य प्राप्त होता है[1], कोई भी मनोविकार उत्पन्न नहीं होता है एवं [illegible] इन्द्रियाँ सभी निर्मल रहते हैं। ब्रह्मचर्य से ओज, तेज, कान्ति, बल आदि गुणों की वृद्धि होती है। मन-वचन-काय से होने वाले सभी प्रकार के मैथुनों का सभी अवस्थाओं में त्याग करके सभी प्रकार से 'वीर्य' की रक्षा करना 'ब्रह्मचर्य' है। वीर्य (शुक्र) सर्वधातुओं का सार अंश है। शुक्र का भी सारभूत अंश ओज कहलाता है जो रोग प्रतिरोधक क्षमता (Immunity) के लिये उत्तरदायी है।

ब्रह्मचर्य पालन से वीर्य ऊर्ध्वगामी होकर प्राण व समान को बल देता है। मस्तिष्क की कार्य क्षमता में वृद्धि होती है। अतः स्वास्थ्य रक्षण के लिये ब्रह्मचर्य पालन अत्यावश्यक है।

(v) **अपरिग्रह**—सभी ओर से सबकुछ (धन-दौलत) संग्रह करने का लोभ परिग्रह है और ऐसा न करना अपरिग्रह है[2]। अपने स्वार्थ के लिये ममतापूर्वक धन, सम्पत्ति, भोग-उपभोग की सामग्री का संचय करना परिग्रह है। परिग्रह से लोभ, लोभ से असत्यवचन फिर काम, क्रोध, मान, द्वेष आदि की भावनायें उपजती हैं और अनेक स्वार्थों को जन्म देती है। जमाखोरी बहुत बड़ा नैतिक और सामाजिक अपराध है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य का ठीक पालन होगा तभी अपरिग्रह की प्रवृत्ति पनपेगी। परिग्रह से हिंसा पनपती है। परिग्रह भी एक प्रकार की चोरी है। अतः हमें अपरिग्रही बनना चाहिये।

उपर्युक्त यम के पाँचों प्रकार जाति-देश-काल और निमित्त की सीमा से रहित सार्वभौम होने पर "महाव्रत" कहलाते हैं[4]।

2. नियम

परमात्मा या परम तत्व में सतत अनुरक्ति (पालन) को नियम कहते हैं[5]। नियमों का पालन करने से पुनर्जन्म कराने वाले संस्कार निर्मित नहीं होते हैं। यम के द्वारा व्यक्ति की 'बाह्य प्रवृत्तियों' पर नियन्त्रण होता है। नियम के द्वारा 'अन्तः प्रवृत्तियों' पर नियन्त्रण होता

1. आत्मेन्द्रियार्थ सर्वज्ञोपस्थम्। (पातञ्जल योग दर्शन 2/38)
2. ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्य लाभः॥ (पातञ्जल योग दर्शन 2/38)
3. अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासंबोधः। (पातञ्जल योग दर्शन 2/39)
4. जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्॥ (पातञ्जल योगदर्शन 2/31)
5. अनुक्तिः परो नियमः स्मृतः। (विवेकविलासकारोक्त श्लोक 2/5)

है। महर्षि पतञ्जलि ने नियम के निम्न पाँच भेद बताये हैं[1]—

i. **शौच**—कायिक, वाचिक व मानसिक शुचिता
ii. **संतोष**—तृष्णा रहित होना
iii. **तप**—निश्चित ध्येय के लिये प्रयत्न
iv. **स्वाध्याय**—पवित्र मन से धार्मिक ग्रन्थ पठन
v. **ईश्वर प्रणिधान**—ईश्वर के शरणागत हो जाना

i) शौच

जीवन के शारीरिक व मानसिक क्रिया कलाप के प्रत्येक क्षेत्र में शुद्धता का अभ्यास ही शौच है। जल, फेनक, मिट्टी से शरीर, वस्त्र व आवास आदि के मल को दूर करना बाह्यशुद्धि है। आत्मतत्व के चिन्तन-मनन-अनुशीलन से मन को स्वच्छता की जाती है, यही परम शौच है। यह शुद्धि मन-वचन-कर्म से होनी चाहिये। महर्षि पतञ्जलि ने कहा है कि शौच का पालन करने से अपने शरीर के प्रति वैराग्य हो जाता है और अन्यों से संसर्ग न करने की इच्छा उत्पन्न होती है। जब शरीर से मोह छूट जाता है तब मन की शरीरपरक वासनायें समाप्त हो जाती हैं। मानसिक शुद्धि (अन्तः शुद्धि) से अन्तःकरण की शुद्धि होती है मन प्रसन्न रहता है, चित्त एकाग्र होता है और इन्द्रियाँ नियन्त्रण में रहती हैं[2]।

ii) सन्तोष

कर्त्तव्य-कर्म का पालन करते हुए उसका जो परिणाम हो तथा प्रारब्ध के अनुसार स्वयं जो कुछ प्राप्त हो तथा जिस परिस्थिति में रहना पड़े उसी से संतुष्ट रहना और अन्य किसी प्रकार की कामना न करना 'सन्तोष' है। भौतिक दौड़ का अन्त नहीं है। मन एक इच्छा पूरी होते ही दूसरी इच्छा को जन्म देता है और इस प्रकार उसकी इच्छायें बढ़ती ही जाती हैं, कभी पूर्ण नहीं होती। उसी से उसका असन्तोष बढ़ता जाता है। जरूरत से ज्यादा नहीं रखना यही अपरिग्रह है और इसी का रूपान्तर सन्तोष है। संतोष ही परम सुख है। सन्तोष से अद्वितीय सुख प्राप्त होता है[3]।

iii) तप

स्वधर्मपालन के लिये व्रत, उपवास, पूजा, पाठ आदि कार्य करना तप है। इसके अभ्यास से शरीर, इन्द्रिय, मन का मल नष्ट होता है। आचार रसायन भी इसी से सामंजस्य रखता है। ध्येय की प्राप्ति में आने वाले विघ्नों का मुकाबला करना तप है। प्रतिदिन देवता, गोमाता, गंगा, गीता, ब्राह्मण, गुरु, आचार्य की सेवा में तत्पर रहना चाहिये। शरीर व मन को कष्ट देकर साधना करना ही तप है। इच्छाओं से मन विचलित रहता है और उनका शमन करना ही तप है। तप में दिनचर्या का पूर्ण पालन, भोजन पर नियन्त्रण, उपवास,

1. शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमः॥ (पातञ्जल योग दर्शन 2/32)
2. शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः॥ (पातञ्जल योग दर्शन 2/40)
3. सन्तोषादनुत्तमः सुख लाभः॥ (पातञ्जल योग दर्शन 2/42)

Scanned with CamScanner

ज्ञान, शौच आदि का समावेश होता है। जब शरीर सध जाय तो यह स्वाध्याय कैसा नहीं काल और तब मन को ईश्वर प्राप्ति की साधना में लगाया जा सकता है[1]। तप तीन प्रकार का होता है जो निम्न हैं—

1. कायिक तप
2. वाचिक तप
3. मानसिक तप

योगी पुरुष तप से शरीर-मन-वाणी-बुद्धि और चरित्र को शुद्ध कर अपनी शक्ति बढ़ाता है।

iv) स्वाध्याय

अपना अध्ययन ही स्वाध्याय है। अपने द्वारा किया गया अपना (स्व का) अध्ययन स्वाध्याय है। विद्वान व सज्जन पुरुषों से ज्ञान की चर्चा करना, पुस्तक-ग्रन्थ-पुराण-उपनिषद-शास्त्र-वेद आदि पढ़ना, महापुरुषों के जीवन का अनुभव (आत्मकथा) पढ़ना, साधकों की साधनाओं और उपलब्धियों को पढ़ना ये सभी स्वाध्याय के अन्तर्गत आते हैं। विद्या ज्ञान के लिये है और ज्ञान वास्तविक तभी है जब वह आत्मा और परमात्मा के बीच की बात करे। महर्षि पतञ्जलि के अनुसार स्वाध्याय से इष्टदेव का साक्षात्कार होता है[2]।

v) ईश्वर प्रणिधान

ईश्वर की उपासना ही ईश्वर प्रणिधान है। सर्व कर्मों के फल ईश्वर को समर्पित करें, निष्काम कर्म करते रहें, कर्मवीर बनें यही ईश्वर प्रणिधान है। परमात्मा में शरणागत होने से विघ्न हट जाते हैं और योगी का मन समाधि लगाने में सक्षम हो जाता है[3]।

3. आसन

सुखपूर्वक स्थिर बैठने को आसन कहा जाता है[4]। योगाभ्यास के लिये बैठना पड़ता है। बैठना एक शरीरिक स्थिति है। जिस तरह आयुर्वेद में व्यायाम का विधान है उसी तरह योग में आसनों का विधान है। इससे शरीर मजबूत होता है और साधक मेरुदण्ड को सीधा रखकर बिना हिले-डुले बड़ी देर तक एक ही स्थिति में बैठकर ध्यान कर सकता है। इससे शरीर के अवयव, अङ्ग-प्रत्यङ्ग, मांस पेशियाँ, सन्धियाँ स्वस्थ रहते हैं। आसन का प्रभाव शरीर के सभी अंगों पर पड़ता है, जबकि व्यायाम से केवल मांसपेशियाँ सुदृढ़ होती हैं। आसन प्रातःकाल कोष्ठशुद्धि के पश्चात करें। स्थूल रूप से योगासनों को निम्न तीन वर्गों में विभक्त किया गया है—

1. कायेन्द्रियबुद्धिसाधनस्य तपसः। (पातञ्जल योग दर्शन 2/43)
2. स्वाध्यायादिष्टदेवता सम्प्रयोगः। (पातञ्जल योगदर्शन 2/44)
3. i) ईश्वरप्रणिधानाद्वा। (पातञ्जल योग दर्शन 1/23)
   ii) समाधिसिद्धिरीश्वर प्रणिधानात्। (पातञ्जल योग दर्शन 2/45)
4. स्थिर सुखमासनम्। (पातञ्जल योग दर्शन 2/46)

i) ध्यानात्मक (Meditative) आसन

इन आसनों का अभ्यास 'ध्यान' के पूर्व करना चाहिये। इन्हीं आसनों में स्थिर होकर ध्यान किया जाता है।

जैसे—सिद्धासन, पद्मासन, भद्रासन, वज्रासन, स्वस्तिकासन आदि।

ii) विश्रान्तिकर (Relaxative) आसन

जिन आसनों के अभ्यास से शरीर को विश्राम मिलता है उन्हें विश्रान्तिकर आसन कहते हैं जैसे-शवासन, सुखासन।

iii) शरीर संवर्धनात्मक (Somatic Promotive) आसन—

इन आसनों का अभ्यास शारीरिक विकास के लिये किया जाता है। ये आसन अनेक प्रकार के है जिनमें से कुछ प्रमुख आसन निम्न हैं—

1.	सिंहासन	12.	कूर्मासन
2.	गोमुखासन	13.	मण्डूकासन
3.	वीरासन	14.	गरुड़ासन
4.	धनुरासन	15.	शलभासन
5.	मत्स्यासन	16.	मकरासन
6.	पश्चिमोत्तासन	17.	भुजंगासन
7.	मत्स्येन्द्रासन	18.	सिंहासन
8.	गोरक्षासन	19.	शीर्षासन
9.	उत्कटासन	20.	वृक्षासन
10.	मयूरासन	21.	चक्रासन
11.	कुक्कुटासन	22.	उष्ट्रासन

भगवान शंकर ने 84 आसनों का वर्णन किया है। विभिन्न आसन खड़े होकर, बैठकर या चित लेटकर किये जा सकते हैं जैसा कि निम्न वर्णन से स्पष्ट है—

(अ) खड़े होकर (Standing Position) किये जाने वाले आसन

ताड़ासन	उत्कटासन
त्रिकोणासन	वीरासन

सर्वाङ्गासन (उल्टे खड़े होकर)
शीर्षासन आदि (उल्टे खड़े होकर)

(ब) बैठकर (Sitting Position) किए जाने वाले आसन

मयूरासन	वज्रासन
पवन मुक्तासन	सिंहासन

Scanned with CamScanner

पद्मासन	सिद्धासन
भद्रासन	अर्ध मत्स्येन्द्रासन
कुक्कुटासन	गोमुखासन
स्वस्तिकासन	गोमुखासन आदि।

(स) चित्त लेटकर (Lying down Position) किए जाने वाले आसन—

शवासन	पश्चिमोत्तासन
शलभासन	चक्रासन
मत्स्यासन	सुप्तवज्रासन
भुजंगासन	धनुरासन आदि।

आसनों का शरीर व मन पर प्रभाव[1]

यौगिक आसनों का प्रभाव शरीर के विभिन्न अंगों पर पड़ता है। शरीर में विभिन्न प्रकार के शरीरक्रियात्मक (Physiological), जीव रासायनिक (Biochemical) एवं मानसिक (Psychological) परिवर्तन होते रहते हैं। इन सभी पर आसनों का प्रभाव पड़ता है। अन्तःस्रावी ग्रन्थियों (Endocrine glands) पर भी आसनों का प्रभाव पड़ता है। मांसपेशियाँ पूर्ण विश्राम (Complete Relaxation) की अवस्था में आ जाती हैं। आसनों से शरीर भार (Body Weight) में कमी, श्वास गति में कमी, वक्षःस्थल के विस्तार (Chest Expansion) में वृद्धि, फुफ्फुसों के प्रसार व संकोच (Inspiration & Expiration) में वृद्धि, रक्तगत शर्करा (Blood Sugar) में कमी, रक्तगत वसा (Cholesterol & Triglycerides) में कमी, रक्तगत प्रोटीन (Immunoglobins) में वृद्धि होती है। बुद्धि परीक्षा (Intelligence Quotient) व स्मृति परीक्षा (Memory Quotient) में वृद्धि होती है। उच्चरक्तचाप, हृदयरोग, मधुमेह, स्थौल्य, कब्ज, गैस, गलगण्ड, कटिशूल, गृध्रसी, अवसाद, तनाव आदि रोगों में योगासन बहुत ही उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन रहता है। आसनों के नियमित अभ्यास में विभिन्न अंग-प्रत्यंग-अवयवों का कार्य सुचारु रूप से होता रहता है। चिन्ता, भय, क्रोध, शंका आदि मानसिक अवस्थाओं का व्याधियों के साथ सम्बन्ध है। ऐसे रोगों को मनोदैहिक (Psychosomatic Disorders) रोग कहा जाता है। इस तनाव की अवस्था में पिटयूटरी व एड्रीनल ग्रन्थियों से स्रवित हार्मोन सामान्य से ज्यादा हो जाते हैं और ये ही वृद्ध हार्मोन रोगोत्पत्ति में सहायक होते हैं। योगासनों से हार्मोन सन्तुलन बना पर आकर तनाव (Stress & Strain) को कम कर देते हैं। अतः योगासनों का प्रभाव सम्पूर्ण शरीर व मन पर पड़ता है।

4. प्राणायाम

प्राण को रोकना ही प्राणायाम है। प्राणवायु प्राण का संचार करता है। प्राणवायु का

1. योग एवं यौगिक चिकित्सा।

(पृष्ठ क्रमांक 31) सेक्शन पी. पाण्डेय

शरीर में प्रविष्ट होना श्वास और बाहर निकालना प्रश्वास कहलाता है। श्वास-प्रश्वास क्रिया का बन्द होना प्राणायाम का सामान्य लक्षण है[1]। वायु को आयु भी कहा गया है। यह एक तरह का फुफ्फुसीय व्यायाम (Lung Exercise) है। आधार रूप से प्राणायाम के निम्न तीन अंग हैं[2]—

(i) पूरक—श्वास को अन्दर लेना
(ii) कुम्भक—श्वास को रोके रखना
(iii) रेचक—श्वास को बाहर छोड़ना

(i) पूरक प्राणायाम

इसे आभ्यान्तर वृत्ति भी कहा जाता है। प्राणवायु को नासामार्ग से शरीर में यथा शक्ति अन्दर ले जाकर रोके रखना ही 'पूरक' प्राणायाम है। इसमें प्राणवायु को शरीर के अन्दर श्वसित करके रोका जाता है। अतः कुछ आचार्य इसे 'अन्तः कुम्भक' भी कहते हैं।

(ii) कुम्भक प्राणायाम

इसे 'स्तंभवृत्ति' भी कहते हैं। प्राणवायु को रेचक या पूरक के बाद रोकना कुम्भक प्राणायाम कहलाता है। निरन्तर अभ्यास से यह प्राणायाम दीर्घ एवं सूक्ष्म होता चला जाता है। जो साधक कुम्भक का अभ्यास करने में सफल हो जाता है उसकी कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत हो जाती है। इसके भी निम्न दो भेद वर्णित हैं—

(अ) सहित कुम्भक—जब कुम्भक के पूर्व पूरक और बाद में रेचक किया जाता है।

(ब) रहित कुम्भक—जब पूरक या रेचक किये बिना ही प्रसन्न वायु को साध्य करके कुम्भक किया जाय।

(iii) रेचक प्राणायाम—इसमें प्राणवायु को यथाशक्ति प्रयासपूर्वक शरीर से बाहर निकाला जाता है। कुछ लोग इसे 'बाह्य कुम्भक' भी कहते हैं। महर्षि पातञ्जलि ने इसे 'बाह्यवृत्ति' प्राणायाम भी कहा है।

ये तीनों प्राणायाम देश-काल एवं संख्या से प्रभावित होते हैं। सामान्यतः पूरक, कुम्भक, रेचक के समय का अनुपात 1:4:2 रखा जाता है।

प्राणायाम के पूर्व कर्म

1. प्राणायाम करने का स्थान स्वच्छ, शान्त, शुद्ध होना चाहिये।

1. तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः। (पातञ्जल योगदर्शन 2.49)
2. बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः। (पातञ्जल योग दर्शन 2.50)

Scanned with CamScanner

2. सिद्धासन में बैठकर ग्रीवा, मेरुदण्ड व कटि को सीधा रखना चाहिये।
3. प्राणायाम के पूर्व तीन बन्धों (मूल, उड्डियान, जालन्धर) का अभ्यास करें।
4. दृष्टि को नासाग्र या भ्रूमध्य में टिकायें।
5. ज्ञान मुद्रा का ठीक से अभ्यास करें।
6. स्नान के बाद ही प्रातःकाल अभ्यास करें।

कुम्भक प्राणायाम के अष्टप्रकार

कुम्भक प्राणायाम के निम्न आठ प्रकार हैं[1]—

1. **सूर्यभेदन**—इसमें दाहिने नासारन्ध्र (सूर्यनाड़ी) से प्राणवायु को अन्दर खींचकर कुम्भक करते हैं। इससे मस्तिष्क शुद्धि, वातशमन, कृमि दोषों का नाश होता है।

2. **उज्जायी**—इसमें दोनों नासारन्ध्रों से अन्तःश्वसन द्वारा फुफ्फुसों में अधिकाधिक प्राणवायु भरते हैं। फिर कुम्भक करते हैं। तत्पश्चात् वाम नासारन्ध्र से धीरे-धीरे श्वास छोड़ते हैं। इससे श्लेष्मादोष का शमन, नाड़ी विकार व जलोदर रोग दूर होते हैं। जठराग्नि प्रदीप्त होती है।

3. **सीत्कारी**—अन्तःश्वसन लेते समय इतने जोर से खींचें कि सीत्कार आवाज सुनाई दे। तत्पश्चात् कुम्भक करें। बाद में धीरे-धीरे बाह्य श्वसन करें। इससे क्षुधा, तृष्ण, निद्रा, आलस्य दूर होते हैं। सत्वगुण की वृद्धि होती है।

4. **शीतली**—जिह्वा को बाहर निकालकर तत्पश्चात् दीर्घ अन्तः श्वसन करें। फिर कुम्भक कर धीरे-धीरे बाहर निकालें। इससे गुल्म, प्लीहरोग, ज्वर, क्षुधा, तृष्ण, विष व पित्तज विकार का शमन होता है।

5. **भस्त्रिका**—धौंकनी की तरह जोर-जोर से अन्तःश्वसन और बहिः श्वसन करें और जब थक जायें तब सूर्यनाड़ी से वायु को अन्दर लें, कुम्भक करें और चन्द्रनाड़ी से बाहर निकालें। इससे त्रिदोष शमन होता है।

6. **भ्रामरी**—भ्रमर के समान शब्द करते हुये अन्तःश्वसन करें फिर कुम्भक करें तत्पश्चात् आवाज करते हुये रेचक करें। इससे स्वर मधुर होता है व तनाव भी कम होता है।

7. **मूर्च्छा**—प्रथमतः दीर्घ अन्तःश्वसन करें। फिर जालन्धर बन्ध बाँधकर शनैः-शनैः रेचक प्राणायाम करें। यह कठिन होने के कारण 'मूर्च्छा' कहलाता है। इससे मन मूर्च्छित हो जाता है।

1. सूर्यभेदनमुज्जायी शीत्कारी शीतली तथा। भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा प्लाविनीत्यष्टकुम्भकाः।
(हठयोग प्रदीपिका)

8. **प्लाविनी**—पूरक प्राणायाम से उदर को फुलाकर पश्चात् रेचक द्वारा धीरे-धीरे बहिःश्वसन करें। इससे शरीर में हल्कापन आता है। तनाव भी कम होता है।

यह समस्त प्राणायाम अग्नियर्धक व आयुवर्धक हैं। इनके नियमित अभ्यास से शारीरक्रियात्मक विकास तथा मनोदैहिक शान्ति प्राप्त होती है।

5. प्रत्याहार

इन्द्रियों की बाह्य वृत्ति को सब ओर से समेटकर मन में विलीन करने के अभ्यास का नाम 'प्रत्याहार' है। प्रत्याहार 'स्वनियन्त्रण' की प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति अपनी इन्द्रियों को उनके विषयों से पृथक् रखता है। महर्षि पतञ्जलि के अनुसार जब इन्द्रियों का अपने विषयों से सम्पर्क न रहे, वे चित्त का पूरा अनुसरण करें तब इस स्थिति को प्रत्याहार कहते हैं[1]।

वस्तुतः प्रत्याहार अष्टाङ्ग योग में बहिरंग (यम-नियम-आसन-प्राणायाम) तथा अंतरंग (धारणा-ध्यान-समाधि) अवस्थाओं में सेतुरूप है।

प्रत्याहार मनोनिरोध एवं इन्द्रिय व्यापार से मन को अलग करने की प्रक्रिया है। वस्तुतः प्रत्याहार द्वारा योगी अपने मन को स्वयं में केन्द्रित कर इसे इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये जाने वाले विषयों से पृथक् कर लेता है। जिसका मन सात्विक प्रकृति का होता है वह अमैत्र-पवित्र, काम-क्रोध-लोभ-ईर्ष्या-द्वेष रहित, विनम्र, दयालु, संयमी होता है। वह देश-काल को देखकर सर्वदा अनुकूल व्यवहार करता है। अपने आराध्य देव पर सतत ध्यान रखने का अभ्यास करें तो प्रत्याहार भी सध जाता है।

6. धारणा

धारणा, ध्यान, समाधि (अन्तरंग योग) को संयम भी कहा जाता है। धारणा एक प्रकार की मानसिक प्रक्रिया है जिसमें मन को एक विशिष्ट क्षेत्र में सीमित कर स्थिर रखा जाता है[2]। बाहर की वस्तुओं (आकाश, सूर्य, चन्द्र आदि) या शरीर के भीतर के (हृदय, नाभि, भ्रूमध्य, नासिकाग्र आदि) अंगों में कहीं भी किसी एक स्थान पर मन का ठहराना धारणा है। एक केन्द्र बिन्दु पर मन का नियन्त्रण करना धारणा है। यह समाधि का पूर्वकर्म है। जब मन में सत्वगुण की अधिकता रहती है तो वह किसी एक विषय या केन्द्र पर स्थिर हो जाता है। जिस देश (नाभि, हृदय, आकाश, सूर्य आदि) पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है, उस देश में रहने वाली शक्ति या ऊर्जा प्रबल हो जाती है। जैसे-कपाल प्रदेश पर ध्यान केन्द्रित करने से धी-धृति-स्मृति बढ़ जावेगी। नाभि पर ध्यान केन्द्रित करने से पाचन तन्त्र सबल होगा, क्षुधा व पिपासा पर नियन्त्रण होगा। धारणा में मन को बाह्य

1. स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः। (पातञ्जल योग दर्शन 2/54)
2. देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। (पातञ्जल योग दर्शन 3/1)

Scanned with CamScanner

पूर्णतः अन्तर्मुखी होकर एक स्थान विशेष पर केन्द्रित हो जाती है।

7. ध्यान

ध्यान धारणा के आगे की प्रक्रिया है। जब धारणा साधक देश विशेष [illegible] स्थापित हुये मन को ध्येय विषय पर स्थिर कर लेता है तो उसे ध्यान कहते हैं [illegible] प्रकृष्ट साधन ध्यान है। ध्येय के प्रति चित्त का प्रवाह ध्यान कहलाता है[1]। [illegible] और ध्यान क्रिया का ध्यान नहीं रहता, केवल ध्येय पर ही समग्र ध्यान केन्द्रित [illegible] वही ध्यान है। आत्मबल द्वारा ध्यान में सरलता होती है और ध्यान से आत्म [illegible] केन्द्रित हो जाते हैं, अतः सभी में आत्मा समान है, इस तत्व का मनन [illegible] 'ध्यान' कहलाता है। आजकल ध्यान (Meditation) का देश-विदेश में [illegible] ध्यान से शारीरिक क्रियों पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है। कई रोग भी ध्यान द्वारा [illegible] जाते हैं। ध्यान से मस्तिष्क तरंगों (EEG Waves) पर बहुत शामक प्रभाव [illegible] है। सामान्य दशा की अवस्था में ध्यान से बहुत लाभ पाया जाता है। ध्यान से [illegible] पर (Basal Metabolism Rate) घटता है जो कि इस बात का सूचक है कि [illegible] साधक के शरीर में शक्ति व्यय कम हो जाता है। यह शक्ति शरीर में संचित होती है। ध्यान करते समय विशुद्धवायु (Oxygen) की खपत कम होती है, इसलिये फेफड़े [illegible] कम होता है। ध्यान से बुद्धि व स्मृति क्षमता बढ़ती है। ध्यान से स्वास्थ्य संबंधी [illegible] सर्वदोष, रोगनिवारक व शमन भी होता है।

8. समाधि

जिस स्थिति में ध्याता-ध्यान-ध्येय एकाकार हो जाय, उनकी पृथक् सत्ता अनुभूत न हो, मात्र ध्येय का एकाकार रहे, वही अवस्था समाधि है[2]। मन का आत्मा के साथ एकाकार होना ही समाधि है। समाधि मन की समस्त वृत्तियों के निरोध का चित्त की अवस्था है। जीवात्मा का परमात्मा के साथ संयोग को समाधि कहा गया है। ध्याता-ध्यान करते-करते स्वरूपशून्यता (Disappearance of Self Awareness) का प्रादुर्भाव हो जाने पर समाधि सिद्ध हो जाती है। यह अवस्था गहन शान्ति की अवस्था है। योगी का साधक पार्थिव जगत् में चला जाता है और नित्य में विलीन हो जाता है। साधक करते-करते जब साधक संयम पर विजय प्राप्त कर लेता है, अर्थात् चित्त में ऐसी योग्यता प्राप्त कर लेता है कि जिस विषय में वह संयम करना चाहे, उसी में तत्काल संयम हो जाता है, उसमें अलौकिक ज्ञानराशि (प्रज्ञा) आ जाती है, पश्चात मोक्ष प्राप्त हो जाता है। योग का भी अन्तिम उद्देश्य समाधि है। समाधि के निम्न दो भेद हैं—

(अ) सम्प्रज्ञात समाधि

(ब) असम्प्रज्ञात समाधि

1 तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।
2 तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।

(पातञ्जल योग दर्शन 3.2)
(पातञ्जल योग दर्शन 3.3)

(अ) सम्प्रज्ञात समाधि—इसे सविकल्प समाधि भी कहते हैं। इसमें मन किसी अवलम्बन (आत्म-भक्ति-भगवान-ध्येय-मूर्ति) के सहारे समाधि लेता है। मन को अपना भी ज्ञान रहता है और ध्येय का भी ज्ञान हो जाता है। ध्याता-ध्यान के बाद भी कुछ सम्बन्ध बाह्य जगत् से रह जाता है, जो पूर्ण दृढ़ नहीं हुआ होता, वह सम्प्रज्ञात समाधि है।

(ब) असम्प्रज्ञात समाधि—यह योग की चरम अवस्था है। इसमें साधक और साध्य के बीच का अन्तर समाप्त हो जाता है। इसमें समस्त मानसिक वाह्य व्यापार समाप्त हो जाते हैं। इसमें संस्कारों के बीज भी नहीं रहते। अतः यह निर्विकल्प एवं निर्बीज समाधि कहलाती है। इसके निरन्तर अभ्यास से मोक्ष प्राप्ति हो सकती है। परमात्मा से साक्षात्कार की यही अवस्था है।

आयुर्वेद व योग

आयुर्वेद, आयु अर्थात् जीवन का विज्ञान है, जिसमें शरीर, इन्द्रिय, सत्व, आत्मा के संयोग को आयु कहा जाता है[1]। आयुर्वेद, योग व व्याकरण शास्त्र ये तीनों विषयें क्रमशः शरीर, मन व वाणी की शुद्धि के लिये महर्षि पतञ्जलि के द्वारा विकसित की गयी है। आचार्य चरक ने योग को मोक्ष प्रवर्तक कहा है[2]। धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष की प्राप्ति आयुर्वेद का मूल मन्त्र है[3]। अतः आयुर्वेद व योग में निम्न बिन्दुओं के आधार पर सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है—

आयुर्वेद	योग
1. यह स्वस्थ के स्वास्थ्य की रक्षा व आतुर के रोग का प्रशमन करता है।	1. यह चित्त (मन) वृत्ति के निरोध द्वारा स्वस्थ शरीर व मन के निर्माण का विज्ञान है।
2. यह वेदना की आत्यन्तिक निवृत्ति कर मोक्ष प्राप्ति की ओर अग्रसर करता है।	2. यह जीवात्मा व परमात्मा के संयोग का मार्ग बताकर मोक्ष प्राप्ति की ओर अग्रसर करता है।
3. इसके प्रवर्तक भगवान धन्वन्तरि हैं।	3. इसके प्रवर्तक महर्षि पतञ्जलि हैं।
4. इसमें पंचकर्म द्वारा शरीर शुद्धि बतलायी है।	4. इसमें षट्कर्म द्वारा काया या शरीर शोधन बतलाया है।
5. आयुर्वेद के आठ अंग हैं।	5. इसके भी आठ अङ्ग (अष्टाङ्ग योग) है।

2. शारीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगो धारि जीवितम्।
2. योगो मोक्ष प्रवर्तकः।
3. धर्मार्थकाममोक्षज्ञमायत्तं मृदुपुष्कलम्।

(च.सू. 1/42)
(च.शा. 1/137)
75)

Scanned with CamScanner

6. यह दैवव्यपाश्रय, युक्ति-व्यपाश्रय व सत्त्वावजय चिकित्सा द्वारा रोग शमन बताता है।	6. इसमें औषध, मन्त्र, जप, व्रत, दान, समाधि द्वारा सिद्धि बतलायी गयी है।
7. आयुर्वेद चिकित्सक (भिषक्) की चार मूर्तियाँ बतलायी गई हैं।	7. मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा की सिद्धि प्रसादन के लिये बताया गया है।
8. सद्वृत्त, आचार रसायन, दिनचर्या-ऋतुचर्या का वर्णन है।	8. यम-नियम के दशभेदों का वर्णन है।
9. त्रिदोष (वात-पित्त-कफ) व सत्त्व-रज-तम का समत्व ही आयुर्वेद है।	9. सुख-दुःख, रज-वेगस्, जीवात्मा परमात्मा में एकत्व ही योग है।
10. मानस रोगों के उपचार में ज्ञान, विज्ञान, धैर्य, स्मृति, समाधि को साधन बताया है।	10. अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष के क्लेश से बचने के लिये अष्टाङ्ग योग बताया गया है।
11. चिकित्सकर्म में शरीर संवर्धन के लिये व्यायाम का वर्णन है।	11. हठयोग में शरीर व मन का संयोग आसनों से बताया है।

2. नैसर्गिक (प्राकृतिक) चिकित्सा पद्धति (Naturopathy)

प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति (Naturopathy) का मुख्य आधार यह है कि मानव शरीर पञ्चमहाभूतों से निर्मित है। बाह्य जगत (ब्रह्माण्ड) भी इन्हीं पञ्चमहाभूतों से बना हुआ है। 'यद् पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे' इस नियम के अनुसार जो पिण्ड (शरीर) में है वही ब्रह्माण्ड में है और इसी प्रकार जो ब्रह्माण्ड में है वही पिण्ड (शरीर) में है। अतः शरीर के पञ्चमहाभूतों में विषमता से विभिन्न रोग उत्पन्न होते हैं। अतः रोगों का उपचार भी इन्हीं पञ्चमहाभूतों के साधनों से करना चाहिये। यही निसर्गोपचार या प्राकृतिक चिकित्सा (Naturopathy) का सामान्य सिद्धान्त है।

निसर्गोपचार में स्वास्थ्य को बनाये रखने के लिये आहार-विहार-ऋतु-निद्रा-आचार का वर्णन है। इसमें मनुष्य केवल पथ्य (अनुकूल आहार-विहार) के आधार पर ही बिना किसी औषध चिकित्सा की सहायता से व्याधि से मुक्त हो सकता है। यही आयुर्वेद का 'स्वभावोपरम' एवं 'हेतु-व्याधि विपरीत आहार-विहार' (उपशय भेद) चिकित्सा है। प्रकृति के सम्पर्क या निकट रहकर ही प्रकृति के पदार्थों से ही चिकित्सा करना निसर्गोपचार है। जिन कारणों से शारीरिक धातुओं (Body Tissues) की पुष्टि होती है यदि उन कारणों में विषमता आ जाती है तो शारीरिक धातुओं में भी विषमता आ जाती है यदि कारणों में समता रहती है तो देह-धातुओं में भी समता रहती है। इन धातुओं का बल

स्वभाव से ही होता है[1]।

आ॰ शारीरिक धातुओं के विषम होने के जो कारण हैं उनके त्याग से और धातुओं के सम होने के जो कारण हैं उनका सेवन करने से शरीर में विषम धातुएँ सम हो जाती हैं[2]।

आ॰ उपर्युक्त सभी बिन्दुओं को ध्यान में रखते हुये प्राकृतिक चिकित्सा के विभिन्न सामान्य सिद्धान्त हैं जिनका निरन्तर पालन करने से प्राणी उत्तम स्वास्थ्य को पा सकता है-

1. पञ्च महाभूतों से चिकित्सा

मानव शरीर आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी इन पञ्चमहाभूतों व आत्मा के संयोग से निर्मित हुआ है। दैनिक जीवन में हम जो भी आहार ग्रहण करते हैं वह भी इन्हीं पञ्चमहाभूतों से निर्मित है। अतः इन दोनों (शारीरिक व आहार-विहार-द्रव्य) पञ्चमहाभूतों में विषमता होने से रोग उत्पन्न होते हैं। अतः दोनों की चिकित्सा में मिट्टी, जल, अग्नि (सूर्य), वायु, आकाश का प्रयोग प्रमुख रूप से करना चाहिये।

शरीर के घटक द्रव्य (दोष-धातु मल आदि) भी इन्हीं पञ्चमहाभूतों से निर्मित हैं। प्रत्येक कोशिका, ऊतक, अवयव, स्रोतस्, महास्रोतस् पञ्चमहाभूतात्मक होता है। प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय भी पाञ्चभौतिक है। अतः आयुर्वेद के पञ्चवर्गक निम्न प्रकार हैं—

पञ्चवर्गक प्रदर्शक तालिका (च.सू. 8)

पञ्च इन्द्रिय	पञ्च इन्द्रिय द्रव्य	पञ्च इन्द्रिय अधिष्ठान	पञ्च इन्द्रिय अर्थ	पञ्च इन्द्रिय बुद्धि
श्रोत्र	आकाश	कर्ण	शब्द	श्रौत्र बुद्धि
स्पर्शन	वायु	त्वचा	स्पर्श	स्पार्शन बुद्धि
चक्षु	अग्नि	अक्षि	रूप	चाक्षुष बुद्धि
रसना	जल	जिह्वा	रस	रसनबुद्धि
घ्राण	पृथ्वी	नासा	गन्ध	घ्राणबुद्धि

अतः उपर्युक्त तालिका से यह स्पष्ट है कि मानव शरीर पञ्चमहाभूतों से निर्मित है। आहार या विहार की विषमता से शरीर के अवयवों में महाभूतों की अधिकता हो जाने से उस भूत की अधिकता वाले अवयव की वृद्धि होती है जिससे वह मनुष्य रुग्ण हो जाता है। इसके विपरीत-किसी महाभूत की अल्पता होने से उस महाभूत से बना

1. जातानां हेतुवैषम्यादिदमेव देहधातवः। हेतु समत्वात् तत्त्वानां समत्वमेवास्य। (च.सू. 16.27)
2. त्यागादिष्यते तूनां समत्वं योगमेव च। विषमा धातवश्चापि साम्यं यान्ति त्यजन्ति च। (च.सू. 16.36)

Scanned with CamScanner

असन्तुलन होने लगता है जिससे वह अपना स्वाभाविक (प्राकृत) धर्म [illegible] और शरीर रोगाक्रान्त हो जाता है। अतः प्राकृतिक चिकित्सा में सिद्धान्ततः [illegible] की विषमता में उस महाभूत को न्यूनता वाला आहार-विहार देना चाहिये। [illegible] की विषमता में उस महाभूत को अधिकता वाला आहार-विहार देना चाहिये। इसी सिद्धान्त को आयुर्वेद शास्त्र में समान गुण से वृद्धि व विशेष गुण से ह्रास [illegible] सिद्धान्त कहा गया है[1]।

2. विभिन्न महाभूतों से उत्पन्न प्राकृतिक चिकित्सा

प्रत्येक वैज्ञानिक आविष्कार का मूल कोई एक घटना ही होती है। जैसे महान् वैज्ञानिक विज्ञानी सर आइजक आर्कमीडीज ने पेड़ से नीचे गिरते हुये सेव फल को देखकर 'गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त' की खोज की थी। उसी तरह प्रिसनिज् नामक आर्कमीडीज वैज्ञानिक ने एक हिरण को अपनी भग्न हुयी शाखा (Leg) को कोंचड़ में सड़ते हुये देखा। कुछ दिनों के अवलोकन के पश्चात् पाया कि वह टूटी शाखा पुनः जुड़ गयी। दुर्घटनावश कुछ समय पश्चात् प्रिसनिज की पसुलियाँ (RIBS) टूट गयीं। उन्होंने उसके ऊपर शीतल जल की पट्टियाँ रखकर पसुलिकाओं को ठीक किया। इस तरह मृत्तिका व जल चिकित्सा का आविष्कार हुआ। प्रिसनिज के अनुसार रोग प्रतिरोधक शक्ति को तेज कर देने से विष बाहर निकल जाता है।

जे. स्कोच नामक आस्ट्रियन वैज्ञानिक शीत व उष्ण जल (स्नानादि क्रम में) की पट्टियाँ रखकर चिकित्सा करने में निपुण था।

जल-चिकित्सा के महत्व को फादर क्नाइप ने बताया।

मालिश चिकित्सा के द्वारा अर्नाल्ड रिक्ली नामक दार्शनिक ने शतायु जीवन व्यतीत किया।

जर्मनी के लुई कुने ने तीन प्रकार के स्नान द्वारा चिकित्सा सिद्धान्त बताया। ये निम्न हैं—

1. भाप स्नान 2. कटि स्नान 3. मेहन स्नान

एडोल्फ जस्ट ने मृदा लेप द्वारा मिट्टी के प्रयोग पर अधिक बल देकर प्रकृति की ओर (रिटर्न टू नेचर) नामक प्रसिद्ध कृति लिखी।

प्राकृतिक चिकित्सा के सिद्धान्तानुसार रोगों का कारण कीटाणुवाद नहीं है।

3. प्रकृति का चिकित्सकत्व

डॉ. थामस सिडेहम के अनुसार प्रत्येक रोग रोगी के शरीर में स्वास्थ्य स्थापित करने के लिए प्रकृति के प्रयत्न के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। जब शरीर के अन्दर कोई अनावश्यक विजातीय तत्व (Allergen or Antigen-आमदोष) या आमविष होता है

1. सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्। ह्रासकारणमिष्यते विशेषः प्रकृतिवयवस्थितः तु। (च सू 1/44)

जाता है तो प्रकृति उसे शरीर से बाहर निकालने के लिए रोग उत्पन्न करती है। इस सिद्धान्त के अनुसार रोग हमारे परम मित्र हैं। शरीर से विजातीय द्रव्य बाहर निकालने के निम्न पांच मार्ग हैं—

(i) गुदमार्ग—जैसे अतिसार, प्रवाहिका, ग्रहणी, हैजा (कोलेरा) आदि रोगों में।

(ii) मूत्र मार्ग—जैसे मधुमेह, ज्वर आदि रोगों में।

(iii) श्वास (नासिका) मार्ग—जैसे प्रतिश्याय, जुकाम, खांसी, कास आदि रोगों में।

(iv) त्वचा मार्ग—जैसे ज्वर, कुष्ठ, विसर्प, शोथ आदि रोगों में।

(v) मुख मार्ग—जैसे छर्दि, अम्लपित्त व विषाक्तता में।

अतः रोग की प्रारंभावस्था में इन विजातीय द्रव्यों को शरीर से बाहर निकलते रहने देना चाहिए।

4. रोग प्रतिरोधक क्षमता (जीवनीय शक्ति) बढ़ाना

प्राकृतिक चिकित्सा में शरीर की रोग को रोकने की क्षमता (Immunity) बढ़ाने पर विशेष जोर दिया गया है। इसे ही आयुर्वेद में सहज व युक्तिकृत बल कहा जाता है। खुले आकाश में व प्रदूषण रहित वातावरण में शुद्ध वायु का सेवन करना चाहिए। प्राणायाम, व्यायाम, आसन प्रयोग से प्रतिरोधक क्षमता वृद्ध होती है। शुद्ध व परिस्रुत जल (खनिज जल) के पान करने से शरीर के भीतरी भागों को तथा त्वचा धोने से बाह्य भागों की शुद्धि होकर जीवनीय शक्ति बढ़ती है। धूप का सेवन करने से त्वचा द्वारा विटामिन 'डी' बनकर भी जीवनीय शक्ति बढ़ती है। मिट्टी पर नंगे पैर टहलने से, शरीर पर मालिश करने से प्रकृति से साक्षात्कार होता है। शरीर प्रकृति के नजदीक आता है। सनुद किनारे धूप स्नान (Sun bath) से आकाश-वायु-अग्नि (धूप)-जल-पृथ्वी (रेत) इन पञ्चमहाभूतों से शरीर का समन्वय बनता है व रोग प्रतिरोधक शक्ति बढ़ती है।

5. प्राकृतिक आहार सेवन

प्राकृतिक चिकित्सा का आधार ही आहार है। आहार सात्विक, शुद्ध, स्निग्ध, रुचिकर, आयुष्कर वर्धक, बुद्धि वर्धक एवं मुखवर्धक होना चाहिए। आहार द्रव्य ताजे, कच्चे व अंकुरित हो लेना चाहिए। आँच से पकाकर लेने से जीवनीय तत्व (Vitamins & minerals) नष्ट हो जाते हैं। फल ताजे व पके हों। आहार द्रव्य व फलों को छीलकर-छिलके सहित ही ग्रहण करें। इससे इनकी पौष्टिकता बनी रहती है व शरीर में रेशों (fibres) की पूर्ति होती रहती है। एक दिन (24 घंटे) में स्वस्थ व्यक्ति को मात्रापूर्वक दो बार ही भोजन ग्रहण करना चाहिए इससे शरीर निरोगी रहता है।

6. प्राकृतिक विहार व वेशभूषा

प्राकृतिक चिकित्सा के सिद्धान्तानुसार खुले, निर्वस्त्र होकर ही प्रकृति के निकट रहने

Scanned with CamScanner

से उत्तम स्वास्थ्य रहता है। आधुनिक सभ्यता व चकाचौंध वाली संस्कृति में यह संभव नहीं है। अतः ऐसे प्राकृतिक सूती कपड़े (Natural Fibres) पहनना चाहिए जो शरीर को सहन करने योग्य हो। बगीचा, नदी, पर्वत, झरना आदि प्राकृतिक स्थानों (Hill stations) में ज्यादा से ज्यादा विहार करना चाहिए।

इस तरह नित्य दैनिक जीवन में प्रयुक्त समस्त क्रिया-कलाप प्राकृतिक चिकित्सा के सामान्य सिद्धांत हैं। प्राकृतिक चिकित्सा के अनुसार सभी रोगों का कारण अप्राकृतिक जीवन-चर्या है। इसके अपदोषवंस होकर वायु, उदक, देश, काल दूषित होकर विविध व्याधियों को पैदा करते हैं। प्राकृतिक चिकित्सा शरीर व मन दोनों को आंशिक प्रकार करती है। प्राकृतिक चिकित्सा कोई उपद्रव पैदा नहीं करती है। इसलिए इसे प्रकृति के नियमों का पालन करते हुए एवं तदनुकूल दिनचर्या-रात्रिचर्या-ऋतुचर्या व सद्वृत्त पालन करने से स्वस्थ जीवन व्यतीत करना चाहिए।

प्राकृतिक चिकित्सा के प्रकार व विधि—प्राकृतिक चिकित्सा के निम्न प्रमुख भेद हैं जो इन तत्वों में वर्णित हैं—

1. जल चिकित्सा
2. मिट्टी चिकित्सा
3. आतप चिकित्सा / सूर्य चिकित्सा
4. वायु चिकित्सा
5. अभ्यङ्ग चिकित्सा
6. उपवास चिकित्सा

1. **जल चिकित्सा (Hydro Therapy)**—सर्वप्रथम 'जल चिकित्सा' ही प्राकृतिक चिकित्सा प्रणाली का आधार है। इसमें शीत-उष्ण तथा बाह्य-आभ्यंतर रूप में जल का प्रयोग होता है।

(अ) **बाह्य जल चिकित्सा**- बाह्य रूप में जल चिकित्सा के अंतर्गत निम्न स्नान वर्णित हैं-

(i) कटिस्नान (Hip Bath)
(ii) मेहन स्नान (Schitz Bath)
(iii) आतप स्नान (Sun Bath)
(iv) पाद प्रक्षालन (Foot Bath)
(v) पिण्डली स्नान (Calf Bath)
(vi) पृष्ठवंश स्नान (Spinal Bath)
(vii) भाप स्नान (Steam Bath)
(viii) उष्ण स्नान (Hot Bath)
(ix) अवगाह स्नान (Tub bath)

शिरःप्रदेश पर उष्ण जल स्नान निषिद्ध है। अधः शरीर का स्नान उष्ण जल से किया जाता है। बारी-बारी से क्रमशः शीत-उष्ण जल स्नान से शरीर की रक्तवाहिनियाँ (Blood vessels) संकुचित व प्रभावित होती हैं, त्वचा के रोमकूप खुलते व बंद होते हैं। इससे धमनियाँ (Arteries) लचीली बनी रहती है एवं धमनी प्रतिचय का धमनी कठिन्य (Arteriosclerosis) दूर होता है। तीव्र ज्वर के वेग को कम करने के लिए शिर व नाभि प्रदेश पर शीत जल सिराया जाता है। कफ व आम से उत्पन्न विकारों को दूर करने के लिए जलावगाहन (Swimming) कराया जाता है। इसमें जल के अन्दर से शरीर के बाहर निकलती हुई उष्मा अंदर ही रुक जाती है जिसकी उष्णता से आम का पाचन होकर कफ का विलयन होता है। उदरस्थ रोग में इस सिद्धांत का पालन किया जाता है। स्नान करने से जठराग्नि प्रदीप्त होती है। स्नान से श्रमजन्य, आलस्य, उष्णता, जल जाना है, त्वचा के मल, कृमि, स्वेद, कण्डू, नष्ट होते हैं, तंद्रा, शूल, दाह भी दूर होते हैं[1]।

स्नान निषेध—ज्वर, अतिसार, आध्मान, अजीर्ण, पीनस, नेत्र रोग, कर्ण रोग, भोजन के पश्चात् आदि में स्नान नहीं कराना चाहिए[2]।

(i) **कटि स्नान (Hip Bath)**—इस स्नान के लिए एक ऐसा टब लें जिसमें बैठा जा सके, पश्चात् उसमें इतना जल भरें कि नाभि तक का भाग डूबा रहे व पैर बाहर निकले रहें। अब मोटे तौलिये से नाभि के नीचे सम्पूर्ण कटि प्रदेश में रगड़कर धो लें। इस विधि को प्रतिदिन 10 मिनट तक करना चाहिए। जल सामान्य ताप पर होना चाहिए। इसके निरंतर अभ्यास से विबन्ध, उदावर्त, मन्दाग्नि, कटिशूल, उपस्थ के रोग, अर्श, भगन्दर, परिकर्तिका आदि रोग दूर हो सकते हैं।

(ii) **मेहन स्नान (Schitz Bath)**—शीतल जल से भरे टब में ऊपर बीचों-बीच एक लकड़ी की पट्टी रखकर उस पर निर्वस्त्र होकर व बैठकर एक मोटे, रोयेदार तौलिया को पानी से भिगो-भिगोकर बार-बार जननेन्द्रिय को स्नान करायें। यह स्नान मृदुता से व सावधानी से 20 से 30 मिनट तक करना चाहिए। इस स्नान के पश्चात् हल्का लघु व्यायाम करें। व्यायाम पश्चात् गुरुप्रावरण (भारी वस्त्र जैसे-कम्बल आदि) ओढ़कर शरीर को गर्म कर लेना चाहिए। इससे शरीर की अतिरिक्त उष्मा बाहर निकल जाती है, कामोत्तेजना कम होती है, जननेंद्रिय व कटि प्रदेश के रोग दूर होते हैं।

(iii) **आतप स्नान (Sun Bath)**—सूर्योदय के समय की फोमल किरणों के सेवन से कई रोग दूर होते हैं। इसका विस्तृत वर्णन आगे सूर्य चिकित्सा में किया जायेगा।

(iv) **पाद प्रक्षालन (Foot Bath)**—प्राकृतिक चिकित्सा में गर्म जल (सुखोष्ण)

---

1. दीर्घं मृष्यमपुष्यं स्नानमोजस्करं परम्। कण्डूमलश्रमस्वेदतन्द्रादाहापकर्षणम्॥ (चरकाचार्य चिन्त्य प्रकृति प्रकरण 70)
2. ज्वरातिसारिणो न पेयकर्णशिरोक्षिषु। अजीर्णे। दीप्ताग्नेर्भुक्तवतश्च न सर्वदा॥ (चरकाचार्य चिन्त्य प्रकृति प्रकरण 79)

Scanned with CamScanner

से पैरों को धोना बताया है। सब्जी पद यात्रा के बाद पैरों को धोने से थकावट, सुस्ती व दर्द दूर होती है। भोजन पूर्व पाद प्रक्षालन से अधः काय की उष्मा उर्ध्वगामी होकर मस्तिष्क को प्रदीप्त करती है। पाद प्रक्षालन से चक्षुः प्रसादन भी होता है।

(v) पिण्डली या जंघा स्नान (Calf Bath)—पाद स्नान की ही विधि में किसी बर्तन में (बाल्टी आदि) जानु संधि तक जल भरकर उसमें 5 मिनट खड़े रहें, फिर पैर पोंछकर टहलना चाहिए। इस तरह के 3-4 बार प्रयोग करने से जंघा की पीड़ा (संधिवात, आमवात, ग्रध्रसी आदि) दूर होती है एवं पैरों में शक्ति का संचार बढ़ता है। जल को आवश्यकतानुसार शीत-उष्ण रखा जा सकता है।

(vi) पृष्ठवंश स्नान (Spinal Bath)—इस स्नान के लिए द्रोणी (नाद) के आकार के टब की आवश्यकता होती है। इसकी लम्बाई-चौड़ाई आतुर या साधक के आकार के हिसाब से रखना चाहिए। इस टब में आवश्यकतानुसार शीत-उष्ण जल भरकर निर्वस्त्र हो लेटना चाहिए। इस अवस्था में 10 से 20 मिनट रहना चाहिए। फिर टब से बाहर आकर गीले तौलिया से पोंछकर कुछ समय टहलना चाहिए। इससे कटिशूल, पृष्ठशूल, Ankylosing Spondylitis, Inter Vertebral Disc Prolapse (IVDP), Osteoarthritis आदि रोग दूर होते हैं।

(vii) भाप या वाष्प स्नान (Steam Bath)—इसके भी निम्न दो भेद वर्णित हैं-

(1) सर्वांङ्ग वाष्प स्नान (Generalised body steam bath)

(2) एकाङ्ग (चाड़ी) वाष्प स्नान (Localised steam bath)

(1) सर्वांङ्गवाष्प स्नान—इस स्नान का प्रयोग सर्वांङ्गगत व्याधियों में करते हैं। इसके लिए विशेष प्रकार की लकड़ी की पेटिका बनायी जाती है जिसमें नीचे से नलों के द्वारा जगह-जगह वाष्प छोड़ी जाती है। रोगी को कम्बल या चादर से ढँककर शिर को बाहर निकालकर शीत जल की पट्टियों से परिषेक कराते हुए रखते हैं। पेटी में प्रवेश करने के पूर्व रोगी को एक ग्लास सुखोष्ण जल पिलाया जाता है। पर्याप्त रूप से स्वेद आने तक शीत ऋतु में 30 मिनट तक यह स्नान कराते हैं। पेटिका में से रोगी को निकालकर उसी जगह या कमरे में 10 मिनट तक घुमाया जाता है जिससे तापान्तर धीरे-धीरे सामान्य हो। इसे सात दिन में एक बार (स्वस्थ अवस्था में) अवश्य करना चाहिए। इससे अति स्थौल्य, पक्षाघात, आमवात, संधिवात आदि रोग दूर होते हैं।

(2) चाड़ी वाष्प स्नान (एकाङ्ग)—किसी एक अंग में स्थानिक रूप से विकृति होने पर इसे किया जाता है। नाड़ीपत्र द्वारा नली की सहायता से रुग्ण अंग का वाष्प स्नान किया जाता है। इस स्नान से ग्रध्रसी, सन्धिवात, अंसबाहुक, एकाङ्गघात आदि रोगों में लाभ मिलता है।

(ब) आभ्यन्तर जल चिकित्सा—जल ही जीवन है। जीवित रहने के लिए जल

एक आवश्यक तत्त्व है। मानव शरीर का 70 प्रतिशत भाग जल तत्त्व से ही बना होता है। रक्त में भी 83 प्रतिशत भाग जल है। जल सभी पोषक तत्वों के लिए संवाहक का कार्य करता है। त्याज्य, विसर्जित, धिक्कार पदार्थों को स्वेद, मल, मूत्र के द्वारा शरीर से बाहर निकालता है। ग्रीष्म ऋतु में जल पीते रहने से तापाघात (Heat Stroke) की सम्भावना कम होती है, स्वच्छ शीतल होती है। प्रातःकाल जल पीते रहने से विबन्ध व उदावर्त रोग दूर होते हैं। बार-बार जल पीने से अति सूक्ष्म प्रमाण की मूत्राश्मरी भी घुलकर निकल जाती है। गर्भिणी स्त्री को अधिक जल पिलाना चाहिए जिससे गर्भस्थ शिशु स्वस्थ बना रहता है। स्तनपान करानेवाली स्त्रियों को भी दुग्ध संवर्धन के लिए पर्याप्त जल पीना चाहिए। जलाल्पता (Dehydration) की अवस्था में शिरामार्ग द्वारा जल व लवण का घोल दिया जाता है। 24 घंटे में प्रौढ़ व्यक्ति को शीत ऋतु में 3 से 5 लीटर व ग्रीष्म ऋतु में 8 से 10 लीटर जल पीना चाहिए।

2. मिट्टी चिकित्सा (Mud Therapy)—मनुष्य के जीवन का आधार मिट्टी ही है। अतः उसे मिट्टी (पृथ्वी) के सीधे सम्पर्क में रहना चाहिए। चिकित्सा के प्रयोग में मिट्टी साफ, स्वच्छ, चिकनी, खारीपन, कंकड़-पत्थर-बालू रहित होनी चाहिए। रंग के अनुसार मिट्टी के निम्न भेद वर्णित हैं जो रोगानुसार प्रयोग करें—

(i) पीली मिट्टी—इसे मन्दाग्नि, उदर विकार, यकृत प्लीहा रोग व नपुंसकता में प्रयोग करें।

(ii) श्वेत मिट्टी—इसे यकृत रोग व मस्तिष्क के रोगों में प्रयुक्त करें।

(iii) कृष्ण मिट्टी—यह त्वचा रोग व विषरोग नाशक है।

(iv) लाल मिट्टी—इसे शूल, आमवात, पक्षवध रोग में प्रयुक्त करें।

मिट्टी के विभिन्न प्रयोग

1. खुले वातावरण में नंगे पैर चलना, फिरना, चंक्रमण करना, टहलना चाहिए इससे शरीर पुष्ट होता है। वसुन्धरा की शक्ति शरीर में आती है।
2. मिट्टी पर लेटने व सोने से पाचन क्रिया ठीक रहती है, अनिद्रा के रोगियों को अच्छी नींद आती है।
3. मिट्टी के लेप व पट्टियों के प्रयोग से ज्वर, शोथ, शूल, दाह, चर्म रोग (Psoriasis), चोट, मोच, अग्निदग्ध (Burn & Scald) आदि रोग दूर होते हैं।
4. मिट्टी के पुल्टिस बाँधने से शिरःशूल, अतिसार, विबन्ध, ज्वर, अर्श, शूल आदि रोग दूर होते हैं।

3. आतप/सूर्य चिकित्सा (HelioTherapy)—सूर्य रश्मियाँ अन्धकार नाशक, विष प्रकाशक व सभी अदृश्य कृमियों का नाशक है। सूर्य उदय होने से लेकर अस्त होने तक सम्पूर्ण जगत के जीव-जन्तु-पेड़-पौधों को लाभ करता है। इसलिए प्राकृतिक चिकित्सक

Scanned with CamScanner

सूर्य किरणें में विद्युत-चुम्बकीय में सूर्य रश्मि चिकित्सा (Helio Therapy) के कई चिकित्सालय खुलवाये। यह स्वयं धातु शिक्षक प्रकार है। इससे शरीर में रक्त संचार बढ़ता है। शरीर में नई कोशिकाओं का निर्माण होता है। सूर्य की रश्मियों (Ultra violet rays) से त्वचा में विटामिन 'डी' का निर्माण होता है। इससे हृदय रोग, पाण्डु, हरीपेक, कामला, सूजन, घिस, गुर्दा आदि रोगों का नाश हो सकता है।

विधि—एकान्त में निर्वस्त्र होकर या हल्के कपड़े पहनकर प्रातःकाल सूर्य स्नान करना चाहिए। झील, नदी, तालाब, झरना या समुद्र तट पर धूप स्नान करना चाहिए। ऋतु के अनुसार 15 से 30 मिनट तक ही धूप स्नान लें। धूप स्नान के बीच-बीच में शुद्ध जल पीते रहना चाहिए। सप्ताह में एक या दो बार इसका सेवन करना चाहिए। प्रातःकालीन उषा किरणों का सेवन प्रतिदिन किया जा सकता है।

4. **वायु या आक्सीजन चिकित्सा (Air/Oxygen Therapy)**—वायु हमारे लिये समस्त क्रियाओं का प्रेरक, संचालक व नियामक है। वायु से ही शब्द श्रवण व स्पर्श ज्ञान होता है। वायु से प्राण व जीवनीय शक्ति मिलती है। विशुद्धवायुगत (Oxygen) की इसी वायु चिकित्सा से प्राप्त होती है। वायु सेवन के लिए प्रातःकाल का सायंकाल का समय उपयुक्त है। आज की अत्याधुनिक, महानगरीय, प्रदूषित वातावरण वाली जिन्दगी में शुद्ध वायु प्राप्त होना कठिन हो गया है। अतः महानगरों में आधुनिक प्राणवायु घर (Oxygen Bar) खुलते जा रहे हैं।

5. **अभ्यङ्ग चिकित्सा (Massage Therapy)**—अभ्यङ्ग प्राकृतिक चिकित्सा का महत्वपूर्ण अंग है। अभ्यङ्ग या मर्दन से वात रोग (Neurological disorders) ठीक होते हैं। अभ्यङ्ग से एक व्यक्ति से दूसरे में ऊष्मा, ऊर्जा, स्वास्थ्य व जीवनीय शक्ति का संचार होता है, पेशियाँ सुडौल रहती हैं, रक्त संचरण बढ़ता है, रक्त के श्वेताणु (W.B.C.) भी बढ़ते हैं व जीवनीय शक्ति (Immunity) बढ़ती है। विजातीय व विषैले तत्व शरीर से बाहर निकलते हैं। अभ्यङ्ग से Endorphins नामक एसायनिक तत्व शरीर में बढ़ते हैं एवं स्वास्थ्य उत्तम बनता है। अभ्यङ्ग से शूल, तनाव भी दूर होता है। अभ्यङ्ग के मुख्यतः निम्न दो भेद होते हैं—

(i) स्निग्ध या आर्द्र अभ्यङ्ग—इसमें अनेक प्रकार के तैलों का प्रयोग करते हैं।

(ii) रूक्ष या शुष्क अभ्यङ्ग—इसमें सूखे व रूक्ष पदार्थों से मर्दन किया जाता है।

अभ्यङ्ग के अन्य प्रकार

(i) उद्वर्तन (Applying paste)—इसमें उबटन लगाकर अभ्यंग करते हैं।

(ii) उद्घर्षण (Rubbing)—इसमें रगड़कर अभ्यङ्ग किया जाता है।

(iii) थपथपाना (Tapping)—बच्चों को धीरे-धीरे कोमलता से थपथपाया जाता है।

(iv) गुंजन (Stroking)—आटा गूंधने के समान अभ्यङ्ग करना।

(v) मुट्ठी मारना (Beating)—मुट्ठी बाँधकर पीठ आदि पर मारना।

(vi) कम्पन (Vibrating)—विशेष प्रकार की हल्की-फुल्की अभ्यङ्ग चिकित्सा जिसमें चिकित्सक रोगी के शरीर पर हल्के हाथ से कम्पन युक्त अभ्यङ्ग करता है।

वर्णित अभ्यङ्ग चिकित्सा से ग्रीवा शूल (Neck pain), कटिशूल (Backache), संधि रोग (Arthritis), मोच (Sprain), सुन्नता (Numbness), पक्षाघात (Paralysis), गृध्रसी (Sciatica) आदि रोग दूर हो सकते हैं।

अभ्यङ्ग निषेध—अस्थिभङ्ग (Fracture), घाव, व्रण, शोथ की अवस्था व गर्भावस्था के प्रथम त्रिमास (1st Trimester of pregnancy) में अभ्यंग नहीं करना चाहिए।

6. **उपवास चिकित्सा (Fasting Therapy)**—आयुर्वेद ग्रन्थ ने लंघन उपक्रम के दस भेदों के अंतर्गत 'उपवास' चिकित्सा का वर्णन किया है। उपवास का शाब्दिक अर्थ है 'समीप निवास' अर्थात् दुर्गुणों का परित्याग कर सद्गुणों के समीप निवास करना ही उपवास है। यह एक व्रत भी है। दैव व्यपाश्रय चिकित्सा के अंतर्गत 'उपवास' करने को कहा गया है। उपवास दुग्धाहार, फलाहार, रसाहार, सोडकर, काल व आमदोषहर है। उपवास से जठराग्नि तथा जीवनीयशक्ति की वृद्धि होती है, रोग नष्ट होते हैं एवं इसका बड़ा ही धार्मिक महत्व है। उपवास के तीन भेद होते हैं-

(i) सजल उपवास

(ii) निर्जल उपवास

(iii) निराहार उपवास

(iv) फलाहार उपवास

फलाहार में मुनक्का, किशमिश, अंजीर, खजूर, बिल्व, संतरा, सेव, अनार, पपीता, आम, चीकू आदि फलों का प्रयोग करते हैं। यह सभी लघु, ऊर्जादायक व शक्तिदायक होते हैं। फलों के अभाव में पपीता, तोरई, घीकवार, लौकी, ककड़ी आदि का रस निकालकर भी प्रयोग किया जा सकता है।

सामान्यतया: 3 दिन का उपवास कोई भी व्यक्ति कर सकता है। एक बार में 15 दिन से अधिक लम्बा उपवास नहीं करना चाहिए। दीर्घकालीन उपवास में बिल्व रस मिले जल का सेवन करते रहना चाहिए, तत्पश्चात् फलाहार व दुग्ध का सेवन करना चाहिए। उपवास पश्चात् संसर्जन क्रम से अनुक्रम से लघु किंतु गुरु आहार को और बढ़ना चाहिए। विबन्ध रहने पर गुनगुना जल का एनीमा से लेना चाहिए। उपवास काल में उत्क्लेश (Nausea), मुखशुष्कता (Dry mouth) मालूम पड़े तो शर्करा, हरड़, एला का प्रयोग करना चाहिए। गुरु, गरिष्ठ, धारक, अतिरूक्ष व अतिस्निग्ध आदि को उपवास नहीं

Scanned with CamScanner

कराना चाहिए। जैसे स्वतन्त्राहार या फलाहार ही दें।

उपवास के दौरान सहायक चालनीय कार्य

1. शांत व स्वच्छ स्थान में रहें।
2. एकान्तवास करें।
3. मौन धारण करें।
4. मन्त्रवाचन (गायत्री मंत्र आदि) करें।
5. श्वास-प्रश्वास पर नियमन कर प्राणायाम अभ्यास करें।
6. दिवास्वाप न करें।
7. शारीरिक व मानसिक श्रम से बचें।
8. क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष से दूर रहें।
9. तनाव व अवसाद से बचें।
10. प्रसन्नचित्त रहें।

उपवास के लाभ—उपवास से संसर्गज जन्य रोगों (फफक व अगमज रोग) में लाभ होता है। ज्वर की प्रारंभिक अवस्था में भी उपवास (लंघन) कराने से आम दोष पाचन होता है। उपवास से विषम हुए दोष सम होते हैं। स्थौल्य, मधुमेही, मेदोरोग, आमवात, श्वेतकुष्ठ, हृदय रोग आदि में उपवास चिकित्सा से लाभ हो सकता है।

उपवास निषेध—कृश-दुर्बल रोगी, राजयक्ष्मा, क्षतक्षीण, कृशमधुमेही, भस्मक रोग से ग्रस्त, गर्भिणी, वृद्ध, बालक आदि में उपवास नहीं कराना चाहिए।

3. यूनानी व तिब्बि चिकित्सा पद्धति (Unani & Tibbi Medicine)

विश्व की समस्त पारम्परिक चिकित्सा पद्धतियों से [illegible] मौलिक सम्बन्ध है। कुछ सिद्धांत व चिकित्सा के प्रकार ऐसे हैं जो सामान्य [illegible] प्राचीन-अर्वाचीन पद्धतियों में मिलते हैं। यूनान व भारतवर्ष की चिकित्सा प [illegible] धिक समानता है। ग्रीक (यूनानी) चिकित्सा पद्धति आयुर्वि [illegible] वि [illegible] ी जाती है। प्राचीन समय में यूनान व भारत में पारस्परि [illegible] सम्बन्ध था। विद्वान एक-दूसरे के देशों की यात्रायें करत [illegible] मार्ग से यूनान से भारत आवागमन होता था। इसके फल [illegible] से यूनान देश के दार्शनिक व चिकित्सक प्रभावित [illegible] के दोनों देशों में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हुए। सिकन्दर [illegible] कार्यकुशलता से प्रभावित होकर अपनी चिकित्सा से [illegible] नियुक्ति की और कुछ वैद्यों को स्वदेश भी ले गया। [illegible] सीरिया और फारस देश तक [illegible]। अतएव यूनान [illegible] का प्रचलन हो गया। दोष सि [illegible], आयुर्वेद विज्ञान, [illegible] विज्ञान आदि विषय दोनों पद्धतियों [illegible]।

यूनानी व आयुर्वेद चिकित्सा पद्धतियों में समानतायें—यूनानी चिकित्सा पद्धति के सिद्धांत आयुर्वेद के सिद्धांतों के ही अनुरूप हैं। यूनानी चिकित्सा का मूल आयुर्वेद ही है एवं आयुर्वेद के सिद्धांतों के आधार पर ही यूनानी चिकित्सा के सिद्धान्त स्थापित किये गये हैं। यूनानी और आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धतियों में निम्न प्रमुख समानतायें हैं-

1. **मौलिक सिद्धांत**—यूनानी दार्शनिक चतुर्भूत (जल-अग्नि-वायु-पृथ्वी) का सिद्धांत मानते हैं। आयुर्वेद में पञ्चमहाभूत (आकाश-वायु-अग्नि-जल-पृथ्वी) का सिद्धांत सर्वमान्य है। वस्तुतः पञ्चमहाभूतों में से 'आकाश' महाभूत अव्यक्त होने के कारण शेष चार महाभूतों में ही परिगणित या परिलक्षित होता है। कहीं-कहीं पर आकाश तत्व को भी स्वीकार कर पञ्चतत्व स्वीकार किया गया है। पञ्चमहाभूत संघात वायु का जन्म देने लगा था। उस समय पूर्णतः आयुर्वेदीय प्रभाव था, क्योंकि आयुर्वेद में वायु प्रधान जन्य पुरुष की अवधारणा स्पष्ट है। इसी के लिये चिकित्सा अभिप्रेत है।

चतुर्भूत से समान चतुर्दोष का सिद्धांत भी यूनानी चिकित्सक मानते हैं। उनके मत से कफ (Phlegm), रक्त (Blood), पित्त (Yellow bile) और वात (Black Bile) ये चार दोष हैं। आयुर्वेद में वात-पित्त-कफ ये त्रिदोष माने गये हैं, परंतु आयुर्वेद में भी अल्प सम्प्रदाय (विशेषकर आचार्य डल्हण) के लोग 'रक्त' को चतुर्थ दोष मानते हैं।

दोषों की साम्यावस्था से स्वास्थ्य तथा विषमता से रोग उत्पन्न होते हैं। यह यूनानी चिकित्सा पद्धति का एक प्रमुख सिद्धांत है जो आयुर्वेद के सिद्धांत से पूरा मेल खाता है।

प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक अरस्तु ने बादमार्ग (शरीरार्थ जलने के नियम) का विशेष रूप से वर्णन किया है जो आयुर्वेद चरकोक्त बादमार्ग के 44 पदों से सम्बन्ध रखते हैं।

2. **विकृति व रोग विज्ञान**—यूनानी में विकृति विज्ञान में दोषों के अतिरिक्त 'आमदोष' को महत्व दिया गया है। आम की अम्लावस्था, पक्वामावस्था, शुष्कावस्था मानी गयी है जो आयुर्वेदीय अवधारणा है।

यूनानी [illegible] भी परीक्षा में रोगी को आयुर्वेद, प्रकृति, देश, काल आदि के [illegible] ज्ञान का [illegible] मध्यम है। अंतिम (मृत्यु सूचक लक्षण) विज्ञान में स्वप्न [illegible] सम्बन्धी [illegible] दोषों ने किया है। रोगों की उत्पत्ति या विकृति अथवा [illegible] महत्व पर आयुर्वेद व यूनानी दोनों ने बहुत जोर दिया है। [illegible] (Code & Conducts), शिष्टाचार और मानवीय व्यवहार [illegible] किया गया है।

[illegible] द्रव्यगुण सम्बन्धी—मनुष्यों के आरोग्य व रोगोत्पत्ति पर ऋतुओं, [illegible] दोषों को मानते हैं। हिप्पोक्रेटिस ने वायु, जल, देश व काल को

Scanned with CamScanner

त्रिदोषों से रोग का जन्म माना है। आचार्य चरक ने जनपदोध्वंस प्रकरण में इसका उल्लेख किया है। हिप्पोक्रेटिस द्वारा प्रस्तुत आचार विधान (Oath) आयुर्वेदोक्त सदवृत्त के आधार पर ही है।

4. द्रव्यगुण सम्बन्धी—हिप्पोक्रेटिस के मेटेरिया मेडिका (निघण्टु) एवं व्याख्यानों (व्याख्यानों), जिंजीबेर (शृङ्गवेर-आर्द्रक), पिपर निग्रम (पिप्पली व पर्याय), पेरेनिस रिजा (पिप्पली मूल), कोसतस (कूठ), सकरुन (शर्करा) आदि शब्द भारतीय शब्दों के ही रूपांतर है। फाइकस इन्डिका नामक औषध में 'इन्डिया' शब्द का बोध होता है। भारत से मंगाने जानेवाली अन्य वस्तुएं हस्तिदन्त, स्वर्ण, रत्न, चन्दन, मोर आदि थीं। शर्बत व मुरब्बा का वर्णन अलग से है।

5. कायचिकित्सा सम्बन्धी—रोग के विपरीत गुण वाली (व्याधि-विपरीत) औषधियों के प्रयोग से रोगों का संशमन दोनों ही मानते हैं। मलेरिया (विषम ज्वर) के अन्येद्युष्क, तृतीयक व चतुर्थक प्रकार, क्षय, पाण्डु में मृदुभक्षण जन्य पाण्डु दोनों पद्धतियों में समान हैं। औषध के रूप में अथवा आरोग्य की समृद्धि के लिए युक्तियुक्त ढंग से मद्य का प्रयोग करना दोनों पद्धतियों ने उचित माना है। चिकित्सा में उपवास (लंघन), संशोधन, संशमन, दैवव्यपाश्रय चिकित्सा, दैवोपासना, पथ्यापथ्य व्यवस्था दोनों विचारधाराओं में समान है।

6. प्रसूति व भ्रूण सम्बन्धी—गर्भ के प्रत्येक अंग को एक ही साथ उत्पन्न स्वीकार की गयी है। शुक्र के विभाजन से युग्म उत्पत्ति (Twins), पुरुष सन्तान का शरीर के दक्षिण भाग से व स्त्री सन्तान का वाम भाग से सम्बन्ध बताया गया है। अष्टम मास का गर्भ जीने वाला तथा सप्तम मास को गर्भ क्षीणायु कहा गया है। मूढ़गर्भ व मृतगर्भ को निकालने के समान उपाय दोनों पद्धतियों में वर्णित हैं।

7. शल्य सम्बन्धी—जलोदर (Ascites) रोग में वामकुक्षि का व्यधन कर उदक निकालने का विधान दोनों विधाओं में समान है। अश्मरी (पथरी) रोग में दोनों में समान शल्यकर्म वर्णित है। अर्श रोग चिकित्सा में भी शल्य कर्म का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त रक्तमोक्षण, अग्निकर्म, जलौकावचरण भी समान है। अनेक यन्त्रों-शस्त्रों का वर्णन भी समान है।

8. शालाक्य सम्बन्धी—लिङ्गनाश (Cataract) का शस्त्रकर्म दोनों पद्धतियों में समान है। नेत्र के शल्यकर्म के समय दक्षिण नेत्र के लिये वामहस्त का प्रयोग तथा वामनेत्र के लिये दक्षिण हस्त का प्रयोग बताया है। आयुर्वेद में दन्तरोगों की उत्पत्ति पित्त दोष से मानी गयी है। हिप्पोक्रेटिस ने भी दन्तमूलशोथ व दन्तवेष्टन रोगों को पित्तदोषज माना है। हिप्पोक्रेटिस ने मुखदौर्गन्ध्यनाशक औषध के नाम का उल्लेख भारतीय औषध (Indian Medicament) शब्द से किया है।

9. अगद तन्त्र व विष सम्बन्धी—सर्पविष सम्बन्धी चिकित्सा का वर्णन दोनों

विधाओं में समान है।

यूनानी चिकित्सा पद्धति के सामान्य सिद्धान्त

यूनानी चिकित्सा पद्धति के सिद्धान्त को "सत जरूरिये" (छह आवश्यक विषय) कहा जाता है। जो निम्न प्रकार हैं—

i) वायु

प्राणों के लिये आवश्यक वस्तुओं में वायु एक है। उत्तम वायु वह है जिसमें धुआं (धूल-गर्दा) व बुआं न मिला हो।

वायु हर ऋतु में बदलती है। ऋतुयें निम्न चार हैं—

(अ) सैफ (ग्रीष्म) (स) सत्ता (शीत)

(ब) खरीफ (द) रबीअ

हकीमों के विचार से खरीफ व रबीअ डेढ़-डेढ़ महीने को व सैफ (ग्रीष्म), सत्ता (शीत) साढ़े चार-साढ़े चार महीने की होती है।

ii) आहार एवं खानपान

यूनानी में गेहूँ, चावल, चना, मूंग, जौ, मसूर, अरहर, कावला, जुवार, मौठ, मटर, साबा, कोदों का वर्णन है। अल्पाहार में खाना खाने के आधे भोजन की अधिकता से बढ़कर कोई खराब नहीं है। बहुत से रोगों के रोग पेट के भरे रहने (अभ्यजीर्ण) से उत्पन्न होते हैं। मांस का विस्तृत वर्णन है। मुर्गा, तीतर, लावा, चिड़िया, मछली का मांस उत्तम माना है। चौपायों में बकरी, भेड़, मेमना, हरिण विशेषकर इनके बच्चों का मांस उत्तम है। हरिण के मांस में गर्मी अधिक है। बड़े का जल उत्तम माना है। भोजन ग्रहण करने के 2-3 घंटे बाद पानी पीना अच्छा है। भोजन के तुरन्त बाद पानी पीना ठीक नहीं है।

iii) निद्रा एवं जागरण

यायी करवट लेटना भोजन पचाने में सहायक है। चित सोना कठिन है यह विपत्ति स्वप्न दिखाता है। सवेरे (ब्रह्ममुहूर्त) के समय सोना बढ़ता पेट कराता है। भूख में सोना शरीर को क्षीण करता है। भूख में सोना मना है। सोने व जागने में समभाव रखना उत्तम है।

iv) वेगधारण एवं वेगनिग्रह

धारण करने योग्य समझकर वेगों को रोकना चाहिये एवं उपरवर्णनात्मक मल-मूत्रादि वेगों को शरीर से खाली करना चाहिये। मनुष्य को प्रतिदिन दो बार मल त्यागना चाहिये, यह आरोग्यता का सूचक है।

v) मानस भाव

क्रोध, घबराना, भय, चिन्ता, इन सभी मानसिक स्थितियों में शरीर पर भी भाव

Scanned with CamScanner

(लक्षण) दिखाई देते हैं।

vi) व्यायाम व चिकित्सा

शरीर का हिलना, डुलना, चलना, फिरना, उछलना आदि सभी क्रिया व्यायाम के निकटतम है। अधिक विश्रम (आराम-आलस्य) से अपचन होकर विबन्ध, अजीर्ण आदि होता है। चलते रहने से भोजन शीघ्र ही पचजाता है। परिश्रम करने वाले को गरिष्ट भोजन भी पच जाता है। यह परिश्रम जिससे समस्त शरीर के अंग पुष्ट-सुदृढ़ हों वह बदन की 'कीमिया' है। मैथुन कर्म भी एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है। जब पुरुष में बल उपस्थित हो और उचित स्त्री सहयोग दे तो मैथुन करना चाहिये। काल और परिस्थिति होना अत्यावश्यक है। वीर्य का बिन्दु मनुष्य का जीवन है, उससे मनुष्य उत्पन्न होता है, यह शरीर का बल है इसलिये इस बहुमूल्य मोती को कुसंगति में व्यर्थ नहीं करें। सप्ताह में दो दिन से अधिक स्त्री संभोग न करें।

अन्य सिद्धान्त

(अ) स्नान (हम्माम)

कफ प्रकृति (स्वभाव) वाले को अधिक स्नान मना है। पतला, अतिसार रोगी, वातज, वृद्ध को ठण्डे पानी से स्नान न करायें। भोजन व मैथुन के बाद स्नान करना निषिद्ध बताया गया है। बहुत दिनों तक नहीं नहाने से शरीर गन्दा, भद्दा हो जाता है।

(ब) अखलात या खिल्यत (दोष)

यूनानी पद्धति में भी आहार पाक परिणाम स्वरूप दोषों की उत्पत्ति बतलायी है। ये दोष खून (रक्त), बल्गम (कफ या श्लेष्मा), सफरा (पित्त), एवं सौदा (वायु) कहलाते हैं। यूनानी मतानुसार आहार-पाक काल में आहार रस से जो फेन सदृश्य भाग ऊपर की ओर आ जाता है वह सफरा (पित्त) है, जो तल में बैठ जाता है वह सौदा है, जो अग्नि (पाचन) की कमी से अर्धपक्व व अपचित रह जाता है वह बल्गम (श्लेष्मा) है एवं जो सम्पूर्ण पाक होकर प्रकृतिस्थ हो जाता है वह खून (रक्त) है। इस प्रकार यकृत में चार दोषों की उत्पत्ति होने के बाद सफरा व सौदा दो भागों में बँट जाते हैं, जिनमें कुछ सफरा पित्ताशय में तथा कुछ सौदा प्लीहा में चला जाता है। वह सफरा व सौदा रक्त में मिलकर रक्तवाहिनी में चला जाता है परन्तु बल्गम के लिये कोई विशिष्ट आश्रय नहीं है वह खून के साथ मिलकर रक्तवाहिनियों में चला जाता है। इन चारों दोषों (अखलात) का विस्तृत वर्णन निम्नानुसार है—

i) रक्त अखलात

यूनानी में रक्त को सर्वश्रेष्ठ और प्रथम दोष माना जाता है। बाकी के सभी अखलात रक्त में मिले होते हैं। रक्त में रक्त के उपादानों के साथ पीत (पित्त), कृष्ण (सौदा-वायु) और श्वेत (श्लेष्मा) भी पाये जाते हैं जिनके सही अनुपात (Ratio) में रहने पर आरोग्य

स्थिर रहता है। जब इन अखलातों के गुण और प्रमाण में अन्तर आ जाता है, तो सेहत खराब हो जाती है।

रक्त प्रकृति—रक्त उष्ण व स्निग्ध होता है। यह शरीर की उष्मा का आधार है। यह पोषण व शरीर घटकों की पूर्ति करता है। धातुओं की वृद्धि करता है। त्वचा में सौन्दर्य व कान्ति पैदा करता है।

रक्त के प्रकार—प्राकृत व विकृत भेद से रक्त दो प्रकार का होता है—

i) प्राकृत रक्त—इसे 'तबई खून' कहते हैं। इसका वर्ण गुलाब के खून जैसा होता है, यह दुर्गन्ध रहित, न अति तनु न सान्द्र और मधुर स्वाद वाला होता है।

ii) विकृत रक्त—इसे 'गैरतबईखून' भी कहा जाता है। इसका वर्ण व गन्ध प्राकृत रक्त से भिन्न होता है। इसके तीन अवान्तर (भेद) होते हैं जो निम्न हैं—

(अ) दमे बल्गमी (श्लेष्मा युक्त रक्त)

(ब) दमे सौदावी (सौदायुक्त रक्त)

(स) दमे सफावी (पित्तयुक्त रक्त)

ii) बल्गम अखलात

प्रकृति—यह शीत, स्निग्ध, श्वेत एवं सान्द्र होता है। यह शरीर का पोषण, स्निग्धता, चिच्चिलता पैदा करता है। यह मुख, अन्न प्रणाली, आमाशय, नाभि, कण्ठ, स्वासनली, श्वास प्रणाली, फुफ्फुस, बस्ति एवं गर्भाशय आदि के अवलेप (Mucous-membrane) को अपने से तर रखता है।

बल्गम के प्रकार—प्राकृत और विकृत भेद से यह निम्न दो प्रकार का होता है—

i) प्राकृत बल्गम—यह रक्त के साथ मिला होता है। भूख लगने पर जठराग्नि से पाचित होकर रक्त बन जाता है। इसे ही 'बल्गम तबई' कहते हैं।

ii) विकृत बल्गम—यह रक्त में परिणित नहीं होता है या कठिनता व देर से होता है। बैकृत होने पर यह नमकीन, अम्ल, बेस्वाद और कसैला होता है। इसे ही 'गैरतबईबल्गम' कहते हैं।

भौतिक स्थिति अनुसार बल्गम भेद

(अ) पतला बल्गम

(ब) गाढ़ा बल्गम

(स) मलभूत या स्थूल बल्गम

(द) आम या कच्चा बल्गम

Scanned with CamScanner

बल्गमज (श्लेष्माल) रोग

i) बरास हम्मी
ii) सतआ आसाबिगदा
iii) सतआ सहमिया
iv) सतआ अर्दहारिया
v) जमा या सत्तावा रुफीरस
vi) सफरा अख्लात

यह आयुर्वेदोक्त 'पित्त दोष' के ही समान है।

प्रकृति—यह पीतवर्ण, उष्ण, रुक्ष व तिक्त रस वाला होता है। इसके [illegible] होने से आमाशय में एवं मल निष्कासन के समय गुदा में जलन होती है। यह रक्त में मिलकर उसे पतला एवं सूक्ष्म स्रोतों में संचरण योग्य बनाता है। यकृत में निर्मित होकर आन्त्र में जाता है। आहार के पाचन में सहायक है। यह अपनी तीक्ष्णता व विदाहिता से [illegible] नष्ट करता है।

सफरा के प्रकार—इसके प्राकृत व विकृत ये दो भेद होते हैं—

i) प्राकृत सफरा—यह केशरिया वर्ण, लघु, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, तनु एवं स्नेह [illegible] हल्का होता है। इसे 'तबई सफरा' भी कहते हैं।

ii) विकृत सफरा—पित्त के साथ जब कोई बाहरी पदार्थ मिल जाता है तब यह विकृत होकर 'गैरतबई सफरा' कहलाता है। यह घनीभूत कफ, पक्व रस विदग्ध पदार्थ के साथ मिलता है।

सफरा के (पित्तज) रोग

i) यरकान अल्कर-कामला, गाऊ, हलीमक आदि
ii) इलतुल कालिद-पित्तानरी
iii) इसकेलशकी
iv) बुसक्क सलिया
v) सिरसर
vi) कालिद अम्फर
iv) सफरा अख्लात

आयुर्वेद मतानुसार वायु (सौदा) की उत्पत्ति पक्वाशय में होती है। जब आहार का क्वाथ होकर द्रवांश पृथक हो जाता है, और मल शेष रहता है उस समय वायु तत्व की उत्पत्ति होने से वायु उत्पन्न होती है। किन्तु यूनानी मतानुसार आहार रस के पाक के समय यकृत में तलछट की भाँति नीचे स्थित पदार्थ को वायु कहा गया है। 'सौदा' शब्द अरबी भाषा का है जिसका अर्थ काला अथवा स्याह है। यह कृष्ण पित्त भी कहलाता है।

प्रकृति—यह शीत व रूक्ष होता है। यह रक्त को सान्द्र व कठिन बनाता है। [illegible]

का पोषण करता है। कुछ सौदा आमाशय में जाकर भूख बढ़ाता है, भोजन में रुचि पैदा करता है।

सौदा के प्रकार—इसके निम्न दो भेद होते हैं—

i) तबई सौदा—यह प्लीहा का मल है, जो कि प्लीहा में संचित होता है तथा कुछ प्रमाण में रक्त के साथ भ्रमण करता है।

ii) गैर तबई सौदा—सौदा के जलने या रूप परिवर्तित हो जाने से विकृत सौदा बन जाता है। इसके निम्न चार भेद हैं—

(अ) श्लेष्मविदग्ध सौदा-सौदा बलगमी
(ब) पित्त विदग्ध सौदा-सौदा सफरावी
(स) रक्त विदग्ध सौदा-सौदा दम्वी
(द) सौदा विदग्ध सौदा-सौदाय सौदावी

सौदावी (वातज) रोग

i) बराज सौदावी
ii) कै सौदावी
iii) जल्दे सौदावी
iv) सतह सौदावी
v) सरसाल सौदावी
vi) अर्क सौदावी

(स) प्रकृति या मिजाज

जिन भूतों से शरीर का निर्माण होता है, वे सभी अल्पाधिक मात्रा में मिले होते हैं किन्तु उनका अनुपात किसी व्यक्ति में सम और किसी में विषम होता है। जब सभी भूत अपनी उचित मात्रा में रहते हैं तो यह व्यक्ति सम प्रकृति होता है। वात या सौम्य की अधिकता से सौदावी मिजाज, पित्त या सफरा की अधिकता से सफरावी मिजाज, कफ या बलगम की अधिकता से बल्गमी मिजाज व रक्त की अधिकता से रक्तप्रकृति या खूनी मिजाज कहलाता है।

प्रकृति (मिजाज) के भेद

यह निम्न दो प्रकार का होता है—

(i) इम्तिजाज आजाज—जब दो या दो से अधिक महाभूत हों तो उनके समवेत होने पर उनके गुणधर्म यथावत् बने रहें तो वह "इम्तिजाज आजाज" या प्रकृति सम समवेत कहलाता है।

(ii) इम्तिजाज हकीकी—यदि भूत इस प्रकार समवेत हों कि अपने (स्व) गुणधर्म व स्वभाव परिवर्तित कर अन्य गुण धर्म ग्रहण कर लें तो यह "इम्तिजाज हकीकी" अथवा विकृति विषम समवेत कहलाता है।

(द) उमूरत तोइय्या (दोष-धातु-मल विज्ञान)—जिस प्रकार आयुर्वेद में 'दोष-धातु-मल मूलं हि शरीरम्' कहकर इनको शरीर का मूल आधार माना है, उसी तरह

यूनानी में उसके आधारभूत सिद्धान्तों में 'उमूरे-तबीइया' का स्थान है। इसके निम्न तत्व आते हैं—

i) अरकान अरबआ-(चतुर्थांश तत्व)
ii) मिजाज-तुबा-(प्रकृति-स्वभाव)
iii) अखलात-(चतुदोष)
iv) आजा-उज्वाने इब्ब (शरीर रचना)
v) अरवाह-(ओज)
vi) कुवा या कुव्वत-(शक्ति या बल)
vii) अफआल-शरीर क्रिया विज्ञान

उपर्युक्त में प्रथम, द्वितीय, तृतीय का विस्तृत वर्णन पूर्व में किया जा चुका है। अब आगे का वर्णन किया जा रहा है—

आजा (शरीर-रचना विज्ञान)

इसके दो निम्न दो भेद हैं—

(अ) आजा मुफरदा—इसमें निम्न रचनायें आती हैं—

i) अज्म (अस्थि) ii) कुर्रा (तरुणास्थि)
iii) अहब (स्नायु) iv) तनुर (कण्डरा)
v) रिबात (कला) vi) लहम (मांस)
vii) गहरा (त्वचा) viii) समोफ (पतली चर्बी)
ix) शहमान (चर्बी) x) अविरक्षा (सिरा)
xi) मुरुक (मज्जा) xii) रिक्तान

(ब) आजा मुरुकबा—शरीर के समस्त अंङ्ग या अवयव आजा मुरुकबा कहलाते हैं जैसे-आमाशय, यकृत, प्लीहा, फुफ्फुस, वृक्क, हृदय आदि।

अरवाह (ओज)

अरवाह को यूनानी में समस्त धातुओं का सारभूत सूक्ष्म अंश माना है, जो प्राण का आधार है। शरीर में रह का अस्तित्व इसी पर निर्भर है।

अरवाह के कार्य—यह अंग-प्रत्यंग को बल व ऊर्जा देता है। सर्वशरीर में स्थित, संज्ञा-चेष्टा और प्राण का संचार करता है। यह प्राणशक्ति को समृद्ध बनाता है। मानसिक बल बढ़ाता है एवं शारीरिक बल की वृद्धि करता है।

अरवाह के भेद-इसके निम्न तीन भेद होते हैं-

i) अरवाह अफसानिया
ii) अरवाह हैवानिया
iii) अरवाह तबई

कुवा-कुव्वत (शक्ति या बल)

शरीर के बाह्य या आभ्यन्तर भाग में समस्त क्रियाओं का संचालन एक अदृश्य शक्ति के द्वारा होता है उसे 'कुव्वत' कहा जाता है।

कुव्वत के भेद—इसके निम्न तीन भेद होते हैं—

i) कुवात तबई
ii) कुवात मुदब्बिरा
iii) कुव्वत हैवानी

अफआल (शरीर क्रिया विज्ञान)

यूनानी में कर्म या क्रिया को 'फेल' कहते हैं। अफआल अर्थात् कर्म के लिए शब्द का बहुवचन है। जो कुव्वत या बल से सम्पन्न होती है उन क्रियाओं को 'फेल' कहते हैं। जैसे-शोषण, उत्सर्जन, संचालन आदि।

(३) यूनानी में रोगी परीक्षा

यूनानी चिकित्सा पद्धति में नाड़ी, मल, मूत्र परीक्षा का वर्णन बहुतायत से मिलता है जो निम्न प्रकार है—

(अ) नाड़ी परीक्षा

यूनानी भाषा में नाड़ी को 'नब्ज' कहा जाता है। नब्ज का अर्थ है-शिरा का तड़फना। नाड़ी की चाल में, मनुष्य की प्रकृति, देश, काल, वायु, अवस्था आदि के कारण भिन्नता होती है। नाड़ी की गतियाँ निम्न प्रकार हैं—

1. वात (सौदा) प्रकोप में मौज (लहर या तरंग) की तरह चलने वाली 'मौजी' नाड़ी कहलाती है।
2. पित्त (सफरा) प्रकोप में मृग (हिरण) के बच्चे जैसी उछलकूद वाली नाड़ी 'गिजाली' है।
3. कफ (बलगम) या आम दोष में कृमि की तरह मन्द गति से चलने वाली नाड़ी 'दूदी' कहलाती है।
4. चींटी या मोर जैसी नाड़ी गति शीघ्र मृत्यु को सूचित करती है। यह 'उमती' गति है।
5. अश्व की समान चलने वाली 'सिबाती' गति रोग की अवस्था में मिलती है।
6. मूषक की पुच्छ की तरह पित्त प्रकोप वाली नाड़ी 'जब्बाहकार' कहलाती है।
7. बल के नष्ट होने पर सलाई के आकार की सूक्ष्म नाड़ी 'मासीं' कहलाती है।
8. सिरकफज (सफरा बलगम) दोष वाली नाड़ी गति '[illegible]फरकत'

Scanned with CamScanner

कहलाती है।

9. रक्तपूर्ण (खूनी) नाड़ी 'मुश्किली' कहलाती है।

10. ताप या कफ युक्त पतली नाड़ी 'मुन्खफिज्' कही गयी है।

11. स्वस्थ पुरुष की निर्दोष नाड़ी को 'खानिसुल्यस्त' कहते हैं।

(ब) मल परीक्षा—मल भी आम व निराम दो तरह का माना गया है। आम दोष को पकाने के लिये 'मुंजिज' औषध दी जाती है। तत्पश्चात मल को आन्त्रों से बाहर निकालने वाली दवा 'मुसिल' कहलाती है। 'तलीम' वह है जो कोष्ठ व आन्त्रों में चिपके हुये मल को निकालती है। ईसबगोल की भूसी गर्म मिजाज वालों को दूध के साथ देने को कहा गया है। चिकित्सक के परामर्श से ही 'मुसिल' का प्रयोग करें।

(स) मूत्र परीक्षा (कारूरा)—मूत्र परीक्षा को यूनानी में 'कारूरा' परीक्षा कहा जाता है। तैल बिन्दु परीक्षा का भी वर्णन मिलता है।

(फ) फस्द (रक्तमोक्षण)

फस्द समस्त दोषों को निकालता है। यह 12 वर्ष की उम्र से 60 वर्ष के बीच ही करना चाहिये।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यूनानी चिकित्सा पद्धति के सामान्य सिद्धान्त व चिकित्सा सिद्धान्त आयुर्वेद के सिद्धान्तों से मेल खाते हैं। दोनों चिकित्सा पद्धतियों में अनेक समानतायें है। यूनानी तिब्बि चिकित्सा पद्धति का विस्तृत विवेचन अध्येताओं को इससे सम्बन्धित अन्य ग्रन्थों में अवलोकन करना चाहिये।

4. सिद्ध चिकित्सा पद्धति (Siddha Medicine)

रस शास्त्र के उत्कर्ष काल (मध्यकाल-9वीं से 16वीं शताब्दी) में सिद्ध सम्प्रदाय का जन्म हुआ। सिद्ध चिकित्सा पद्धति के सभी ग्रन्थ 'तमिल भाषा' में लिखे हुये हैं। शैव सम्प्रदाय के सिद्धों ने कई रसशास्त्रीय औषधियाँ बनाकर इस प्रणाली को समृद्ध किया है। सिद्ध निम्न तीन तरह के माने गये हैं—

(अ) दैवी सम्पत् सिद्ध—ये सांसारिक बन्धनों से मुक्त होकर मोक्षमार्ग में लगे रहते हैं।

(ब) आसुरी सम्पत् सिद्ध—ये मांस, मदिरा का सेवन कर श्मशान में मुर्दे पर बैठकर मन्त्र-तन्त्र-जाप से सिद्धियाँ प्राप्त करते हैं।

(स) औषध सम्पत् सिद्ध—औषध की सहायता से जो सिद्धी मिलती हैं जैसे- पारद आदि।

उपर्युक्त में से आसुरी सिद्ध पारद से स्वर्ण बनाने में (निम्न धातु को उच्च धातु जैसे-स्वर्ण, रजत में बदलने), गन्धक से तैल निकालने में, पारद की गुटिका बनाकर

आकाश में उड़ने आदि चमत्कार व आश्चर्य जनक कार्यों में लगे रहें। अतः ये पुरुष 'सिद्ध' कहलाने लगे। आगे चलकर यह रसवैद्य, सिद्धवैद्य कहलाने लगे व इनके द्वारा प्रचारित चिकित्सा पद्धति भी 'सिद्ध चिकित्सा' कहलाने लगी। दक्षिण भारतीय राज्य तमिलनाडु में इस पद्धति का प्रचार-प्रसार अधिक है।

सिद्ध

रसशास्त्र में 84 सिद्धों का वर्णन मिलता है। नागार्जुन को रसतन्त्र का प्रवर्तक आचार्य माना गया है। अन्य सिद्धों में गोरखनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, व्याडि, चर्पटीय, कणाद आदि प्रसिद्ध हैं। इस प्रणाली का काल 6वीं शताब्दी से 16वीं शताब्दी (मध्यकाल) माना जाता है।

सिद्धों का प्रयोजन

सिद्धों के निम्न दो प्रयोजन वर्णित हैं[1]—

(अ) देहसिद्धि—पारद के द्वारा शरीर को स्थिर करके जरा, रोग, मृत्यु दूर कर अजर-अमर बनाना ही देहसिद्धि है।

(ब) लौह सिद्धि—निकृष्ट धातुओं से स्वर्ण आदि उत्कृष्ट धातु बनाना ही लौह सिद्धि है। इसे ही धातुवाद कहा जाता है। कक्षपुट ग्रन्थ में इसे 'कीमियागिरी' कहा है। कीमिया शब्द रसायन (Chemistry) से बना है।

रस चिकित्सा की विशेषता—अल्पमात्रा में प्रयुक्त होने से (Low Dose), असंचिकर न होने से (Palatable) एवं शीघ्र लाभकारी (Quick Action) होने से चमत्कारी रस चिकित्सा शीघ्र ही प्रसिद्ध हुयी[2]।

रस द्रव्य एवं उनकी भस्में न दोष को, न दूष्य को, न देश को, न काल को और न ही रोगी की अपेक्षा करती हैं। अर्थात् रस द्रव्यों का प्रयोग उपर्युक्त सभी परीक्ष्य भावों की परीक्षा किये बिना ही किया जा सकता है और अत्यधिक सफलता भी मिलती है[3]।

सिद्ध चिकित्सा अवतरण

सिद्ध चिकित्सा का प्रमुख आधार रस चिकित्सा है। इसको आदि सम्पत् महादेव शिव से प्रचलित है। शिव ने पार्वती को, पार्वती ने नन्दीश को, नन्दीश ने धन्वन्तरि को, धन्वन्तरि ने अगस्त्य ऋषि को पश्चात् पुलस्त्य, वैद्यराज को ज्ञात किया। वैद्यराज ने 22

---

1. न च रसादृते धातुरूपपरीक्षेति भवतः देहसिद्ध्या हतं दुष्टैरेव यतः प्रवेक्षणकम्। (रसेन्द्र दर्पण)

2. अल्पमात्रोपयोगित्वात् अरुचेरभावतः। द्विगुणोऽपि प्रयोक्तव्यो रोगेष्वेतेषु सर्वदा। (रसेन्द्र सार संग्रह 1.4)

3. न रोगान् न दोषान् न दूष्यान् परीक्षेत्। न देशान् न कालान् अपेक्षेत् कदाचित्। (रसार्णव विधि 4.29)

Scanned with CamScanner

सिद्धों को 'सिद्धवैद्यक' का उपदेश दिया। आगे चलकर यह सिद्धयोग [illegible]
धानों में और गया।

पारद को शिवबीर्य व गन्धक को पार्वतीरज: माना गया है। अत: [illegible]
को एकाग्र कर सिद्ध करने के रूप में 'सिद्धचिकित्सा' परिलक्षित हुई।

सिद्ध चिकित्सा पद्धति के आधारभूत सिद्धान्त

1. शिव व शक्ति को सृष्टिकारक माना गया है एवं शिव को द्रव्य (Matter) व शक्ति को ऊर्जा (Energy) मानते हैं।
2. पञ्चमहाभूत सिद्धान्त की अवधारणा है। संसार में पाये जाने वाले [illegible] कठोर (Solid), द्रव (Fluid), वायव्य (Gas), अग्नि (Radiation) ईश्वर (God) प्रत्येक पदार्थ में विद्यमान हैं। मनुष्य के शरीर को भी पञ्चभौतिक माना है।
3. सिद्ध प्रणाली में भी आयुर्वेद की तरह त्रिदोष-सप्तधातु-त्रिमल माने गये हैं, सभी में रस को सप्तम धातु माना है।
4. दोषों की अविकृतावस्था में स्वास्थ्य एवं दोषों की विकृतावस्था में रोग माने गये हैं।
5. सिद्ध चिकित्सा का मुख्य उद्देश्य "मुक्त होना" है। अत: शरीर को स्वस्थ-सुदृढ़ बनाकर योग की प्रक्रिया से मुक्ति पथ पर ले जाना मुख्य लक्ष्य है।
6. सिद्ध चिकित्सा में धातु व खनिजों के औषध योगों का विशेष प्रयोग है।
7. आयुर्वेद के समान ही रस-गुण-वीर्य-विपाक-प्रभाव का वर्णन है।
8. औषध द्रव्यों में लवण (Appu-Lorunam), पाषाण (Pashanam), लौह (Losham), रस (Rasam), उपरस और गन्धक (Gandhakam) का विशेष प्रयोग होता है।
9. पारद व गन्धक के मिश्रण (कज्जली) को कट्टी (Katti) या काजल (Kajal) कहते हैं। आयुर्वेद व सिद्ध दोनों पद्धतियों में पारद-गन्धक के योगों का प्रयोग प्रचुरता से वर्णित है।
10. सिद्ध पद्धति में रत्न-उपरत्नों में प्रवाल, मुक्ता, वैदूर्य, वज्र, पुष्पराग, माणिक्य, पन्ना, नीलम, गोमेद, रत्नाश्मा, वैक्रान्त, स्फटिक और हार्तमणि का वर्णन मिलता है।
11. द्रव्य गुण के अन्तर्गत 85 प्रकार के जान्तव द्रव्यों का वर्णन है जिसमें गाय, हरिण, आदि से प्राप्त द्रव्य लिये जाते हैं। आयुर्वेद में मधु, क्षीर, घृत, तिल

वसा, मज्जा आदि को जाङ्गम द्रव्य बतलाया गया है।

12. क्वाथ, चूर्ण, भस्म, घृत-तैल, लेप आदि कल्पनायें वर्णित हैं।
13. निदान की दृष्टि से अष्टविध परीक्षा में नाड़ी, मूत्र, मल, जिह्वा, शब्द, स्पर्श, दृक्, आकृति का वर्णन है।

आयुर्वेद से भिन्नतायें

1. सिद्ध चिकित्सा में व्यक्तिगत स्वास्थ्य रक्षा के लिये औषध प्रयोग से अधिक शोधन पर बल दिया गया है।
2. सिद्ध चिकित्सा में मनुष्य की आयु को निम्न तीन भागों में बाँटा गया है—

i) बाल्यावस्था—यह पूर्ण आयु का 1/3 भाग है। इसमें वायु की अधिकता रहती है।

ii) युवावस्था—यह पूर्ण आयु का 1/3 भाग होता है। इसमें पित्त दोष की अधिकता होती है।

iii) वृद्धावस्था—यह भी पूर्ण आयु का 1/3 भाग है। इसमें कफ की वृद्धि होती है।

इसके विपरीत आयुर्वेद में बाल्यावस्था में कफ एवं वृद्धावस्था में वात दोष की प्रधानता मानी गयी है। सिद्ध वालों का मत है कि बाल्यावस्था में शरीर संवर्धन के लिये अंग-प्रत्यङ्गों को अधिक कार्य करना पड़ता है और यह कार्य वायु द्वारा ही संचालित होता है अत: बाल्यावस्था में वायु की प्रधानता होती है। वृद्धावस्था में शरीर की क्रियायें मन्द पड़ जाती हैं, अत: कफ वृद्धि परिलक्षित है।

3. प्राणायाम का विशेष महत्व बताया गया है एवं यथा विधि प्राणायाम करने से बुढ़ापे में भी यौवन दिखता है।
4. क्षीण शरीर का पोषण और पुन: स्वास्थ्य प्राप्ति का विस्तृत वर्णन है।
5. अल्पाहार को दीर्घ जीवन का सोपान बताया गया है।
6. आयुर्वेद में प्रमुख रूप से औद्भिद् द्रव्यों (वनस्पति, वानस्पत्य, ओषद्, औषध) का चिकित्सा में प्रयोग किया जाता है। खनिज, धातु, भस्म, रस, रसायन एवं जान्तव द्रव्यों का भी प्रयोग है। जबकि सिद्ध चिकित्सा पद्धति में वनस्पतियों को अपेक्षा खनिज, धातु, रस औषधि का प्रमुख रूप से प्रयोग होता है। अत: स्पष्ट है कि सिद्ध चिकित्सा धातु-खनिज-रस प्रधान चिकित्सा पद्धति है।
7. भस्म निर्माण प्रक्रिया में स्वरस की भावना व पुट (अग्नि योग) का प्रयोग

Scanned with CamScanner

नहीं होता है। सिद्ध व रस वैद्य नामक ये क्षार से तैयार किये गये द्रव का प्रयोग करके भस्म बनाते हैं। यह शक्तिशाली द्रव भस्मों का निर्माण शीघ्र कर देता है। इस द्रव को जयनियर (Juya Neor) कहते हैं।

8. कायाकल्प-रसायन गुण वाली औषधियों के प्रयोग से शरीर को नवीनता व दीर्घजीवी बनाया जाता है। जिसे कायाकल्प (Rejuvenation) कहा जाता है। ये औषधियाँ निम्न है-आमलकी, गुडुची, स्वर्ण भस्म, पारद से बनी आदि।

9. शल्य चिकित्सा के अन्तर्गत केवल विद्रधि के भेदन, शोधन एवं रोपण कर्म का उल्लेख है। मध्य काल में दक्षिण भारत में जैन धर्म का प्रचार-प्रसार होने के कारण अहिंसा को ही परम धर्म माना जाता था। इसलिये मध्यकाल में शल्य विद्या का ह्रास हुआ। कुछ परम्परागत परिवार मुख्य रूप से अस्थि जोड़ने-बिठाने की चिकित्सा करते हैं। कुछ लोग गुदभ्रंश व अर्श की भी चिकित्सा करते हैं।

10. सिद्ध चिकित्सा प्रणाली में बाल रोग (Paediatrics) को बालवाहागम, शलाक्य (Ophthalmology) को नयन विद्या, रसायन (Rejuvenation) को कायाकल्प, अगद तन्त्र (Toxicology) को नंजमूद कहा जाता है।

11. सोम सिद्धान्त का भी वर्णन मिलता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सिद्ध चिकित्सा पद्धति रस-भस्म-खनिज प्रधान चिकित्सा पद्धति है। इस प्रणाली का विकास 18 सिद्धों ने किया है। 'अगस्त्यर' इस प्रणाली का दूसरा नाम है। यह प्रणाली रोग की अपेक्षा रोगी, प्रकृति, देश, मौसम, उम्र, लिङ्ग, जाति, मानस स्थिति, निवास स्थान, पथ्य, संहनन आदि पर भी ध्यान देती है। रोग की अपेक्षा रोगी पर अधिक ध्यान दिया जाता है।

5. होमियोपैथी चिकित्सा पद्धति (Homeopathy)

होमियोपैथी शब्द Homeo एवं Pathy इन दो शब्दों से बना है। इसका अर्थ होता है- समान से समान का शमन। सत्रहवीं शताब्दी में डाक्टर क्रिश्चियन फ्रेडरिक सैम्युअल हेनीमैन नामक जर्मन चिकित्सक ने इस चिकित्सा पद्धति का आविष्कार किया। इस पद्धति का सामान्य सिद्धान्त यह है कि शरीर में जिस तत्व की अधिकता से कोई रोग होता है, उसी तत्व की कम मात्रा रोगी को देने से रोग शमन होता है। यही समान से समान की चिकित्सा है। भारत में सन् 1889 में लाहौर के राजा रणजीत सिंह के पास डाक्टर हानिन वर्गर आये थे तभी से यह पद्धति हमारे देश में प्रचलित हुयी।

समः समं शमयति (Semilia, Similibus, Curentur)

यह होमियोपैथी चिकित्सा पद्धति का सर्वमान्य सामान्य सिद्धान्त है। आयुर्वेद में

इसे 'विषस्य विषमौषधम्' कहा गया है अर्थात् विष से विष की चिकित्सा करना।

आचार्य चक्रपाणि ने उपशय (साध्य) के 18 भेद वर्णित किये है। उनमें से हेतुविपरीतार्थकारी उपशय का प्रकार इसी सिद्धान्त से मेल खाता है। इस उपशय में औषध रोगजनक कारण या हेतु (Cause) के समान प्रतीत होती है, किन्तु वह वास्तव में रोगजनक न होकर रोगशामक होती है। यह सिद्धान्त विचित्र प्रतीत होता है किन्तु यह निश्चित है कि उत्पन्न हुआ धातुवैषम्य स्वयमेव नष्ट हो जायेगा, क्योंकि धातुवैषम्य स्वरूप दोष को बाहर निकालने के निमित्त ही शारीरिक प्रतिक्रियास्वरूप रोगों की उत्पत्ति होती है। धातुवैषम्य के स्वयं नष्ट होने में अधिक समय की अपेक्षा के साथ-साथ उपद्रव होने का भी भय रहता है। अतः व्याधि को शीघ्र समाप्त करने के उद्देश्य से व्याधि के उद्भवन के लिये निदान या हेतु के समान द्रव्यों का प्रयोग कराया जाता है। यही मूल हेतु विपरीतार्थकारी या होमियोपैथी चिकित्सा का मूल है। इस पद्धति में आरम्भ में रोग की वृद्धि होकर बहुत दोषों या कारणों का निहरण हो जाने से रोग भी शान्त हो जाता है। इसके विपरीत ही 'ऐलोपैथी' चिकित्सा पद्धति कार्य करती है। होमियोपैथी चिकित्सा में विभिन्न खनिजीय व वानस्पतिक औषधियों के सत्व (Mother Tincture or Extracts) को मद्य (Alcohol) का आधार बनाकर द्रव रूप में शर्करा की छोटी-छोटी गोल गोलियों (Pills) में मिलाकर दिया जाता है। अतः औषध की मात्रा का ध्यान रखना बहुत आवश्यक है, साथ ही पथ्य पालन (प्याज, लशुन, सुगन्धित द्रव्य निषेध) भी कराया जाता है। आजकल इस चिकित्सा पद्धति का प्रचार-प्रसार अधिक हो रहा है। भारत में पश्चिमी बंगाल प्रदेश में इसका प्रचलन अधिक है।

6. आधुनिक चिकित्सा पद्धति (Allopathy)

इसे व्याधि विपरीत या लक्षण प्रत्यनीक चिकित्सा कहते हैं। इस चिकित्सा पद्धति के अनुसार धातु वैषम्य की परम्परा अनवरत चलते रहने पर भी उसके विपरीत कारणों का आधान कर दिया जाता है। यद्यपि इस पद्धति से धातु वैषम्य को परिवर्तित करना दुष्कर है परन्तु धातुवैषम्य की गति को कम किया जा सकता है। अन्तर्हेतुता इसमें भी व्यापेक्षित अवश्य होता है। आधुनिक चिकित्सा पद्धति लाक्षणिक शमन (Symptomatic) चिकित्सा है। जब सम्मूर्छना विकृति विषम समवेत (कारण के अनुरूप) प्रकार की होती है तो रोग के अनुरूप शोधन या शमन किया जाता है। इस सिद्धान्त के अनुरूप अतिसार रोग में अतिसरण (Diarrhoea) लक्षण की निवृत्ति के लिये उसके विपरीत पतला या कुटज सदृश स्तम्भक (Antidiarrhoeal) औषध का प्रयोग किया जाता है। इसी तरह कृमि रोग (Worm Infestation) में विडंग, पाण्डु में लौह या मण्डूर का उपयोग किया जाता है। आधुनिक चिकित्सा पद्धति व्याधि विपरीत उपशय है। इसका प्रयोग व्याधि विपरीत या लाक्षणिक चिकित्सा के रूप में किया जाता है।

Scanned with CamScanner

आधुनिक चिकित्सा पद्धति के लाभ

1. रोग की तीव्रावस्था (Acute Conditions) में हितकारी है।
2. रोग व रोगी के दोष-दूष्य-प्रकृति, देश-काल आदि को [illegible] जाती है।
3. उन्नत शस्त्र चिकित्सा के कारण शल्यसाध्य रोग ठीक होते हैं।
4. कीटाणुवाद (Germ Theory) के अनुसार विरोधी (Anti) [illegible] जीवाणुरोधी (Antibiotic), वायरस रोधी (Antiviral), कृमिघ्न (Anthelminthics) आदि लाभदायक हैं।
5. औषध देने के कई मार्ग (Various Routes of Drug Administration) उपयोग किये जाते हैं।
6. मूर्च्छावस्था में सद्यः संज्ञास्थापक उपचार किया जाता है।
7. पथ्य-अपथ्य (Dietetic Regimen) का ज्यादा ध्यान नहीं रखना पड़ता है।

आधुनिक चिकित्सा पद्धति से हानियाँ

1. आतुर के प्रत्यात्म लक्षण (Cardinal Signs/Symptoms) एवं उपलक्षण (Associated Signs/Symptoms) के विरुद्ध अलग-अलग औषध देनी पड़ती है जैसे-Analgesics, Antipyretic, Anti-inflammatory व Steroid औषधों को शोथ की अवस्था में एक साथ देते हैं।
2. शरीर का संगठन पिण्ड व ब्रह्माण्ड नियम से पाञ्चभौतिक है। अतः चिकित्सार्थ अनेक असात्म्य, बाहरी संश्लेषित रसायन (पाञ्चभौतिक विरुद्ध) पदार्थ लेने पड़ते हैं जिनसे अनुर्जता (Drug Hypersensitivity) उत्पन्न हो सकती है।
3. एक बार प्रयुक्त औषध दोबारा वही रोग होने पर पुनः प्रयुक्त करने पर कारगर व लाभकर नहीं होती है (Drug Resistance)।
4. औषध को लगातार लेते रहने पर औषध निर्भरता (Drug dependency) उत्पन्न हो जाती है जैसे-Sedative, Antihypertensive आदि।
5. कई सारे रोग उपद्रव स्वरूप (As a complication, side effects or adverse effects) उत्पन्न हो जाते हैं।
6. एक बार एक निश्चित मात्रा में दी गयी औषध कुछ दिनों के पश्चात उसी मात्रा में कारगर नहीं होती है। (Dose Dependency)

7. मात्रा अधिक लेने पर औषध विष (As a Drug Poisoning) का कार्य करती है। इसे ही Lethal dose या Drug Over dose कहते हैं। जैसे Paracetamol Poisoning, Codeine Poisoning आदि।

7. रेकी चिकित्सा (Reiki Therapy)

रेकी शब्द दो अक्षरों 'रे' और 'की' से मिलकर बना है। इसमें 'रे' का अर्थ बुद्धि (Wisdom) का उच्च स्वरूप है और 'की' जीवन शक्ति (Vital Force) को बताता है। ये दोनों मिलकर ब्रह्माण्डीय ऊर्जा कहलाते हैं। ऊर्जा से उपचार की यह विधि इस विश्वास पर आधारित है कि विचारों में ऐसी शक्ति है जिससे ऊर्जा को नियन्त्रित किया जा सकता है। रेकी चीनी बौद्ध उपचार पद्धति 'किगोंग' का ही एक रूप है जिसे बीसवीं सदी के प्रारंभ में जापान के डॉ मिकाओ उसुई ने जीवित किया। यह पद्धति बिना किसी दवा के (Drugless Therapy) स्पर्श व संकल्प शक्ति पर आधारित है। इस पद्धति में चिकित्सक आतुर के निकट जाकर या स्पर्श से स्पंदन पैदा करता है। यह बहुआयामी ऊर्जा उपचार विधि है जो रोगी के शरीर, मस्तिष्क गत रोगों को जड़ से दूर करती है। रेकी चिकित्सा पद्धति के निम्न पाँच मुख्य सिद्धान्त हैं—

1. आज मैं दुखी नहीं होऊंगा।
2. आज मैं क्रोध नहीं करूंगा।
3. दूसरों के साथ उपकार करूंगा।
4. अपना काम तन्मयता से करूंगा।
5. दूसरों को धन्यवाद दूंगा।

प्रतिदिन प्रातःकाल एवं सायंकाल उपर्युक्त सिद्धान्तों का जाप कर स्मरण रखना चाहिये। शरीर के प्रत्येक अंग में रेकी द्वारा उपचार किया जाता है। रेकी के अन्तर्गत चिकित्सक ऊर्जाप्रवाह का माध्यम बन जाता है। रेकी के मूलभूत उपचार की आदर्श व्यवस्था में हाथों की विशेष स्थितियाँ होती हैं। इन स्थितियों में प्रमुख आन्तरिक भाग और रस स्रावी ग्रन्थियाँ अनिवार्य रूप से आती हैं, क्योंकि इनके द्वारा शरीर का रसायनिक सन्तुलन बना रहता है। विगत कुछ वर्षों में शरीर के सात सूक्ष्म चक्रों को प्रभावित करने वाली हस्तमुद्रायें भी जुड़ गई हैं। ये सूक्ष्म चक्र शरीर के उन्हीं स्थानों में होते हैं, जहाँ सभी रसग्रन्थियाँ होती हैं।

यह पद्धति रोग मुक्ति का आश्वासन देकर रोग के मूल कारण को दूर करने की चेष्टा करती है एवं उन दमित भावनाओं और ऊर्जा को पहचान करा देती है जिनके कारण रोगोत्पत्ति होती है। रेकी का विशेष आकर्षण है इसकी सरलता। इसे किसी भी उम्र का रोगी सम्पादित कर सकता है। इसमें 10 से 20 मिनट का समय लगता है। अतः यह स्पष्ट है कि रेकी चिकित्सा में अष्टाङ्ग योग के अंतर्गत आसन, ध्यान, योग आदि से मिलते-

Scanned with CamScanner

जुड़ते कार्य ही सम्पादित होते हैं।

8. चुम्बकीय चिकित्सा पद्धति (Magnetic Therapy)

चुम्बकीय चिकित्सा या मैगनेट थैरेपी आज के समय में बहुत ही प्रचलित [illegible] पद्धति है। इसमें चुम्बकीय प्रभाव वाले चौरस लोह चुम्बक के टुकड़ों द्वारा [illegible] जाता है। चुम्बक में उत्पन्न तरंगों (Electromagnetic waves) के माध्यम से [illegible] संकेतों को मुख्य तंत्रिका तंत्र (CNS) तक पहुँचाने में व्यवधान उत्पन्न किया [illegible] कुछ विशेषज्ञों का मानना है कि चुम्बक दर्द या शोथ वाले स्थान पर रक्त संचार को बढ़ाकर उपचार करती है। चुम्बकीय यंत्रों के उपयोग की अवधि रोग पर निर्भर करती है। चुम्बकीय गद्दों पर आठ घंटे से ज्यादा समय तक सोने की सलाह नहीं दी जाती है। पेसमेकर युक्त रोगी, डिफ्रीब्रिलेटर का प्रयोग करने वाले, गर्भवती महिलाओं व [illegible] अपूर्णता युक्त व्यक्तियों को इसका प्रयोग नहीं करना चाहिए। इस चिकित्सा पद्धति का उपयोग योग्य व अनुभवी विशेषज्ञ की देखरेख में करना चाहिए।

9. रंग चिकित्सा (Colour Therapy)

इस रंग चिकित्सा का आधार है- सूर्य की ऊर्जा, सूर्य की किरणें (Rays) के विभिन्न रंग और रोशनी। रंगों में उष्णता, शीतलता एवं भार होता है। रंगों की शीतलता एवं उष्णता को मापा जा सकता है उदाहरणार्थ एक काँच के पारदर्शी ग्लास में जल भरकर इसमें तापमापी यंत्र (Thermometer) रख दें। फिर उस पर किरणें डालें, लाल किरणें उष्णता एवं नीली किरणें शीतलता प्रदर्शित करेंगी। जैन दर्शन में मूल रंग पाँच माने गये हैं-

1. नीला
2. लाल
3. काला
4. पीला
5. श्वेत

अन्य रंग इन पाँचों रंगों के मिश्रण रूप होते हैं। सूर्य किरणों के सात रंगों (इंद्रधनुष) में तीन रंग लाल, पीला एवं नीला उपर्युक्त मूल रंगों से हैं। शेष (Voilet, indigo, green, orange) चार रंग इनके मिश्रण हैं। सूर्य किरणों के ये सात रंग सात प्रकार की औषधि के रूप में कार्य करते हैं, यानि समस्त व्याधियों का निराकरण इन्हीं से होता है। रंग चिकित्सक को प्रत्येक रोग के उपचार के लिए एक या दो रंगों को चुनना पड़ता है। रंग चिकित्सा की औषधियों का निर्माण बहुत ही सरल व आसान है। सातों रंग की औषधियाँ स्वतः (Automatically) तैय्यार की जा सकती हैं। रंगीन बोतलों में साधारण पीने का जल, मुट्ठी दानेदार चीनी तथा तैल डालकर धूप में रख देने से औषध तैयार हो जाती है।

औषध के आधार पर चलने वाली चिकित्सा पद्धतियों में रंग-चिकित्सा सर्वाधिक स्वाभाविक है। इसके मुख्यतः निम्न दो कारण हैं-

1. प्राणी का सम्पूर्ण शरीर रंगीन है एवं बाहर से दिखने वाले सभी अंगों का रंग अलग-अलग है।
2. शरीर के अंदर भी समस्त अवयव अलग-अलग रंग लिए हुए हैं।

अर्थात् मनुष्य का समस्त शरीर रंगों का पिण्ड है। जब कोई भी अवयव व्याधि से ग्रसित होता है तो उसके रासायनिक द्रव्यों के साथ-साथ रंगों में भी असंतुलन हो जाता है। रंग चिकित्सा (Colour therapy) ऐसे रासायनिक द्रव्यों एवं रंगों को संतुलित कर देती है, फलस्वरूप रोग निवारण हो जाता है। शरीर में जहाँ भी विजातीय द्रव्य (Antigens) एकत्रित होकर रोग उत्पन्न करते हैं, रंग चिकित्सा उसे दबाती नहीं अपितु शरीर के बाहर निकाल कर शोधन प्रभाव उत्पन्न करती है।

रंग चिकित्सा करते समय अपनायी जाने वाली सावधानियाँ-

1. आतुर की प्रकृति, स्वभाव एवं ऋतु का ध्यान रखना चाहिए।
2. औषधीय रंग निश्चित करते समय प्रकृति एवं काल का ध्यान रखना चाहिए।
3. अनेक व्याधियाँ एक साथ होने पर गंभीर व्याधि की चिकित्सा पहले करें।
4. असाध्य रोग की स्थिति में चिकित्सा न करें।

10. संगीत चिकित्सा (Music Therapy)

संगीत चिकित्सा शब्द शक्ति पर आधारित है। संगीत में सात स्वर (सा रे ग म प ध नि) होते हैं। इन सात स्वरों की शब्द शक्ति (Sound energy) अलग-अलग होती है। योगी शरीर के सूक्ष्म ढांचे को सितार जैसा मानते हैं। मेरुदण्ड में इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना के तार लगे हैं। जब वाद्य यंत्र से संगीत ध्वनियाँ निकलती हैं एवं शरीर की ध्वनियों से टकराती हैं तो इस संघर्षण व सम्मिलन से मनुष्य का अंतर्मन, संगीतमय हो जाता है। इन संगीत तरंगों में असाधारण शक्ति होती है। पश्चिमी देशों में संगीत चिकित्सा का प्रयोग प्रथम व द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान घायल सैनिकों के इलाज के लिए किया गया था। युद्ध के दौरान शारीरिक, मानसिक एवं भावनात्मक रूप से टूट चुके सैनिकों को संगीत सुनाकर इसे वैकल्पिक चिकित्सा बनाया गया। इससे सैनिकों पर अनुकूल प्रभाव पड़ा। शोधों से ज्ञात हुआ है कि संगीत हमारे शरीर के अंदर की भावनाओं (Emotions) को जाग्रत करता है, ये भावनायें मस्तिष्क में कई प्रकार के रसायन बनाते हैं जो Enderphins कहलाते हैं। ये रसायन शूलहर (Analgesic), तनावहर (Anxiolytic) एवं मनो उत्प्रेरक (Mood elevators) का कार्य करते हैं। शरीर की रोग प्रतिरोधक क्षमता (Immunity) बढ़ जाती है। आजकल संगीत चिकित्सा के अंतर्गत संगीत सुनने से लेकर, धुन बनाने, गीत लेखन, धुनों पर चर्चा करना, संगीत रचना जैसी बहुत सी चीजें शामिल हो गयी हैं। संगीत चिकित्सक सर्वप्रथम वाद्यगीत के जरिये अनुभव से उसकी रुचि, पसंद एवं कमजोरियों को समझता है तब उसी के आधार पर उसके इलाज का

Scanned with CamScanner